वर्ष–1, अंक–2 जुलाई–दिसंबर, 2021

पूर्वोत्तर प्रभा

(सहकर्मी समीक्षित अर्द्धवार्षिक शोध पत्रिका)

हिंदी विभाग
सिक्किम विश्वविद्यालय, गंगटोक

पूर्वोत्तर प्रभा

(सहकर्मी समीक्षित अर्द्धवार्षिक शोध पत्रिका)

जुलाई–दिसंबर, 2021

संपादकीय संपर्क : *हिंदी विभाग, सिक्किम विश्वविद्यालय, गंगटोक, सिक्किम 737 101 ईमेल : purvottarprabha04@gmail.com*

संरक्षक

प्रो. अविनाश खरे
कुलपति, सिक्किम विश्वविद्यालय, गंगटोक

प्रधान संपादक

डॉ. हरदीप सिंह
विभागाध्यक्ष, हिंदी विभाग
सिक्किम विश्वविद्यालय, गंगटोक
मो-9417717910, ईमेल- hsingh@cus.ac.in

संपादक

डॉ. दिनेश साहू
सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग
सिक्किम विश्वविद्यालय, गंगटोक
मो-7864878427, ईमेल-dshahu@cus.ac.in

प्रबंध-संपादक

डॉ. श्रीराम
पुस्तकालयाध्यक्ष, सिक्किम विश्वविद्यालय, गंगटोक
मो-8348395784, ईमेल-sram@cus.ac.in

संपादक मंडल

डॉ. चुकी भूटिया
सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग
सिक्किम विश्वविद्यालय, गंगटोक
मो-9609875813, ईमेल-cbhutia01@cus.ac.in

डॉ. प्रदीप त्रिपाठी
सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग
सिक्किम विश्वविद्यालय, गंगटोक
मो-6294913900, ईमेल-ptripathi@cus.ac.in

परामर्श मंडल

प्रो. चमन लाल गुप्त
निदेशक
भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला
मो- 9418141898, ईमेल- guptcl@gmail.com

प्रो. आर. एस. सर्राजु
प्रति कुलपति
हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद
मो-91775 42280, ईमेल-rssarraju@gmail.com

प्रो. सुधा जितेन्द्र
निदेशक, यूजीसी,एचआरडीसी
गुरुनानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर
मो- 95148 51010, ईमेल-drsudhagndu@yahoo.co.in

प्रो. कबिता लामा
अधिष्ठाता, भाषा-साहित्य संकाय
सिक्किम विश्वविद्यालय, गंगटोक
मो-9832066182, ईमेल- klama@cus.ac.in

प्रो. मुक्तेश्वर नाथ तिवारी
संकायाध्यक्ष, भाषा-भवन
विभागाध्यक्ष, हिंदी विभाग
विश्व भारती, शांतिनिकेतन
मो- 9474765831, ईमेल-mnathtiwary@gmail.com

प्रो. मोहन
प्रोफेसर, हिंदी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
मो-9871115500, ईमेल- mohanhindi.du@gmail.com

प्रो. दिनेश कुमार चौबे
प्रोफेसर, हिंदी विभाग
पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग
मो-9436312134, ईमेल-dkcnehu76@gmail.com

प्रो. दिलीप कुमार मेधी
प्रोफेसर, हिंदी विभाग
गौहाटी विश्वविद्यालय, गुवाहाटी
मो-9864035385, ईमेल- dkmedhigu@gmail.com

प्रो. अवधेश कुमार
अधिष्ठाता, साहित्य विद्यापीठ
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
मो-9926394707, ईमेल-avadesh006@gmail.com

प्रो. देवेन्द्र कुमार गुप्ता
प्रोफ़ेसर, हिंदी विभाग
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़
मो-9457279695, ईमेल-dk2371@yahoo.co.in

प्रो. सुशील कुमार शर्मा
विभागाध्यक्ष, हिंदी विभाग
मिजोरम विश्वविद्यालय, आइजोल
मो-9436105977, ईमेल- sksharma19672@gmail.com

प्रो. सुभाष चंद्र
विभागाध्यक्ष, हिंदी विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र
मो-9416482156, ईमेल- subhashkuk@gmail.com

डॉ. एस.पी. महेंद्र
विभागाध्यक्ष, हिंदी विभाग
राजस्थान केंद्रीय विश्वविद्यालय, अजमेर
मो-9887011119, ईमेल-spmahendra@curaj.ac.in

'पूर्वोत्तर प्रभा' में प्रकाशित सभी लेखों पर संपादक की सहमति हो, यह आवश्यक नहीं है। प्रकाशित सामग्री की सत्यता व मौलिकता हेतु लेखक स्वयं जिम्मेदार है। पत्रिका में प्रकाशित किसी भी लेख पर आपत्ति होने पर उसके विरुद्ध कार्यवाही केवल गंगटोक, सिक्किम न्यायालय के अधीन होगी।

'पूर्वोत्तर प्रभा' का अंक देखने के लिए लॉगिन करें -
http://14.139.206.50:8080/jspui/handle/1/7515

पूर्वोत्तर प्रभा
जुलाई–दिसंबर, 2021

सहकर्मी समीक्षित अर्द्धवार्षिक शोध पत्रिका

अनुक्रम

1.	संपादक की कलम से...	डॉ. दिनेश साहू	.05
2.	जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविताओं में स्त्री चेतना	परमजीत कुमार पंडित	.06
3.	'बूढ़ी काकी' के सौ साल	बी आकाश राव	.11
4.	काँगड़ा जनपद के संस्कार-गीतों की संवेदनात्मक मनोभूमि	डॉ. चंद्रकांत सिंह	.16
5.	रहीम दोहावली में नैतिक मूल्य	डॉ. अनिल कुमार	.20
6.	बाज़ारवादी विमर्श के अनदेखे, अनजाने, अनकहे गवाक्ष 'मुन्नी मोबाइल'	डॉ. किरण ग्रोवर	.27
7.	स्त्री जनित समस्याएँ ममता कालिया कृत 'लड़कियाँ' उपन्यास के विशेष संदर्भ में	डॉ. मनमीत कौर	.32
8.	भीष्म साहनी की कहानियों में साम्प्रदायिक चेतना	डॉ. राम प्रवेश रजक	.36
9.	चयनधर्मिता का प्रश्न और 'आषाढ़ का एक दिन'	डॉ. लवकुश कुमार	.39
10.	वर्चस्व की संस्कृति के बीच कृषक जीवन के संकट	डॉ. सरफराज अहमद	.44
11.	बोड़ो की समाज-संस्कृति और उसमें हुए परिवर्तन	सुर्जलेखा ब्रह्म	.50
12.	ऋतु सम्बन्धी लोक-गीतों में स्त्री	डॉ. मुन्नी चौधरी	.53
13.	डिजिटल अर्थव्यवस्था (भारत के विशेष संदर्भ में)	डॉ. राजेश मौर्य, प्रो. जे. पी. मित्तल	.60
14.	प्रेमचंदोत्तर हिन्दी कहानी में साम्प्रदायिक चेतना	सुचिस्मिता दास	.67
15.	राम कथा में स्त्री, विशेष सन्दर्भ: नरेन्द्र कोहली	घनश्याम राम	.70
16.	झारखंड की जनजातीय लोककविता के प्रतिमान	प्रो. दिनेश्वर प्रसाद	.73
17.	राजभाषा हिन्दी की दशा और दिशा	डॉ. सुनील कुमार पाण्डेय डॉ. चन्दन कुमार	.77
18.	उत्तर-पूर्व भारत का भक्ति आन्दोलन	वैभव सिंह	.81
19.	संस्कृत व्याकरण शास्त्र में पाणिनीय अष्टाध्यायी का महत्व	पंकज शर्मा	.85
20.	आदिवासी केन्द्रित समकालीन हिन्दी उपन्यासों में अभिव्यक्त आर्थिक संघर्ष	अनुज कुमार	.88
21.	आत्मकथाओं में स्त्री दलन और मुक्ति	डॉ. उमा मीणा	.92
22.	भूमंडलीकरण के दौर में सांस्कृतिक संक्रमण : 'काशी का अस्सी'	मनोज कुमार	.97
23.	अहिंसाः एक शाश्वत-कालजयी भावना गांधी दर्शन के संदर्भ में	डॉ अनुपाल भारद्वाज	.100
24.	गुरदयाल सिंह और फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यासों में लोककथाएँ एवं लोक रीति-रिवाज	सुनीता देवी	.104
25.	तुलसीदास : कवि–कर्म की उदात्त विजय गाथा	भैरव सिंह	.109
26.	राष्ट्रीय एकता का सवाल और अब्दुल बिस्मिल्लाह का लेखन	डॉ. नुसरत ज़बीं सिद्दीकी	.121

6 माइल, समादुर, तादोंग–737102
गंगटोक, सिक्किम, भारत
फोन- 03592-251067, 251073
वेबसाइट : www.cus.ac.in

6 Mile, Samadur, Tadong-737102
Gangtok, Sikkim, India
Ph. 03592-251067, 251073
Website: www.cus.ac.in

सिक्किम विश्वविद्यालय
SIKKIM UNIVERSITY

(भारत के संसद के अधिनियम द्वारा वर्ष 2007 में स्थापित और नैक (एनएएसी) द्वारा वर्ष 20015 में प्रत्यायित केंद्रीय विश्वविद्यालय)
(A Central University established by an Act of Parliament of India in 2007 and accredited by NAAC in 20015)

The Vice-Chancellor **कुलपति**

संदेश

'पूर्वोत्तर प्रभा' के भाग-1, अंक-2 के ऑनलाइन प्रकशन के अवसर पर मैं अपनी मंगल कामनाएं देते हुए प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ। सिक्किम विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग की सहकर्मी समीक्षित अर्द्धवार्षिक शोध पत्रिका 'पूर्वोत्तर प्रभा' थोड़े ही समय में अनुसंधान के क्षेत्र में लोकप्रियता प्राप्त कर चुकी है। यह सिक्किम विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग की महत्वपूर्ण उपलब्धियों में से एक है । यह पत्रिका सम्पूर्ण भारत के विद्यार्थियों, शोधार्थियों एवं विद्वानों को हिंदी भाषा में अपने कार्य को प्रकाशित करने का एक सफल माध्यम है । मैं संपादक मंडल के सभी सदस्यों को बधाई देता हूँ जिनके अथक प्रयास से इस पत्रिका का प्रकाशन संभव हो सका है ।

(प्रो. अविनाश खरे)

कुलपति
सिक्किम विश्वविद्यालय
गंगटोक, सिक्किम

संपादक की कलम से...

मनुष्य में जिज्ञासा की प्रवृत्ति जन्म से होती है। इसके चलते ही हम अपने लक्ष्य को प्राप्त कर पाते हैं। मानव को जिज्ञासा ही नए पथ पर चलने की प्रेरणा देती है। जिज्ञासा ही जीवन की सफलता की कुंजी है। जिज्ञासा मनुष्य के विकास की जड़ों को मजबूत करती है। शोध भी मनुष्य की जिज्ञासा का परिणाम है। शोध के माध्यम से नई सृष्टि का दर्शन होता है। ज्ञान के प्रति गहरी उत्सुकता मनुष्य को निरंतर शोध-कार्य की ओर आकर्षित करती है। मानव सभ्यता के इतिहास को हम शोध के इतिहास से जोड़ सकते हैं। जैसे-जैसे मनुष्य प्रगति के पथ पर आगे बढ़ा, उसने ज्ञान प्राप्त करने के नए तरीकों की खोज की। दुनिया के कोने-कोने में, हर क्षेत्र में आज नए-नए शोध हो रहे हैं, जो हमारे ज्ञान को समृद्ध कर रहा है। शोध ज्ञान के समस्त रूपों के अध्ययन का आधार है। अज्ञात को ज्ञात करना और ज्ञात को पुनर्व्याख्या द्वारा स्पष्ट और व्यवस्थित करना ही शोध की मुख्य विशेषता है। भारत बहुभाषिक और बहुसांस्कृतिक देश रहा है। भारत का यह पूर्वोत्तर क्षेत्र भी भाषा, साहित्य और संस्कृति की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध है। इन क्षेत्रों में शोध की अपार संभावनाएँ हैं। पूर्वोत्तर भारत पर आधारित सामग्री का हिंदी भाषा में नितांत अभाव है और मुझे लगता है कि इसका निदान अनुवाद के साथ-साथ तुलनात्मक शोध से संभव है। पूर्वोत्तर भारत की भाषा, साहित्य और संस्कृति को लेकर हिंदी में अनेक शोध कार्य यहाँ के विश्वविद्यालयों में हुए हैं और आज भी हो रहे हैं।

'पूर्वोत्तर प्रभा' का यह दूसरा अंक है। प्रस्तुत अंक में 25 शोधालेखों को संपादक मंडल के निर्णय के अनुरूप प्रकाशित किया जा रहा है। इसमें प्रकाशित सभी शोधालेखों के विषय विविध हैं जिसे प्रकाशित करते हुए गर्व की अनुभूति हो रही है। संपादक मंडल के सदस्यगण एवं जर्नल से प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से जुड़े सभी विद्वतजनों के प्रति कृतज्ञ हूँ। शुभकामना संदेश के लिए हमारे जर्नल के संरक्षक आदरणीय कुलपति महोदय को संपादक मंडल की ओर से आभार एवं बहुत बहुत धन्यवाद।

मैं इस अंक के सभी लेखकों के प्रति, अपने पाठकों के प्रति एवं अपने सहयोगी साथियों के प्रति हृदय से आभार प्रकट करता हूँ, जिनके सहयोग के चलते पत्रिका का यह अंक प्रकाशित हो पाया है। 'पूर्वोत्तर प्रभा' के कलेवर में निरंतर सुधार हेतु आप सभी से उपयुक्त दिशा-निर्देश, मार्गदर्शन एवं परामर्श की कामना करते हुए आप सभी को यह अंक अर्पित है।

दिनेश साहू
संपादक, पूर्वोत्तर प्रभा

जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविताओं में स्त्री चेतना

परमजीत कुमार पंडित
सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग
सेंट पॉल्स कैथेड्रल मिशन कॉलेज, कोलकाता

शोध-सारांश :
समकालीन कविता में जितेंद्र श्रीवास्तव एक चर्चित नाम है। उनके द्वारा लिखी गई स्त्री से संबंधित कविताएँ बहुविध हैं। आज की स्त्रियाँ अपनी पहचान के लिए संघर्षरत हैं। अपने ऊपर हो रहे अत्याचार को लेकर स्त्रियाँ चुप नहीं बैठती, इसके लिए विश्व पटल पर आन्दोलन जारी है। स्त्रियाँ बाजारवादी दृष्टि से ऊपर उठकर प्रेम की आशा रखती हैं। कवि की कविताएँ समाज का स्त्री के प्रति दृष्टिकोण बदलने की बात करती हैं। नजरिया बदलने से स्त्रियाँ सभी क्षेत्रों में अपना परचम लहरा पायेगी और लहरा रही हैं।

बीज-शब्द:
नारीत्व, उपभोक्तावादी संस्कृति, भूमंडलीकरण, उपभोगपरक, बाजारवाद, सामाजिक दृष्टिकोण

स्त्री-पुरुष का रिश्ता गाड़ी की दो पहियों की तरह है जो एक के बिना दूसरा खड़ा नहीं हो सकता है। समाज में दोनों का समान महत्त्व है और स्वस्थ सामाजिक वातावरण के लिए स्त्री-पुरुष का सहचर सम्बन्ध अत्यावश्यक है। आरम्भ से ही समाज में पुरुषों का वर्चस्व रहा है और स्त्रियों को अधिकारों से वंचित रखा गया है। वैदिक काल से नारी को समाज में उच्च स्थान प्राप्त था और वह लक्ष्मी, देवी, साम्राज्ञी, महिषी, रत्न आदि नामों से अभिहित की जाती थी। अथर्ववेद में नारी के सम्मान को वर्णित करने वाला एक श्लोक द्रष्टव्य है-

"अनुव्रतः पितुः पुत्रो माता भवतु सम्मनाः।
जाया परये मतुमतीं वाचं यददु शान्तिवाम्।।"[1]

वेदों में स्त्री यज्ञयी है अर्थात् यज्ञ समान पूजनीय। नारी की प्रतिभा तथा ज्ञान अपूर्व और अद्भुत था। वेदों में नारी को ज्ञान देने वाली, सुख-समृद्धि लाने वाली, विशेष तेज वाली, देवी, विदुषी, इंद्राणी, उषा जो सबको जगाती है, इत्यादि अनेक आदरसूचक नाम दिए गए हैं। समय और समाज परिवर्तनशील होता है। भारतीय सामाजिक परिस्थिति में नारी की स्थिति में जबरदस्त परिवर्तन होता रहा है। आदिकाल में कुछ साधकों ने नारी को मोक्ष का साधन माना। मध्यकाल में सामंतवादी शासन व्यवस्था और विदेशी आक्रान्ताओं के आगमन से नारी की स्थिति में जबरदस्त गिरावट आई। अशिक्षा और रूढ़ियाँ जकड़ती गई, घर की चारदीवारी में कैद नारी अबला, रमणी और भोग्या बनकर रह गई। अनेक समाज सेवियों ने स्त्री की उन्नति व शिक्षा के लिए अत्याचारी के विरुद्ध आवाज उठायी। उन्होंने तत्कालीन अंग्रेजी शासन के समक्ष स्त्री-पुरुष समानता का अधिकार, सती प्रथा का अंत, हिन्दू विधवा पुनर्विवाह आदि उल्लेखनीय प्रस्तावों को पास करवाया। निरंतर प्रयास से स्त्रियों की दशा में शनैः शनैः सुधार होता रहा, किन्तु समकालीन समय में स्त्रियों में जागरूकता का भरपूर प्रवाह होने लगा है। स्त्रियाँ अब ठगी नहीं जाती, वह बहुविवाह, दहेज प्रथा, महिला शिक्षा, शारीरिक एवं मानसिक उत्पीड़न के खिलाफ मुखर हुई है। समकालीन समय में नारी आदर और सम्मान के साथ सहचरी बनना चाहती हैं। वह नारी ही है जो पुरुष के जीवन को नदी की भाँति समतल मैदान को उर्वर बनाती है। छायावाद के स्तम्भ कवि जयशंकर प्रसाद ने 'कामायनी' में स्त्री को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं।

समकालीन समय में स्त्री-विमर्श या स्त्री के प्रति दृष्टिकोण सहज-सरल और एकांगी नहीं रहा है। स्त्री-विमर्श की कई परतें हैं। उन परतों को खोलने का काम समकालीन कवि बखूबी कर रहा है। कवयित्रियाँ भी अपनी स्वच्छंद अनुभूतियों को पन्नों पर उकेर रही हैं। आज के कवियों में जितेन्द्र श्रीवास्तव का नाम काफी चर्चित है। श्रीवास्तव जी की 'अनभै कथा', 'असुंदर सुन्दर', 'बिलकुल तुम्हारी तरह', 'इन दिनों हालचाल', 'कायांतरण', 'कवि ने कहा', 'बेटियाँ', 'उजास', 'सूरज को अंगूठा', 'रक्त सा लाल एक फूल' अब तक प्रकाशित कविता संग्रह एवं संकलन है। वे अपनी कविताओं में स्त्रियों के कई पक्ष को सामने लाते हैं, जैसे-सामाजिक पक्ष, पारिवारिक पक्ष, आर्थिक पक्ष, सांस्कृतिक पक्ष और राजनैतिक पक्ष। पुरुषों ने सर्वदा ही स्त्रियों पर अत्याचार किया है। स्त्री के दुःख को कोई नहीं समझता है। पुरुष केवल रूप-सौंदर्य को पाकर खुश है पर सच्चाई यह है कि स्त्री की आँसू भी पुरुषों के हिस्से की होती है, जिसके बारे में वह तनिक भी नहीं सोचता और खुश होता है-

"पर स्त्रियाँ अनादि काल से पी रही हैं अपना खारापन
बदल रही है
आँखों के नमक के चहरे के नमक में
और पुरुष चमत्कृत है खुश है
कि वह रूप-लावण्य उसके लिए है।"[2]

पुरुष हमेशा ही खुश रहता है। स्त्री उसके लिए सुख का साधन है, सौन्दर्य का भेंट पाकर वह अभिभूत होता है, पर क्रोध का भड़ास स्त्री पर ही निकालता है-'जब पति को खिलाती हुई रोटियाँ / वे खाती हैं गालियाँ'। देवी समान स्त्री का अपमान करता है, मानो सदियों से उसके हिस्से प्रताड़ना ही हो। साहित्य की भाँति ही स्त्री भी समाज का दर्पण होती है। समाज की वास्तविक स्थिति का पता स्त्री की दशा से चल जाता है। मैथिलीशरण गुप्त की 'यशोधरा' में चित्रित "अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी, आँचल में दूध और आँखों में पानी।" से स्पष्ट हो जाता है। स्त्री जीवन है, सृष्टि है। पुरुष का अस्तित्व भी नारी के बिना संभव नहीं है। कवि के शब्दों में-

" वे रचती हैं!
वे रचती हैं तभी हम-आप होते हैं
तभी दुनिया होती है
रचने का साहस पुरुष में नहीं होता
वे होती हैं तभी पुरुष
पुरुष होते हैं।"[3]

पुरुष की दृष्टि से पुरुष स्वयं प्रतीक है। वह अपने को समाज में स्त्री से ऊँचा समझता है, परन्तु पुरुष को जन्म कौन देता है? पुरुष एवं स्त्री के साहचर्य से ही पुरुष का जन्म होता है। जब कोई माँ अपने प्रांगण में एक फूल को जन्म दे रही होती हैं तब धर्म के ठेकेदार हाथ धोकर धर्म के नाम पर उसके पीछे पड़ जाते हैं। कवि ने 'उम्र के फूल' शीर्षक कविता में इसे स्पष्ट किया है-

"जब एक माँ जन्म दे रही है
सृष्टि के सुन्दरतम फूल को
कुछ खाए अघाए लोग चिल्ला रहे हैं
धर्म धर्म धर्म धर्म
और अकबकाई हुई चकित जनता
आँखें फाड़े देख रही है उनको
अधर्म की ओर बढ़ते और दौड़ते हुए"[4]

धर्म का पाठ और आरंभिक संस्कार परिवार से प्राप्त करने वाले अधर्म का पथ कहाँ सीखते हैं, कौन सिखाता है? इसके पीछे कारण क्या है? कवि के लिए यह अधिक महत्त्वपूर्ण है। पुरुष स्त्री से विवाह करता है। साहचर्य की शपथ लेता है, किन्तु वह माथे पर दीप्त सिन्दूर की परवाह नहीं करता है। इसीलिए कवि अपनी माँ से सिन्दूर के विषय में जानने के लिए उत्सुक है। कवि की माँ उसे बताती है-

"सुहागन का चेहरा
विवाह के बाद
सिन्दूर न हो माँग में
तो राख हो जाती है आभा"[5]

स्त्री सिन्दूर को अपना गौरव समझती है। कलाइयों में चूड़ियाँ और माथे पर दिपदिपाता सिन्दूर सुहागन की निशानी है। बाबा नागार्जुन भी सन् 1943 ई. में रचित 'सिंदूर तिलकित भाल' कविता में पत्नी के प्रति पूर्ण समर्पण भाव व प्रेम दिखला चुके हैं। जितेन्द्र जी की सुभागी सरीखी बेटियों का ऐसा भाग्य कहाँ है कि उसके माथे के सिन्दूर को उसका पति याद रखे। माथे पर सिन्दूर न हो तो औरत की ज़िन्दगी शून्य हो जाती है, नारीत्व के लिए अभिशाप बन जाता है। इसलिए कवि मानते हैं कि 'सिन्दूर भय है स्त्री का!' 'श्रृंखला की कड़ियाँ' में महादेवी वर्मा कितनी सार्थक अभिव्यक्ति करती हैं- "यदि दुर्भाग्य से स्त्री के मस्तक का सिन्दूर धुल गया, तब तो उसके लिए संसार ही नष्ट हो गया। यह एक ऐसा अपराध है जिसके कारण उसे मृत्युदंड से भी भीषणतर दंड भोगते हुए तिल-तिल कर के जीवन के शेष, युग बन जाने वाले क्षण व्यतीत करने होते हैं।"[6] सुभागी के पति ने सहयोगी के रूप में उसका दामन थामा था, किन्तु बुरी प्रवृत्तियों और शराब की बुरे लत के कारण वह काल के गाल में समा गया। वह तीन-तीन बच्चों को लेकर दर-दर की ठोकरें खाने को मजबूर है, चारों तरफ अँधेरा छाया है। वह इस अँधेरे को कैसे पार कर पाएगी? इसकी चिंता कवि को भी है और सुभागी को भी-

"उनत्तीस की उमर में
तीन-तीन बच्चों की उँगलियाँ थामें
खड़ी हूँ चौराहे पर
न इस पार कोई
न उस पार
न ससुराल में कोई देखनहार है
न मैके में कोई पूछनहार

सब अपने दुःख तले दबे हैं
कौन सहलाए मेरा मन"[7]

हमारे समाज में विधवाओं की स्थिति भयंकर और विडम्बनापूर्ण है। ऐसी हजारों विधवाएँ समाज में फैली कुरीतियों का शिकार बनती है। उसे अशुभ माना जाता है, महत्त्व नहीं दिया जाता, बदनाम किया जाता है और जीवन के अन्धकार में भटकने के छोड़ दिया जाता है, हालाँकि विधवा होने में उसकी कोई भूमिका नहीं होती है। अंधश्रद्धा में डूबा यह देश कब अपनी मानसिकता बदलेगा? विधवाओं की दशा में सुधार कब होगा? विधवाओं का विलाप कौन सुनेगा? विधवाओं के विलाप में न जाने कितनी आवाजें गुम हो जाती है। स्त्रीवादी लेखिका गीताश्री लिखती हैं- "असुरक्षा, उपहास और एकाकीपन के संभावित भय ने उसके पाँव जकड़ लिए हैं। एक सिन्दूर ने उसका पूरा जीवन रंग दिया है। इस रंग को वह चाहकर भी नहीं धो सकती। उसका मानना है कि यह नियति का काम है, उसका नहीं।"[8] अर्थात् जब उसके समक्ष कोई सहारा नहीं होता, कोई पथ शेष नहीं होता, तब अपनी स्थिति को विधना की मर्जी मानती हैं और मनभर कोसती हैं-

" वे भाग्य की बात करती हुई
हँसती हैं विधाता पर
कभी कोसती हैं विधाता को
कहती हैं जो विधाता स्त्री होता
तो सोचो सखी, कैसा होता!"[9]

विचारणीय यह है कि विधाता की इच्छा मानकर वह परिस्थितियों से लड़ती है। कवि ने गाँव की सहज औरतों का भी चित्रण किया है। 'रामदुलारी' कवि की एक ऐसी ही पात्र है जो जाति-भेद को नहीं मानती और अपने पियक्कड़ पति के पिटाई का प्रतिरोध भी दृढ़ता से करती है। उसने अपने जीवन में निष्कलुष रहने का सलीका सीखा था। गाँव की अन्य औरतें उन्हें 'योद्धा' के रूप में जानती हैं-

"उसका सुख भोग रही हैं
गाँव की नई पीढ़ी की स्त्रियाँ
उनमें गहरी कृतज्ञता है रामदुलारी के लिए
वे उन्हें 'मर्द मारन' नहीं
'योद्धा' की तरह याद करती हैं"[10]

भूमंडलीकरण और बाजारवाद के इस दौर में स्त्री मात्र भोग्य की वस्तु समझी जाती है। उपभोक्तावादी संस्कृति में सभी वस्तुएँ उपभोगपरक मानी गई हैं। इस संस्कृति ने पुरुष की पाशविक वृत्ति व काम को तीव्र करने का कार्य किया है। आज स्त्री सब जगह है, फिर भी कहीं नहीं है। स्त्रियों का व्यापार जोर-शोर से किया जा रहा है। उसकी देह की बनावट के अनुसार पूँजीपति और सेठ चमड़ी का दाम लगाते हैं। पूँजीपतियों और सत्तासीनों के लिए वह तृष्णा (कामवासना) मिटाने का साधन भर है। स्त्रियों की आबरू लुटे जा रहे हैं, लेकिन प्रधानमंत्री बाहरी दबाव में दुखी हैं-

"बाजार का मायालोक रहेगा अपनी ही रौ में
महानगरों में दमकते माल
रच रहे होंगे मृगतृष्णा
उद्योगपतियों की महफिलें बना रही होंगी
नया रसायन सत्ता और पूँजी का
खरीद-फरोख्त और उसके बाहर भी
बलात्कार हो रहे होंगे स्त्रियों पर।"[11]

बलात्कार को घिनौने कुकर्म के रूप में जाना जाता है। पुरुष कामुकता का सम्बन्ध अनिवार्यतः रीतिकालीन सामंती मानसिकता वाले समाज में देह के जोर से है। मीडिया में आये दिन प्रकाशित होता है कि महानगरों के बंद कमरों में, चलती गाड़ियों में, अँधेरे में और गाँव में दिन-दहाड़े खेतों के मेड़ों पर बच्चियों और स्त्रियों को बलात्कार का शिकार बनाया जाता है। स्त्रियाँ उपभोगवादी समाज में अपने परिवार में ही सुरक्षित नहीं है। बलात्कार के दौरान बालिग और नाबालिग किस शारीरिक और मानसिक पीड़ा से गुजरती है, यह कौन समझता है। रोहिणी अग्रवाल इस सन्दर्भ में लिखती हैं- "बलात्कार और यौन शोषण एक ही वर्ग से संबंधित होते हुए भी परस्पर भिन्न है। बलात्कार स्त्री की मानवीयता पर आघात करने वाली पाशविक क्रिया के संपन्न हो जाने के बाद की स्थिति है जबकि यौन-शोषण ऐसे अनेक बलात्कारों की अनवरत प्रक्रिया भी हो सकता है और बलात्कार के इरादे से की गई प्रारंभिक छेड़छाड़ भी जहाँ स्पर्श, घर्षण, स्खलन जैसी चिपचिपी-गिजगिजी परिणतियों के न होते हुए भी स्त्री के 'मनुष्यत्व' को तार-तार कर देने की बर्बर आक्रामकताएँ हैं।"[12]

बलात्कार तो पुरुष के कामुक नज़रों से देखने से ही हो जाती है। 2020 में बलात्कार की औसतन 88 केस प्रतिदिन है। इसमें 7% की वार्षिक वृद्धि जारी है। बलात्कार की हर चौथी शिकार नाबालिग होती है। और न जाने कितने केस या घटनाएँ ऐसी हैं जिसकी शिकायत नहीं की जाती। स्त्रियों के शील-भंग होने पर समाज में उसके लिए कोई स्थान नहीं रह जाता और अधिकतर पीड़िता वेश्यावृत्ति की दलदल में उतर जाती हैं। वेश्यावृत्ति आज की देन नहीं, सभी राष्ट्रों में पहले से ही किसी-न-किसी रूप में मौजूद थी। बस फर्क सिर्फ इतना है तब यह कुछ सामंती और धनाढ्य लोगों के लिए हुआ करती थी और आज सामान्य पुरुषों के लिए भी सुलभ है।

प्रभा खेतान विशिष्ट लहजे में कहती हैं- "वेश्यावृत्ति एक नयी विकसित रणनीति है। आज यह केवल रोजी-रोटी से संबंधित नहीं बल्कि इसके आधार पर राष्ट्र अपना विकास कर रहे हैं।"[13] उपभोक्तावाद ने उसकी देह को कपड़ों और वर्जनाओं से मुक्त किया है, किन्तु साथ ही उसकी मानवीय अस्मिता को उभरने भी नहीं दिया है। वह आज भी वस्तु है, देह है। ऐसी देह जो भोगने का आमंत्रण देती है, बिकने के

लिए मूल्य स्वयं निर्धारित करती है। कवि 'शब्दार्थ' कविता में बाजार की दृष्टि को व्यक्त करता है-

"प्यार माने स्त्री
स्त्री माने देह
यही है दर्शन
यही है दृष्टि
बाज़ार की।"[14]

लेकिन कवि की स्त्री अपने को देह नहीं मानती बल्कि स्वप्न मानती है। वह लम्बी और निर्णायक लड़ाई लड़ना चाहती है क्योंकि उसने सूरज, चंद्रमा और पृथ्वी से क्रमशः उजाला, शीतलता और धैर्य प्राप्त किया है। वह देह के जादुई उत्सव में नहीं डूबना चाहती है-

"मैं अबला नहीं
एक स्त्री हूँ
मुझे नहीं डूबना
प्रायोजित देह के उत्सवों में!"[15]

वैश्विक गाँव की यह देन है कि स्त्रियाँ 'घर से कविता तक में मुक्ति के लिए तड़प रही' हैं। वह खेतों में काम कर रही हैं, कल-कारखानों में काम कर रही हैं, ऑफिसों में काम रही हैं। वह अपने पीठ पर मात्र बच्चों का बोझ ही नहीं वरन् पेट का वजन भी ढोती हैं। कवि की घास गढ़ती औरतें रगों में जमे हुए खून को टहकाने के लिए हर शाम आग सेंकती है। दुष्यंत कुमार की क्रांति-अग्नि को अपने हृदय में बचाए रखना चाहती है। कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव स्पष्टः लिखते हैं-

" घास गढ़ती औरतें
सोने से पहले सुबह के लिए
बोरसी की राख में छिपा कर
रख देती हैं थोड़ी सी आग"[16]

इसके साथ ही कवि ने 'परवीन बॉबी' के माध्यम से स्त्री के संघर्ष, मुक्ति की कामना को सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है। उसने सारी वर्जनाओं को ठेंगा दिखा दिया था। वह न तो खुद की परवाह करती थी, न ही किसी और की। उसके विचार मुक्तकामी थे जिसे वह आत्मा के आईने से देखती थी। पुरुष सत्ता के वर्चस्व को नकार कर प्रचलित परम्पराओं और धारणाओं को तोड़ा। वह समाज में नैतिकता के कोतवालों से बिलकुल भी नहीं डरी। आज जो स्त्री अपने आपको स्वतंत्र मानती है उसके पीछे न जाने कितनी स्त्रियों का बलिदान है-

"तो इसलिए कि पहले कर चुकी हैं संघर्ष
परवीन बॉबी और जीनत अमन जैसी अभिनेत्रियाँ
स्त्रीत्व के मानचित्र के विस्तार के लिए"[17]

भूमंडलीकरण और ज्ञान-विज्ञान की नई-नई शाखाओं-प्रशाखाओं के विकास ने मानव के लिए कई चीजें आसान कर दी है। वह एक्स-रे के माध्यम से बीमारियों के संबंध में पता लगाता है तो वह अल्ट्रासोनोग्राफी के माध्यम से गर्भ में पल रहे बच्चे के लिंग का पता लगा लेता है। पुरुष मानसिकता का पता इस बात से लगता है कि भ्रूण हत्या अपराध तेजी से बढ़ रहे हैं।

यूनिसेफ की एक रिपोर्ट के अनुसार भारत में सुनियोजित लिंग-भेद के कारण भारत की जनसंख्या से लगभग 5 करोड़ लड़कियाँ एवं महिलाएँ गायब है। कवि श्रीवास्तव जी इस समस्या से खासे चिंतित नजर आते हैं। सजग कवि होने के नाते वे स्त्री की पीड़ा को व्यक्त करते हैं-

"मैं जानता हूँ यह अपराध है
पर क्या करूँ
कहाँ से लाऊँ
अपने भीतर एक स्त्री की आत्मा!
वह भी एक ऐसे समय में
जब बच्चियाँ मारी जा रही हैं कोख में ही"[18]

वंचितों की पक्षधर रमणिका गुप्ता यह मानती है कि- "स्त्री-मुक्ति मनुष्य को सही मायने में मनुष्य बनाने की समानता, भाईचारे और आजादी की ही मुहिम है, किसी को दास बनाने या स्वामी बनने की जंग नहीं। हाशिये की हर जमात अपने लिए नहीं बल्कि हर मनुष्य के मानवीय अधिकारों के लिए लड़ती है, जब वह मुक्ति समानता और भाईचारे की बात करती है। स्त्री भी वही लड़ाई लड़ने को प्रतिश्रुत हो गई है।"[19]

कवि परम्परावादी पुरुष की मानसिकता को उत्तर आधुनिक युग में बदलने की कोशिश अपनी कविता के माध्यम से करता है। इसका प्रमाण है उनकी स्त्री संबंधी कविताएँ और 'बेटियाँ' नामक काव्य संकलन। कवि का मानना है कि जहाँ कहीं भी स्त्री विरोधी स्वर उठे वहाँ बात 'बेटियों' से आरम्भ होनी चाहिए, क्योंकि औरतों को पुरुष भले ही महत्त्व न दें किन्तु वे बेटियों के प्रति अधिक संवेदनशील होते हैं। कवि बेटी को 'पिता के जीवन का उजास' मानते हैं। वे कहते हैं-

"बेटियाँ होती ही शहद है
जो मिटा देती हैं
आत्मा की सारी कड़वाहट"[20]

बेटियाँ न हो तो पिता का जीवन अँधेरे में खो जाता है। कवि चिंतित है कि भूमंडलीकरण के दौर में प्रेम के स्वरुप में परिवर्तन हो रहे हैं, किन्तु कवि आत्मा के मिलन को प्रेम मानते हैं। 'प्रेम-1990' शीर्षक कविता में प्रेम संवेदना द्रष्टव्य है-

"तब देह में उतरने से अधिक बहुत अधिक
लालसा थी
आत्मा में उतरने की।"[21]

अब तो प्रेमी अश्लील विडियो बनाता है और स्त्री प्रेम का व्यापार करने लगता है। कवि जे.एन.यू. को याद करता है जहाँ आजादी ही सबसे बड़ा मूल्य था, चाहे लड़का हो या लड़की। कवि विश्व के समस्त बेटियों में नयी उर्जा का संचार करते हुए, असुरक्षा, शंका और भय के घेरे से बाहर निकलने की बात करते हैं-

" ओ मेरी बेटियो याद रखना
यदि जीवन में दुःख का आलाप दीर्घ होने लगे
तब भी परछाइयों के पीछे-पीछे मत भागना
डरना नहीं किसी आईने से!"[22]

सिमोन द बोउवा ने 'द सेकेंड सेक्स' में कहा है कि स्त्री पैदा नहीं होती, बनाई जाती है। कवि श्रीवास्तव जी मानते हैं कि अँधेरा अब टल चुका है और यह विश्वास है कि स्त्री अब सब कुछ विधाता की मर्जी मानकर नहीं सहेगी। नई पीढ़ी आशान्वित करती है कि वह एक दिन नया सवेरा लायेगी। बेटियों को संबोधित करते हुए कहते हैं-

उठो, जागो
ओ मेरी बेटियो
देखो
पौ फट चुकी है
सबेरा होने को है"[23]

कवि का यह 'नया विहान' गीत नई पीढ़ी में नई उर्जा का संचार करता है। स्त्री जागरण के साथ ही यह आवश्यक है कि पुरुषों को अपनी मानसिकता बदल लेनी चाहिए। पुरुष उसे भोग्य न समझे, स्त्री को उसका अधिकार अपने हाथों से प्रदान करे। पुरुष को अपने होने का अर्थ समझना चाहिए। सिमोन द बोउवा का कथन है- "पुरुष अपनी इन सुविधाओं का पूरा और अबाध भोग तब तक नहीं कर सकता जब तक कि अपनी श्रेष्ठता को वह अधिकार के रूप में न रखें। पुरुष होने का यह अर्थ था कि वह अपने वर्ग की सुविधा के लिए कानून बनाए, अपने वर्ग हित का ध्यान रखें और साथ ही वह ऐसी ज्यूरी बने जो इन कानूनों को सिद्धांत में परिणत कर दे।"[24] स्त्री सुख का सामान जुटाने का साधन नहीं है, वह स्वयं सुख है। जहाँ कहीं अपने आपको उत्सर्ग करने की, अपने आपको खपा देने की भावना प्रधान है, वहीं नारी है। वह आनंद भोग के लिए नहीं आती, आनंद लुटाने के लिए आती है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि स्त्री को उसका अधिकार देते हुए महत्त्व प्रदान किया जाना चाहिए। आधी आबादी के बिना मनुष्य का अस्तित्व नहीं है। जहाँ कहीं स्त्री तिर्यक दशाओं (दलित, वंचित, स्त्री) में है, वहाँ स्त्री को पुरुषों की आवश्यकता है जो दुःख में उसके मन को सहलाए, सांत्वना दे। स्त्री अगर सीमा का अतिक्रमण कर रही है तो पुरुष को भी अपनी सीमा का ज्ञान होना चाहिए। पराधीनता समाज को अँधेरे की ओर ले जाती है चाहे वह पुरुष की हो स्त्रियों की। तुलसीदास ने कहा भी है- 'कत बिधि सजी नारि जग माँही। पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं।।' वर्तमान संघर्ष को देखते हुए यह माना जा सकता है कि स्त्री अब अधिक दिनों तक पुरुष और समाज की पराधीन बनी नहीं रहेगी। यह आशा को और दृढ़ करता है कि नई पीढ़ी में जागृति की लहर दौड़ रही है।

सन्दर्भ:

1. http://sahityakunj.net/entries/view/vedon-mein-naari-ki-bhumika
2. श्रीवास्तव, जितेन्द्र, (2012), *कायांतरण,* किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ.सं. -11
3. श्रीवास्तव, जितेन्द्र, (2016), *कवि ने कहा,* किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ.सं. -94
4. श्रीवास्तव, जितेन्द्र, (2020), *सूरज को अंगूठा,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृष्ठ संख्या -113-114
5. श्रीवास्तव, जितेन्द्र, (2012), *कायांतरण,* किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ.सं. -76
6. वर्मा, महादेवी, (2012), *श्रृंखला की कड़ियाँ,* लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद, पृ.सं. -35
7. श्रीवास्तव, जितेन्द्र, (2012), *कायांतरण,* किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ.सं. -43
8. गीताश्री, (2008), *स्त्री आकांक्षा के मानचित्र,* सामयिक प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृष्ठ संख्या- 65
9. श्रीवास्तव, जितेन्द्र, (2008), *असुंदर सुंदर,* भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, पृ.सं. -94
10. श्रीवास्तव, जितेन्द्र, (2020) *सूरज को अंगूठा,* राजकमल प्रकाशन, पृ.सं. -20
11. श्रीवास्तव, जितेन्द्र, (2012), *कायांतरण,* किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ.सं.-112
12. अग्रवाल, रोहिणी, (2011), *स्त्री लेखन:स्वप्न और संकल्प,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृष्ठ संख्या -276
13. gadyakosh.org/भूमंडलीकरण के स्त्री प्रश्न/प्रभा खेतान
14. श्रीवास्तव, जितेन्द्र, (2019), *उजास,* सेतु प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ संख्या -303
15. श्रीवास्तव, जितेन्द्र, (2020), *सूरज को अंगूठा,* राजकमल प्रकाशन, पृ.सं. -45
16. श्रीवास्तव, जितेन्द्र, (2019), *उजास,* सेतु प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ संख्या -303
17. श्रीवास्तव, जितेन्द्र, (2012), *कायांतरण,* किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ.सं. -58-59
18. श्रीवास्तव, जितेन्द्र, (2011), *बिल्कुल तुम्हारी तरह,* भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या- 62
19. गुप्ता, रमणिका, (2012), *स्त्री मुक्ति संघर्ष और इतिहास,* सामयिक प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृष्ठ संख्या -48
20. श्रीवास्तव, जितेन्द्र, (2019), *बेटियाँ,* के.के. पब्लिकेशन्स नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या -35
21. श्रीवास्तव, जितेन्द्र, (2012), *कायांतरण,* किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ.सं. -81
22. श्रीवास्तव, जितेन्द्र, (2019), *बेटियाँ,* के.के. पब्लिकेशन्स नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या -42
23. श्रीवास्तव, जितेन्द्र, (2019), *बेटियाँ,* के.के. पब्लिकेशन्स नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या -53
24. बोउवा, द सिमोन, (2004), *स्त्री उपेक्षिता,* हिन्द पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली, पृ.सं. -28

‘बूढ़ी काकी’ के सौ साल

बी आकाश राव
पीएच.डी. शोधार्थी, हिंदी विभाग
सिक्किम विश्वविद्यालय, गंगटोक

शोध सारांश :
प्रेमचंद विरचित ‘बूढ़ी काकी’ के प्रकाशन को सौ वर्ष हो चुके हैं । अपनी विषय-वस्तु और कथ्य की प्रासंगिकता के कारण यह कहानी आज भी जीवंत है । आज साहित्य में जिस गंभीर वृद्ध विमर्श की चर्चा की जाती है उसे बहुत पहले ही प्रेमचंद ने अपने साहित्य में दर्ज कर दिया था । बूढ़ी काकी’ का पात्र अपनी विडंबना और उपेक्षा के कारण दयनीय जान पड़ता है । कहानी की पहली ही पंक्ति ‘बुढ़ापा बहुधा बचपन का पुनरागमन हुआ करता है’ एक तय निष्कर्ष के साथ कथा को लेकर आगे बढ़ती है। वृद्धावस्था की विसंगति और त्रासदी इस कहानी की मूल संवेदना है । विभिन्न आलोचकों ने इस कहानी पर अलग-अलग ढंग से गौर किया है । ग्रामीण परिवेश में चित्रित वृद्धा की असहाय स्थिति हमें कई बिंदुओं को सोचने पर विवश करती है। मनुष्य की शारीरिक अवस्था, अस्मिता का संघर्ष, नायकत्व के मानदंड, वृद्ध और बालमन की मैत्री सुलभता, कहानी की सार्थकता और पाठकवर्ग पर प्रभाव आदि जैसे कई बिंदु अपने समय-सापेक्ष विवेचना की मांग करते हैं ।

बीज शब्द :
पाठ-पुनर्पाठ, ईश्वर भीरुता, त्रासद, सूक्तिपरक, विडंबना, वृद्धावस्था, पुनरागमन, पितृसत्तात्मक समाज, हृदय-परिवर्तन, शतवार्षिक

हिंदी साहित्य में किसी रचना के सौ वर्ष पूरे होना साहित्य के साथ-साथ उसके पाठकवर्ग की गतिशीलता और सजगता का प्रतीक है । एक शताब्दी में बीते 100 वर्षों के दौरान आए परिवर्तन से साहित्य और समाज किस कदर प्रभावित हुआ है इसका प्रमाण हमें मौजूदा वक्त की रचनाओं में देखने को मिलता है । ऐसे में सौ वर्ष पहले लिखी गई कहानी के अतीत और वर्तमान पर गौर करना जरूरी हो जाता है । लेखन मानव हृदय के अकुलाहट की सात्विक प्रतिक्रिया है । अतः किसी भी प्रकार का लेखन उक्त विषय की समस्त समस्याओं की प्रतिरोधी चेतना होती है । कहानी के पाठ-पुनर्पाठ की प्रक्रिया से गुजरते हुए हमें लेखक की रचना प्रक्रिया में चल रहे उन मनोभावों को भी पकड़ने की कोशिश करनी चाहिए जिनसे कोई रचना प्रसूत होती है क्योंकि कोई भी रचना पढ़ने के बाद पाठक वैसा नहीं रह जाता जैसा वह रचना पढ़ने से पहले होता है ।

प्रेमचंद एक युग निर्माता साहित्यकार हैं । उनकी कहानियां समाज के प्रत्येक वर्ग का प्रतिनिधित्व करती हैं । वह अपने स्तर पर साधारण, चर्चित और बहुचर्चित हर प्रकार के वैविध्य से परिपूर्ण है । वस्तुतः यही कारण है कि प्रेमचंद की कहानियां अपने कथ्य और शिल्प के आधार पर अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालखंडों में अपना सार्थक हस्तक्षेप करती है । ‘बूढ़ी काकी’ का प्रथम प्रकाशन इसी शीर्षक से उर्दू की मासिक पत्रिका ‘कहकशाँ’ के

वर्ष 1920-21 का समय अंग्रेजों की पराधीनता का समय था। देश में तमाम तरह के सामाजिक और राजनैतिक आंदोलन चल रहे थे । फरवरी 1921 में प्रेमचंद ने गांधी जी से प्रभावित होकर अपनी सरकारी नौकरी छोड़ दी । अतः ऐसे समय में जब एक लेखक अपने जीवन की उधेड़बुन में उलझा हो 'बूढ़ी काकी' जैसी संवेदनशील कहानी का लेखन उसकी सामाजिक प्रतिबद्धता को दर्शाता है । इस वक्त तक प्रेमचंद अपने आदर्शोन्मुख यथार्थवाद से कोरे यथार्थवाद की तरफ अग्रसर नहीं हुए थे जिस कारण वे 'बूढ़ी काकी' जैसी त्रासद कहानी के अंत में बुद्धिराम की पत्नी रूपा का हृदय परिवर्तन करा देते हैं । यद्यपि वह परिवर्तन ईश्वर भीरुता के कारण हुआ हो, परंतु वृद्ध जीवन की विसंगति हमें अंत तक दिखाई देती है ।

प्रेमचंद अपने साहित्य में जिस आदर्श को लेकर चलते हैं उसमें सबसे महत्वपूर्ण भूमिका उनकी भाषा की है। अमूमन प्रेमचंद की अधिकांश कहानियों में जीवन जगत से जुड़े संदर्भों पर किसी न किसी प्रकार के सूक्तिपरक वाक्य हमें देखने को मिल जाते हैं । मसलन 'गहरे पानी में बैठने से मोती ही मिलता है- परीक्षा', 'क्या बिगाड़ के डर से ईमान की बात न कहोगे?- पंच परमेश्वर', अथवा 'मासिक वेतन तो पूर्णमासी का चांद है जो एक दिन दिखाई देता है और घटते-घटते लुप्त हो जाता है- 'नमक का दारोगा' ऐसे वाक्य उनकी रचनाओं में बहुतेरे मौजूद है जो बीच-बीच में कथा के मर्म को अर्थवत्ता प्रदान करते हैं । लेकिन ऐसे वाक्य अधिकांश रूप में प्रेमचंद की रचनाओं के मध्य या अंत में देखे जाते हैं । 'बूढ़ी काकी' कहानी का आरंभ "बुढ़ापा बहुधा बचपन का पुनरागमन हुआ करता है ।"[1] जैसे सूक्तिपरक वाक्य से होता है । अतः इस एक वाक्य को ही कहानी का सार मान लें तो कोई अतिशयोक्ति न होगी; 'बूढ़ी काकी' जैसी कहानी जो आज भी स्कूल की प्रारंभिक कक्षाओं से लेकर महाविद्यालय तक के पाठ्यक्रमों में देखी जा सकती है, उसकी पहली ही पंक्ति का इतना गंभीर व वजनदार होना साहित्यशास्त्र में नए प्रतिमान स्थापित करता है। लेकिन किसी रचना के साथ ऐसी शुरुआत करने पर लेखक के सामने आगे की कथा के साथ पाठक को उसी तन्मयता के साथ बांधे रखना एक बड़ी चुनौती होती है । प्रेमचंद की इसी कला पर डॉ रामविलास शर्मा लिखते हैं "भारतीय कथा-साहित्य की जातीय परंपरा से प्रेमचंद की कहानियों का बहुत घनिष्ठ संबंध है कहानी फुर्सत की चीज है, काम-धाम से छुट्टी पाकर सुनने की चीज, और जल्दबाजी से काम बिगड़ जाता है । प्रेमचंद के कहानी कहने में वह फुरसत का भाव मिलता है । वह कहानी सुनाते हैं, अक्सर लच्छेदार जबान में, वाक्यों को स्वाभाविक गति से फैलने की आजादी देकर, अंग्रेजी बाग के माली की तरह उनकी डालियाँ और पत्ते कतरकर नहीं, फूलों और पत्तियों को हवा में बढ़ने और लहराने की आज़ादी देकर । जिंदगी के अनुभवों पर टीका-टिप्पणी भी साथ में चला करती है; व्यंग्य, अनूठी उपमाएँ और हास्य बीच-बीच में पाठक को गुदगुदाते रहते हैं।"[2] यहां 'पुनरागमन' विशेष पद है जो बुढ़ापा और बचपन के बीच समन्वय पैदा करता है । यद्यपि यह कथन वृद्धों के प्रति बच्चों जैसे स्नेह की आवश्यकता पर जोर देता है लेकिन जिन हरकतों के लिए हम बच्चों को नादान और मासूम कहकर माफ कर देते हैं वृद्धों को उन्हीं बातों पर डांटा या कोसा जाता है । यह भारतीय समाज की एक स्वनिर्मित विडंबना है जहां परिवार के बच्चे घर के बुजुर्गों से सबसे अधिक स्नेह पाते हैं, वहीं बुजुर्गों की स्थिति घर के वयस्कों के बीच उपेक्षित सी हो जाती है ।

प्रेमचंद की कहानियों के साथ-साथ उनके पात्रों की सृजनशीलता और उसमें नायकत्व के दर्शन भी अद्भुत है। प्रेमचंद के पात्र समाज के हर तबके से आते हैं उनमें किसान, मजदूर, शिक्षक, व्यापारी, पंडित, पुलिस, भिखारी

आदि हर प्रकार के किरदार हैं । लेकिन अपनी पृष्ठभूमि के साथ उन किरदारों की उपस्थिति उन्हें एक करिश्माई रूप प्रदान करती है जहां नायक-नायिका के सारे रूप-गुण के प्रचलित मानक फीके पड़ जाते हैं । फलस्वरूप कई बार पाठकों को केंद्रीय पात्र की तुलना में सहायक पात्रों में अधिक नायकत्व के दर्शन होते हैं, जैसे- 'सद्गति का दुखी चमार' या 'मंत्र का बूढ़ा भगत'। जो पीड़ित-शोषित होकर भी नायक की भूमिका निभा जाते हैं अथवा 'दो बैलों की कथा के बैल हीरा- मोती' जो नायकत्व में जूरी काछी से भी आगे निकल जाते हैं । 'बूढ़ी काकी' में भी हमें नायकत्व को लेकर एक उहापोह की स्थिति दिखाई देती है, इस कहानी में बूढ़ी काकी की अवस्था अत्यंत दयनीय है और उनके संवाद भी कम है । बुद्धिराम-रूपा के चरित्र में नैतिकता का अभाव है, बच्ची लाडली के पात्र में प्रेम तो है मगर सांसारिकता नहीं है । अंततः व्यक्तिमन की इच्छाओं, उलझनों, कर्तव्य, दया, प्रेम, क्षमा जैसे गुणों के साथ बूढ़ी काकी इस कहानी की मुख्य पात्र ही नहीं बल्कि नायिका भी ठहरती है । क्योंकि कहानी में बूढ़ी काकी सिर्फ एक पात्र ही नहीं अपितु एक वर्ग तथा एक पूरी पीढ़ी का प्रतीक है । अतः प्रेमचंद उनकी वृद्धावस्था के वर्णन के क्रम में बहुत सधी हुई भाषा से काम लेते हैं "बूढ़ी काकी में जिह्वा-स्वाद के सिवा और कोई चेष्टा शेष न थी और न अपने कष्टों की ओर आकर्षित करने का, रोने के अतिरिक्त कोई दूसरा सहारा ही । समस्त इंद्रियाँ, नेत्र, हाथ और पैर जवाब दे चुके थे । पृथ्वी पर पड़ी रहती और घरवाले कोई बात उनकी इच्छा के प्रतिकूल करते, भोजन का समय टल जाता या उसका परिमाण पूर्ण न होता अथवा बाजार से कोई वस्तु आती और उन्हें न मिलती तो वह रोने लगती थीं ।"[3] प्रेमचंद यहां बहुत ही कम स्पेस में बूढ़ी काकी का परिचयात्मक विवरण दे देते हैं । जिसमें उन्होंने भाषाहिक मर्यादा का भरपूर ध्यान रखा है "पृथ्वी जैसे संस्कारित शब्द में जो भारीभरकमपन और सांस्कृतिक बोध है वह 'जमीन' में नहीं । साथ ही यथार्थ का प्रभाव 'पड़ी रहती' से बेहतर व्यक्त नहीं हो सकता । यह मात्र क्रिया और दशा नहीं है। वह भारतीय समाज में वृद्धों की 'अनुपयोगिता' और उनके अवमूल्यन का प्रतीक है ।"[4] प्रेमचंद अपनी रचनाओं में सर्वत्र मौजूद रहते हैं । वे किसी पात्र के साथ प्रत्यक्ष सहानुभूति नहीं दिखाते । इस कहानी में वे अपने लेखन से बूढ़ी काकी, उनके भतीजे बुद्धिराम और उसकी पत्नी रूपा तीनों के ही पक्षधर दिखाई पड़ते हैं। "बुद्धिराम स्वभाव से सज्जन थे, किंतु उसी समय तक, जब तक कि उनके कोष पर कोई आंच न आये । रूपा स्वभाव से तीव्र ही सही, पर ईश्वर से डरती थी । अतएव बूढ़ी काकी को उसकी तीव्रता उतनी न खलती थी जितनी बुद्धिराम की भलमनसाहत ।"[5] यहां एक चुटीले और व्यंग्यात्मक लहजे में प्रेमचंद प्रशंसा और आलोचना दोनों एक साथ करते हैं । यह एक लेखक की कोरी इमानदारी है कि वह अपनी रचनाओं में अपने हर पात्र के साथ न्याय करें । लेकिन यह न्याय अंततः किसी एक पक्ष को ही मिल पाता है, दोषी का निर्णय करना पाठक का निजी परिश्रम है । बुद्धिराम का संपत्ति के लिए काकी के सामने भलमनसाहत दिखाना, संपत्ति मिलने पर बुद्धिराम-रूपा का कठोर व्यवहार, काकी का खाने के लिए रोना और गाली देना आदि केवल प्रकरण भर नहीं लगते अपितु इसमें यथार्थ के वीभत्स दृश्य भी शामिल हैं । प्रेमचंद की इस कहानी में ग्रामीण समाज है और उस समाज में वृद्धाश्रम की अवधारणा नहीं थी किंतु वर्तमान परिदृश्य में वृद्धाश्रम 'बूढ़ी काकी' से पिंड छुड़ाने का गंतव्य बन गया है । आज रूपा जैसी बहुएं ईश्वरभीरुता के नाम पर नहीं डरती । संयुक्त परिवार का विघटन अपने चरम पर है तथा 'बूढ़ी काकी' कहानी में जो वृद्धा नेपथ्य में पड़ी रहती है आज घर में उनकी कोई जगह नहीं । बच्चे दादी-नानी की कहानियों के बजाय मोबाइल पर समय बिताना अधिक पसंद करते हैं, ऐसे में जहां प्रेमचंद लाडली के रूप में बूढ़ी काकी का स्नेह कोष सुरक्षित रखते हैं आज वह भी संकट में है ।

कहानी अपने साथ एक बड़े ही गंभीर मुद्दे को लेकर चलती है 'अवस्था का व्यक्तित्व पर हावीपन'। 'बूढ़ी काकी' संबोधन जितना शिष्ट है उतना ही तल्खपूर्ण भी । पूरी कहानी में बूढ़ी काकी के वास्तविक नाम की जानकारी कहीं नहीं मिलती । भारतीय समाज में महिलाओं के लिए आदर्श संबोधन के तौर पर अमुक की मां, पत्नी, बेटी, बहू आदि के रूप में यह प्रथा एक लंबे काल तक चलता रही, फिर नवजागरण और स्त्री अस्मिता के आंदोलनों ने इस क्षेत्र में बड़े बदलाव किए । यद्यपि छोटे बच्चों के संबंध में बाबू, गुड़िया, छोटू जैसे चलताऊ संबोधन भी बने हुए हैं लेकिन एक व्यक्ति जो एक नाम के साथ बड़ा होता है और वह नाम ही उसकी पहचान का आधार बन जाता है । ऐसे में अवस्था का व्यक्तित्व पर हावीपन किसी प्रकार तर्कसंगत नहीं लगता । यह भी कतई सही नहीं कि बुजुर्गों को उनके नाम से बुलाया जाए, परंतु बुढ़ापे को बार-बार निशाना बनाना भी गलत है । इसके साथ ही पितृसत्तात्मक समाज की क्रूर व्यवस्था जहां पति और बेटे के मरने के बाद काकी को

अपने भतीजे के संरक्षण में आश्रित रहना पड़ता है, भारतीय समाज में महिलाओं विशेषकर वृद्ध महिलाओं की स्थिति पर सवालिया निशान खड़े करता है । भूख की समस्या भी उक्त कहानी में वृद्धावस्था की जटिलता को प्रमुखता प्रदान करती है । आर्थिक विपन्नता के बाद जीवन के समीकरण कैसे बिगड़ जाते है 'बूढ़ी काकी' इसकी उम्दा बानगी पेश करती है । यहां भूख के साथ तृष्णा भी शामिल है अगर किसी व्यक्ति ने जीवन में कभी पूड़ी-कचौड़ी न खाई हो तो उसमें उस स्वाद के निमित्त वह प्रतिक्रिया न होगी जो बूढ़ी काकी में दिखाई देती है । इच्छाएं और स्मृति भूख को तीव्रतर करने वाले कारक हैं । बूढ़ी काकी सिर्फ पेट की भूखी नहीं है वह स्नेह की भी भूखी है कदाचित यही कारण है कि छोटी बच्ची

लाडली से उनका घनिष्टतम संबंध है । लाडली के पास धन नहीं है, सांसारिक वस्तुएं नहीं है परंतु स्नेह है जो उसे और काकी को एक-दूसरे के करीब लाती है । यहां स्नेह बुढ़ापा और बचपन के पुनरागमन की चक्रीय भूमिका निभाता है ।

कहानी में प्रेमचंद का दृष्टिकोण अति सांसारिक सा लगता है । बूढ़ी काकी के साथ हो रहे शोषणपूर्ण व्यवहार को कटु से कटु शब्दों में वर्णित कर समाज के नग्न यथार्थ को सामने लाने के लिए यह शैली आवश्यक भी है, परंतु कई बार इस शैली के अपने ही खतरे उठाने पड़ते हैं । बतर्ज प्रदीप सक्सेना "यहाँ आपत्तिजनक यह भी है कि प्रेमचंद रौ में असावधान हो गए हैं । काकी जब रेंगते हुए कड़ाह के पास आ बैठी तब प्रेमचंद कहते हैं – 'यहाँ आने पर उन्हें उतना ही धैर्य हुआ जितना भूखे कुत्ते को खाने वाले के सम्मुख बैठने में होता है ।' यह बात कुछ अच्छी नहीं लगी । भले ही धैर्य वास्तव में ऐसा ही हो, तब भी लेखक की ओर से वर्णन के अंग के रूप में यह उपमा उनकी उच्च कलात्मक चेतना में दरार सी डाल देती है । असावधानी यह है कि यह उनकी जगह बुद्धिराम या रूपा ने कहा होता तो स्वाभाविक प्रतीत होता ।"[6] हो सकता है कि प्रेमचंद ने ऐसा वर्णन प्रसंग को जीवंत बनाने के लिए किया हो, लेकिन कई बार सत्य का कठोरतम वर्णन सत्य के वास्तविक रूप से भी अधिक भयावह होता है । कुछ इसी तरह का वर्णन आगे भी मिलता है जब कहानी अपने सबसे त्रासद मोड़ पर आती है जहां बूढ़ी काकी जूठी पत्तलों पर टूट पड़ती है तब प्रेमचंद कहते हैं – "एक ब्राम्हणी दूसरों की झूठी पत्तल टटोले, इससे अधिक शोकमय दृश्य असंभव था ।"[7] यहां तक आते-आते कहानी का आधे से भी अधिक हिस्सा समाप्त हो जाता है एवं इसके पूर्व कहीं पर भी काकी की जाति को लेकर कोई सूचना नहीं मिलती, अगर इसके आगे भी नहीं मिलती तो कहानी के मर्म में कोई फर्क नहीं पड़ता । इसके बचाव में रूपा की धार्मिक प्रवृत्ति का होना एक मजबूत तर्क हो सकता है । चूंकि प्रेमचंद जाति-व्यवस्था के हिमायती नहीं है, इसका प्रमाण उनकी अनेक रचनाओं में मिलता है । यहां 'ब्राह्मणी' शब्द न होने पर भी निःसंदेह काकी के प्रति पाठकीय संवेदना में कोई कमी नहीं आती । प्रसंगवश यह बता देना भी उचित है कि पाठांतर की वजह से कई पुस्तकों में संकलित 'बूढ़ी काकी' कहानी में ब्राह्मणी शब्द का प्रयोग नहीं मिलता । यहां प्रेमचंद अपने आलोचकों के लिए मैदान खुला छोड़ देते हैं यह भी उनकी रचनाओं की लोकप्रियता का एक आधार है, क्योंकि एक ही लेखक अपनी सभी रचनाओं में हमेशा एक जैसा नहीं हो सकता और यहीं से वाद, विवाद और संवाद की उर्वर जमीन तैयार होती है ।

'बूढ़ी काकी' कहानी के संदर्भ में प्रसिद्ध आलोचक शिवकुमार मिश्र लिखते हैं- "बूढ़ी काकी प्रेमचंद की वह कहानी है जो अत्यधिक लोकप्रिय होते हुए भी चर्चा में कम रही है । दूसरा प्रधान कारण इस कहानी में किसी गाँठ का, अथवा उस तरह की व्यंजानाओं का न होना है, जैसी 'ईदगाह', 'दो बैलों की कथा', 'कफ़न' आदि में है । इसका

संबंध स्वाधीनता-संग्राम से भी नहीं जुड़ता । यह विशुद्ध भारतीय जीवन-व्यवहार की एक मार्मिक कहानी है, जिसमें खाते-पीते, एक सामान्य ग्रामीण घर-परिवार के जीवन-व्यवहार के बीच से प्रेमचन्द ने कहानी की केन्द्रीय संवेदना के रूप में एक ऐसे पहलू को उजागर किया है, जो उस घर-परिवार से आगे, नगर और गावों की परिधि के लाखों घर-परिवारों की मानसिकता को अपनी लपेट में ले लेता है । प्रेमचन्द ने केन्द्रीय संवेदना के रूप में इस कहानी में वृद्धत्व को रेखांकित किया है । इस सामान्य धारणा के विपरीत कि एकल परिवारों की तुलना में बुढ़ापा संयुक्त-परिवारों में अधिक सुरक्षित है, प्रेमचन्द इस समस्या को आज के मनुष्य की लाभ-लोभ प्रेरित मानसिकता से जोड़ते हैं और यह बताना चाहते हैं कि आज के आदमी की लाभ-लोभ प्रेरित मानसिकता और स्वार्थ के चलते किस प्रकार मानवीय-सामजिक नाते-रिश्ते ही नहीं क्षत-विक्षत हुए हैं, पारिवारिक नाते-रिश्ते और रक्त-संबंध तक उसकी लपेट से नहीं बचे हैं । सभ्यता के अनेक छद्मों को नोचते-हटाते हुए आज के आदमी की इस गलीच लाभ-लोभ प्रेरित स्वार्थी और जड़ मनोभूमि को प्रेमचन्द ने इस कहानी में उद्‌घाटित किया है । बुद्धिराम और रूपा जैसे लोग और बूढी-काकी जैसी निस्सहाय जिंदगियों की त्रासदी, महज एक गाँव या घर-परिवार की एक वास्तविकता ही नहीं, वह आज के आदमी की गिरती हुई मूल्य चेतना की एक ऐसी शिनाख्त है, जो महानगरों, नगरों, कस्बों, गाँवों, कहीं पर भी की जा सकती है।"[8]

'बूढ़ी काकी' जैसी त्रासद कहानी का सुखद अंत भविष्य में निहित सकारात्मक संभावनाओं के द्वार खोलता है। काकी की दुर्गति देख रूपा का ह्रदय-परिवर्तन हो जाता है वह काकी से क्षमा मांगती है और उन्हें संपूर्ण व्यंजन की थाल सजाकर देती है । काकी खाना देखकर बच्चों की तरह सब कुछ भूल जाती है और उन्हें खाते देख रूपा को स्वर्गीय आनंद की अनुभूति होती है । इस अंतिम वाक्य से रूपा के ह्रदय-परिवर्तन की सच्चाई साफ जाहिर हो जाती है, कहानी यहीं समाप्त होती है । और यहीं से पाठक की जिज्ञासा शुरू होती है कि अगले दिन क्या हुआ होगा ? क्या बूढ़ी काकी को भरपेट भोजन और मान-सम्मान मिला होगा ? या बुद्धिराम-रूपा फिर उनके साथ विश्वासघात करेंगे ? ऐसे कई प्रश्न प्रेमचंद अपनी कलात्मकता से अलिखित छोड़ जाते हैं । प्रश्न आज भी वही है, क्या सौ साल बाद भी हम 'बूढ़ी काकी' के कथा-परिवेश को बदल पाए हैं ? यह बहस से ज्यादा आत्मचिंतन का विषय है । आज 21वीं सदी में विमर्शों का स्वर साहित्य के केंद्र में है । हिंदी की चर्चित कहानियां जैसे 'चीफ की दावत', 'वापसी', 'पिता' आदि वृद्ध विमर्श की पीड़ा को केंद्र में लाने वाली आरंभिक कहानियां है, लेकिन इनसे काफी पहले 1920-21 में प्रेमचंद 'बूढ़ी काकी' में वृद्धों की समस्या को उठाते हैं । जिसमें उनके जीवन स्तर, आर्थिक सबलता, पारिवारिक मान-सम्मान, घरेलू हिंसा जैसे मूलभूत प्रश्न गंभीरता से उठाए गए हैं यह दूरदर्शिता ही प्रेमचंद को कालजयी रचनाकारों में शुमार करती है ।

आज जब यह कहानी अपने शताब्दी वर्ष के पड़ाव पर है तो समूचा विश्व कोरोना की महामारी से जूझ रहा है । लोग घरों में रहकर भी आपस में दूरी बनाने पर मजबूर हैं ऐसे में जब लोग शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य पर बात कर रहे हैं, बूढ़े और बच्चों की विशेष देखभाल की आवश्यकता है । वृद्धावस्था जीवन का पड़ाव ही नहीं अपितु पूर्णता भी है, इसे सहेजने और इससे सीख लेने की जरूरत है । घर-परिवार में किसी वृद्ध का होना बरगद की छांव के समान माना जाता है। वस्तुतः 'बूढ़ी काकी' जैसी शतवार्षिक कहानी की सार्थकता उसके कथानक के दोहराव में नहीं बल्कि उसके निषेध में है।

संदर्भ :

1. प्रेमचंद. (2017) बूढी काकी. *मंजूषा.* अमृतराय.(संपा.) इलाहाबाद : हंस प्रकाशन. पृ. -33
2. शर्मा, डॉ.रामविलास.(2008) *प्रेमचंद और उनका युग.* नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृ. -111
3. प्रेमचंद. (2017) बूढी काकी. *मंजूषा.* अमृतराय.(संपा.) इलाहाबाद : हंस प्रकाशन. पृ. -33
4. सक्सेना, प्रदीप. (1998) बूढ़ी काकी. *प्रेमचंद की कहानियों का महत्व.* मार्कंडेय, डॉ.सत्यप्रकाश मिश्र. संपा. इलाहाबाद : सुमित प्रकाशन. पृ. -120
5. प्रेमचंद. (2017) बूढी काकी. *मंजूषा.* अमृतराय.(संपा.) इलाहाबाद : हंस प्रकाशन. पृ. -33
6. सक्सेना, प्रदीप. (1998) बूढ़ी काकी. *प्रेमचंद की कहानियों का महत्व.* मार्कंडेय, डॉ.सत्यप्रकाश मिश्र. (संपा.) इलाहाबाद : सुमित प्रकाशन. पृ. -124
7. प्रेमचंद. (2017) बूढी काकी. *मंजूषा.* अमृतराय.(संपा.) इलाहाबाद : हंस प्रकाशन. पृ. -41
8. मिश्र, शिवकुमार.(2002) कहानीकार प्रेमचंद : रचना दृष्टि और रचना शिल्प. इलाहाबाद: लोकभारती प्रकाशन. पृ. -52-53

काँगड़ा जनपद के संस्कार-गीतों की संवेदनात्मक मनोभूमि

डॉ. चंद्रकांत सिंह
सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग
हिमाचल प्रदेश केन्द्रीय विश्वविद्यालय, धर्मशाला

शोध सारांश:
प्रस्तुत शोध आलेख का उद्देश्य हिमाचल प्रदेश की लोक संस्कृति या लोक परंपरा का निदर्शन है। यह आलेख हिमाचल प्रदेश के कांगड़ा जनपद पर आधारित है जो अपने पहाड़ी संस्कार, सादगी एवं मिलनसारिता के लिए जाना जाता है। वैश्वीकरण की तेज आंधी जिस तरीके से संस्कृतियों को खंडित कर रही है, उन्हें मिटा रही है ऐसे में लोक को बचाने की जिम्मेदारी सबकी है। प्रस्तुत आलेख यहां के पहाड़ी जीवन की पृष्ठभूमि में लिखा गया है जिसमें हिमाचल के 12 जनपदों की छाया दिखाई पड़ती है । हिमाचल के लोक में लोक गाथा का जो प्रभाव दिखाई पड़ता है उसको तलाशने की कोशिश की गई है, विभिन्न लोकगीत जो मिथक आधारित हैं या राम और कृष्ण की लीलाओं पर आधारित हैं उनके माध्यम से लोक जीवन में उनके प्रभाव को भी देखने की कोशिश की गई है।

समाज में अमीर और गरीब की जो खाई दिखाई पड़ती है, जो विभाजक रेखा दिखाई पड़ती है उसको भी काँगड़ा के एक चर्चित गीत 'गरीबनी दा जाया' के माध्यम से देखने का प्रयास किया गया है जिसमें एक साधारण व्यक्ति प्रयास करता है कि उसको सभी का स्नेह मिले, वह समाज के लिए कारगर भूमिका का निर्वाह प्रस्तुत कर सके। प्रेम की जो विविध स्वरूप हैं उसे वनस्पतियों,जीव-जंतुओं आदि के सहजीवन के माध्यम से प्रस्तुत आलेख में देखने का प्रयास है। जीवन का विविध रुप हर्ष-विषाद की छाया के साथ मिथक और संस्कृति के माध्यम से प्रस्तुत आलेख में परिलक्षित होता है।

बीज शब्द:
लोक, परंपरा, संस्कृति, लोकवार्ता, लोकगाथा, सहजीवन,उत्सव,चैतन्यता, देव-परंपरा

किसी भी देश का लोक वहाँ की अविरल परम्परा एवं संस्कृति का आईना होता है जिसमें उस देश विशेष की संस्कृति उल्लसित होती है। लोक में जीवन की विविध अर्थ-छवियाँ प्रतिध्वनित होती हैं जिसे लोक अपने ढंग से वाणी देता आता है। लोक के विवध स्वर हैं जहां लोक ध्वनित होता है मात्र यही नहीं अपितु जीवन को नई ऊर्जा एवं प्राणवत्ता के साथ अभिव्यक्त भी करता है। लोक में स्थान विशेष की परम्परा न केवल सही रूपाकार ग्रहण करती है बल्कि अपनी सम्पूर्ण बानगी में पल-छिन बदलती भी है। लोक साहित्य के विविध घटक हैं जिनमें लोक-वार्ता, लोक-गाथा एवं लोक-गीतों के सामंजस्य एवं समाहार से लोक पुष्ट एवं साकार होता है। यदि ग्रामगीतों या संस्कार-गीतों की बात करें तो ये न केवल वहाँ की जनता के हृदय संवाहक हैं बल्कि इनमें गोचर-अगोचर सत्ता के विवध रूप एवं अर्थ छटाएँ दिखाई पड़ती हैं जिन्हें लोक साधता है, आभिव्यक्ति प्रदान करता है।

भारतीय लोक का तो कहना ही क्या ! अपूर्व सादगी से भरा यह देश अनगिनत परम्पराओं एवं संस्कृतियों का उत्स है। चाहे बात यहाँ के उत्सवों की हो, वन-प्रान्तर की या यहाँ के निवासियों की एक अपूर्व चारुता के मेल एवं संयोजन से इस दिव्य धरा का परिकर बनता है। भारत केवल भूखंड मात्र नहीं है, यह दैवीय भूखंड है जहाँ दिव्यता एवं चैतन्य दोनों का अद्भुत परस है।जहाँ ज्ञान एवं व्यवहार का, शिष्टता एवं लोक का, प्राचीन एवं नवीन का अद्भुत समाहार है। यहाँ की संस्कृति जितनी पुरानी है उतनी ही यहाँ की लोक-वाणी प्राचीन है जिसमें भाव-भाषा,कला-कौशल, आह्लाद- सौन्दर्य आदि की अद्भुत पच्चीकारी है।

भारतीय संस्कृति एवं उसकी विविधता, देवताओं, ऋषियों की तपश्चर्या पर टिप्पणी करते हुए बाल्मीकी प्रसाद सिंह जी ने सही कहा है कि – "तरह-तरह की भाषाओं और बोलियों, देवी-देवताओं, मूल्यों और मान्यताओं, रीति-रिवाजों और विधि-विधानों, ऐंद्रिकता और तपश्चर्या के सहअस्तित्व के कारण भारतीय संस्कृति के छात्रों को यह देश सम्मोहक भी लगता है; और वे इस विविधता से अचंभित भी हो जाते हैं। भारतीय ऋषियों और अर्हतों द्वारा किया गया उच्च स्तरीय चिंतन, चित्रकारों और कवियों की कल्पनाशीलता और सहजता, मूर्तिकारों वास्तुशास्त्रियों, संगीतकारों, नर्तकों, बुनकरों और कारीगरों की उपलब्धियाँ किसी को भी मुग्ध कर देती हैं। अजंता और एलोरा की गुफाएँ और कई बौद्ध स्तूप 'परम' की,हिन्दू अवधारणा की दैहिक अभिव्यक्तियाँ हैं। यह उस समय और भी स्पष्ट हो जाता है जब हमें पता चलता है कि इन स्थलों की रचना पर्वतों को तक्षित करने की किस महायोजना के साथ हुई थी और इनके जरिए हमने किस प्रकार हिन्दू विचार, स्थापत्य और मूर्तिकला के प्रावधानों के अनुरूप तर्क-बुद्धि और उपासना के भवनों का निर्माण किया है।"[1] भारत जितना अपूर्व है उतने ही सुन्दर एवं मनोहारी यहाँ के सभी राज्य हैं जिनमें विविध कलाओं, प्रतिभाओं एवं लोकचेतना आदि के दर्शन होते हैं। ठीक ऐसा ही सुन्दर एवं अतुलनीय प्रांत है हिमाचल जिसका नाम लेते ही एक ऐसे प्रांत की छवि मन-मस्तिष्क में उभरती है जो प्राकृतिक विरासत से अक्षुण्ण है जिसके चप्पे-चप्पे में एक अद्वितीय आमद है। जहाँ दैवीय चेतना की अजस्र धारा है। कैलाश पर्वत की अकुंठ सुन्दरता, चीड़-देवदार की खुशनुमा वादियाँ हिमाचल के सौन्दर्य का निर्माण करती हैं। यहाँ के लोगों की निश्छलता, अबोधता एवं सादगी यहाँ के पारम्परिक लोकनृत्यों झमाकड़ा, नाटी आदि में बखूबी दिखाई पड़ती है। आज जब बाजारीकरण एवं वैश्वीकरण की तेज आँधी ने पूरे विश्व को गाँव की शक्ल में तब्दील कर दिया है, वहीं लोक को मिटाने एवं संस्कृति को बाज़ार में बदलने की क्रूर मंशा भी जगजाहिर है। ऐसे में आवश्यकता है लोक को बचाने की, हिमाचली लोक से अदबे-बयार की सुखद विरासत को सहेजने की जिससे विखंडित एवं जीर्ण मानव-मन में नई उमंग- चेतना का संचार हो सके।

हिमाचल के 12 जिले अद्भुत लोक-बिम्ब के आगर हैं। इनका कहना ही क्या, काँगड़ा की काँगड़ी, किन्नौर की किन्नौरी,चंबा की चम्बियाली,सिरमौर की सिरमौरी महज लोक-बोलियाँ मात्र नहीं हैं बल्कि इनमें हिमाचली संस्कृति की सादगी, समृद्धि एवं ऐश्वर्यपरकता की वास्तविक झाँकी दिखाई पड़ती है। देव-परम्परा,उत्सवधर्मिता, एवं लोक-रस से भरे हुए हिमाचल के प्रत्येक जिले में सम्मोहन है,एक जादुई भंगिमा है बात यदि काँगड़ा की करें तो त्रिगर्त नाम से विख्यात यह जनपद देवी जालपा की अद्भुत शक्ति एवं चेतना से भरा हुआ है जहाँ लोक की अद्भुत धारा प्रवाहित होती है, पहाड़ी झरने की झर-झर के साथ काँगड़ा के लोगों के अंतर्मन में भी एक गैबी सुन्दरता एवं आह्लादपरकता निथरती हुई दिखाई पड़ती है। सम्पूर्ण काँगड़ा लोक-गीतों एवं जनमगीतों की भावधारा से भरा हुआ एवं उल्लसित है जिसके गीतों के गहरे मर्म को आज के बदलते समय में देखने और समझने की आवश्यकता है। हिमाचली कथाकारों एस.आर. हरनोट, बद्री सिंह भाटिया, मुरारी शर्मा, रेखा वशिष्ठ, चन्द्र रेखा ढडवाल, सुदर्शन वशिष्ठ आदि के लेखन में जहां पहाड़ की समस्याएँ विविधता एवं व्यापकता के साथ दिखती हैं,वहीं जनमेजय सिंह गुलेरिया,करनैल राणा आदि की सुंदर आवाजों में हिमाचल का पहाड़ी लोक सधता है। पहाड़ी लोग कैसे अनथक जीवन की चाप पर संघर्षों भरे गीत उकेरते हैं उसकी पूरी धूम यहाँ के लोक साहित्य में मिलती है। बुरांश के फूलों की महक, चीड़-देवदार की भीनी सुवास के बीच यहाँ के लोग जब उन्मुक्त होकर नाटी गाते हुए झूमते हैं तो उनके भोलेमन की सहज प्रस्तुति होती है। गद्दी जनजाति जब उन्मुक्त होकर भाव-गीत गाती है उसका सुन्दर निदर्शन हिमाचली हिंदी साहित्य में देखने को मिलता है। नवनीत शर्मा, कुमार कृष्ण, सरोज परमार, सुरेश सेन निशांत, आत्मा रंजन,प्रत्यूष गुलेरी,गनेश गनी,राजीव त्रिगर्ती आदि की हिन्दी कविताओं में हिमाचली जीवन का स्पंदन आसानी से महसूस किया जा सकता है। संघर्षों से अटी हुई कविताएँ पहाड़ के लोगों के पहाड़-भर दुःख को दिखाती हुईं आशा-आकांक्षा की मिली-जुली कहानी कहती हैं। इन कविताओं में पहाड़ी स्पंदन की स्नेहिल धार बांसुरी की टेर के साथ उठती है और किन्तु पहाड़ों का अदेखा दर्द, बंध्या नदी की चीत्कार, यहाँ के निवासी ही जानते हैं। ऐसे में हिमाचली लोक अपनी खनक और खिलखिलाहट के साथ आज भी अपनी छटा बिखेर रहा है। पर्वतीय सौन्दर्य, तालों-झरनों के सौन्दर्य के बीच श्रम का अपूर्व राग हिमाचल में सुरक्षित है। आख़िर हो भी क्यों न ! दैवीय चेतना से उद्भासित हिमाचल में देव-संस्कृति का परस और प्रेम आसानी से देखा जा सकता है। यहाँ के पहाड़ी लोगों के उद्दाम साहस एवं खिलखिलाती हँसी को यहाँ के साहित्य में देखा जा सकता है। हिमाचली कथाकारों,कवियों एवं ग़ज़लकारों ने उसे अक्षुण्ण रखा है। प्रस्तुत आलेख में कांगड़ा जिले के संस्कार गीतों की भाव-भूमि को देखने का प्रयास किया गया है। इसी श्रृंखला में 'उड़ेयां वे कागा' एक अनूठा जन्म-गीत है जिसमें ससुराल में बैठी हुई बेटी कौवे कोयल एवं बादलों को दूत बनाकर अपनी माँ को सन्देश भेज रही है। लोक की सबसे बड़ी विशेषता सामूहिकता है जिसमें एकाकीबोध नहीं प्रत्युत सबको साथ लेकर आगे बढ़ने का बोध होता है, कुछ ऐसा ही बोध इस गीत में दिखता है। लोक रीति-रिवाज,परम्परा और आध्यात्मिकता को भी बड़ी सूक्ष्मता एवं अभिव्यंजकता के साथ प्रकट करता है,प्रस्तुत गीत में 'भ्याई' नामक लोकश्रुत देवी का आशीष भी

प्रकट हुआ है, सपने में देखे हुए उन महत्वपूर्ण क्षणों को साझा कर रही है जिसमें उसकी सास और जेठानी मुदित हैं कि वह शीघ्र माँ बनने वाली है।

उड़ेयां वे कागा बडिया भ्यागा, इक सुन्हेड़ा लेई जा।
जाई बोलेयां मेरिया अम्मां नरवेदणिया,धीया जो सुपना होया ऐ।
सुपने दे विच सस सुहागण, हरेयां नरेला लेई आई।
चुप करेयां धीए सर्व सुहागणी, सुपने आई ऐ भ्याई,
जाई बोलेआ मेरिया अम्मां नरवेदणिया,धीया जो सुपना होया ऐ।[2]

गर्भवती स्त्री के मनोभावों को दर्शाता हुआ लोकगीत 'डुग्घी-डुग्घी बासी' देखने योग्य है जिसमें नीची जमीन पर बने घर में रहने वाली स्त्री ऊंचाई पर बने बंगले में रहने की कामना करती है। तभी औचक उसका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है और वह पति से अपनी सास को बुलाने की बात कहती है। इस गीत में जहाँ एक ओर गर्भावस्था में हो रहे चित्त के अवसाद को दर्शाया गया है वहीं सास-ननद एवं जेठानी के साथ दुःख, संताप के गहरे कल्मष को मिलकर दूर करने का भाव भी दिखता है –

डुग्घी-डुग्घी बासी,लगदी उदासी डोला, उच्चेयाँ बंगला पुआई दे।
बंगला पुआई दे, मोरियाँ रखाई दे डोला, विच-विच सीसे जड़ाई दे।
पैड़ियां चड़दियां गेया लसकारा डोला, मेरिया सस्सू सदाई दे।[3]

लोकगीतों में विविध भावदशाएँ परिलक्षित होती हैं चूँकि लोकगीत जन-गीत हैं इसलिए इनमें आमजनता के विविध भाव सहजता के साथ प्रकट होते हैं। समाज में निर्धन व्यक्ति को कई बार हेय दृष्टि से देखा जाता है, जिसके कारण वे समाज की मुख्यधारा का अभिन्न अंग नहीं बन पाता। 'गरीबणी दा जाया' एक ऐसा ही गीत है जिसमें माँ के मन में कई दुश्चिंताएँ एवं दुहस्वप्न घर कर जाते हैं कि उनके गरीब बेटे से कोई ईर्ष्या न करे, उसके लिए अपशब्दों का प्रयोग न करे। कई देवी-देवताओं की अभ्यर्थना के बाद तो वह माँ बनी है, उसका लाल चिरजीवी हो,सबका नेह उसे मिले इस हेतु वह प्रेम निवेदन करती है –

काले महीने दियां न्हेरियां रातीं जन्मेया कृष्ण मुरारी,
नी मत दिंदिया सेइयो गाली, नी मत दिंदिया भैणों गाली,
नी गरीबणी दा जाया जी, गरीबणी दा जाया
कित्तणे देवी-देव मनाए तां ए नेमत पाई,
नी मत दिंदिया सेइयो गाली, नी मत दिंदिया भैणों गाली,
नी गरीबणी दा जाया जी, गरीबणी दा जाया।[4]

काँगड़ा जनपद के सारे उत्सवों में प्रकृति के साथ सहजीवन एवं प्रेम की अनगिनत अवस्थाएं दिखाई पड़ती हैं। पुत्र के जन्मोत्सव के समय सगे-संबंधियों की पगड़ी में हरी दूब भेंट करने की इच्छा का क्या कहना। दादा की पगड़ी में दूब अर्पित कर भेंट करने की प्रथा अद्भुत एवं निराली है –

हरेयां बागां दी मैं द्रुवा मंगानीआं
दादा जी दी पगड़ी सजायो मेरे राम।
बन्न पगड़िया दादा चुखंडिया जो जांदे
धन-धन करदी सुहाई मेरे राम।
हरेयां बागां दी मैं द्रुवां मंगानीआं।[5]

भारत एक उत्सवधर्मी देश है,उत्सव मनाने की एवं उसका सफल निर्वाह करने की अद्भुत प्रथा हमारे देश में देखते बनती है। फिर पारिवारिक उत्सवों का कहना ही क्या! शिशु के जन्म लेने से लेकर उसके विवाह तक की जो समूची यात्रा है वह अत्यंत सुखद रूप धारण करता है उसकी पूरी टोह कांगड़ा के जनगीतों में प्रकट होती है। पुत्र के जन्म लेने के बाद पूरे परिवार में आनन्द की लहर का जो आभास दिखता है वह अतुलनीय है। पुत्र को राम और कृष्ण के प्रतीक रूप में देखने की परम्परा हमारे देश की है। हर मनुष्य देवता कैसे बने ? कैसे उसके चित्त में विधायक विचारों का आगमन हो यह चिंता हमारे लोक की जड़ों में है। 'घर वासुदेवे दे' नामक गीत में जन्मोत्सव के बाद हर्षातिरेक में पिता द्वारा दान करने की प्रथा का सुन्दर वर्णन मिलता है। नन्द पिता गऊओं का दान करते हैं जिनके सींग स्वर्ण जड़ित हैं। कृष्ण रूप बालक को भाट,ब्राह्मणआशीष देते हैं एवं स्त्रियाँ मंगलगीत गाती हैं ताकि बालक चिरजीवी रहे –

घर वसुदेवे दे जन्मेया पुत्तर
जसोदा पलंगै चढ़ी ए ऽ ऽ ऽ ।
नन्द करदा गऊआं दे दान
सोयने दे सिंग मढ़ी ए ऽ ऽ ऽ।
भट्ट ब्राह्मण दिन्दे न सीसां
जीये स्हाढ़ा कृष्ण हरि ए ऽ ऽ ऽ ।
आई तां गेइआं वृज दियां नारां,
सोलह सिंगार करी ए ऽ ऽ ऽ ।[6]

लोक जीवन में अन्तः स्फुरणा दिखाई पड़ती है। मन के भाव,उद्गार लोक-चित्त को भिगोते हैं। रिश्तों को निभाते हुए पूरा जीवन जी लेने की चाह लोक में ही मिल सकती है। कांगड़ा के लोकगीतों की एक अद्भुत सुन्दरता इस बात में है कि कृष्ण लीला के माध्यम से सामान्य जीवन को जोड़कर देखने की चाह यहाँ है। कृष्ण की शरारतों मक्खन चुराना, राधा का हृदय तोड़ना इन प्रतीकों के माध्यम से जीवन को आकंठ जी लेने का भाव यहाँ उभरता है जो न केवल सुन्दर बिम्ब का निर्माण करता है अपितु लोक और शास्त्र की जुगलबंदी का अनूठा पक्ष भी है। जन्मदिवस मानते समय महिलायें कृष्ण की कथा को भी खुलकर गाती हैं जो सराहनीय है –

पत्थारां तां मारी मेरा घड़ा तोड़ेया, नी जसोधा तेरे लाल नैं,
छोटी देई राधकां दा दिल तोड़ेया, नी जसोधा तेरे लाल नैं
हत्थे च गड़वा गंगा जल पाणी, चरण धुआने दी बेल्ला मुख मोड़ेया
नी जसोधा तेरे लाल ने ....
मैं ता तिजो पुच्छदी परीत कियां लाणी हो[7]

काँगड़ा के लोकगीतों की सबसे बड़ी विलक्षणता इस बात की है कि हास परिहास एवं आकर्षण की शैली में कई बार इनका चित्रांकन है। देवर भाभी के बीच हास-परिहास का वातावरण सहज ही दिखाई पड़ता है। पहाड़ में खिलते हुए हुए गोभी के फूल को देखकर भाभी अपने मायके जाने की जिद करती है और देवर भाभी के प्रेम में जान देने की धमकी देता है। संबंधों में उतावलापन एवं बचकानापन कई बार लोकगीतों में सहज ही उभरते हैं -

उची-उची रिड़ियां पत्थरू जे चमके खड्डा बिच चमकेया पाणी

मैं ता तिजो पुच्छदी परीत कियां लाणी हो
सब सब फुलणु फुली समाए धारा फुलेया गोभी
भाबी चली प्योकियां तां देर चलां सौगी हो
उची-उची रिड़ियां पत्थरू जे चमके खड्डा बिच चमकेया पाणी
मैं ता तिजो पुच्छदी परीत कियां लाणी हो[8]

पहाड़ी गीतों में प्रेम के कई रूप दिखाई पड़ते हैं, माता-पिता का प्रेम अपने बालक के प्रति, पति- पत्नी का प्रेम, एक ही परिवेश में रहने वाले रहने वाले रहनवारों का प्रेम आदि। प्रेम की विविध छटाएँ लोकगीतों में दिखाई पड़ती हैं। इस कड़ी में 'जुग जियो धारा देयो गुजरो' नामक गीत बहुत महत्वपूर्ण है। जहां वनरक्षक एवं गुर्जर समुदाय की युवती के बीच पल पल रहा प्रेम यहां दिखाई पड़ता है। युवती कामना करती है कि उसका वनरक्षक बाबू बहुत जिए और लंबी उम्र को प्राप्त हो-

जुग जियो धारा देयो गुजरो
जुग जियो धारा देयो गुजरो
देना मेरे गार्ड जो बसेखा
गार्ड मेरा भोला जंगलाती हो
दिने सदण ता ईंदा राती हो[9]

प्रेम के जो विविध रूप कांगड़ा के लोकगीतों में दिखाई पड़ते हैं,उनमें प्राकृतिक तदाकारिता का बोध है। प्रकृति के साथ मानव जीवन में जो खिलावट आती है वह अभूतपूर्व होती है। प्रकृति के सहचर्य एवं साथ से जीवन महक उठता है। 'कुड़िए इंदर देइए' नामक लोकगीत बहुत महत्वपूर्ण हो जाता है, इस गीत में इंद्र देई नामक एक युवती को पृथ्वी सिंह नामक एक युवक आकर्षित करता है लेकिन इंद्र देई यह जानना चाहती है कि वह व्यक्ति अविवाहित है या विवाहित। प्रेम में जो सहज जानने की इच्छा एवं ऐन्द्रिक आकर्षण कार्य करता है उसी से प्रेम को दृढ़ता एवं स्थायित्व मिलता है। इस गीत में प्रेम को लेकर आकर्षण तो है ही साथ ही बादल और वर्षा के माध्यम से प्रतीकों का सुन्दर निदर्शन है। कांगड़ा के लोकगीतों में जो अनुभूतिमयता है, भाव तरलता है वह अभूतपूर्व है। कैसे भीतर तक अनुभूति को रचने-बसने का मौक़ा मिले कैसे हम वास्तविक सहृदय बन सकें जो सच्चे एवं खरे हों यह बोध भी गीतों का प्राण है। इस गीत में आंखों से गिरने वाले आंसुओं को बदली के रूप में देखने का प्रयास है। युवती प्रेम में पगी हुई पूछती है तुम्हारी पगड़ी को किसने रंगा ? तुम्हारे रुमाल पर कढ़ाई किसने की ? इस सहज प्रश्न पूछने की इच्छा शक्ति में राग का अनोखा निर्वहन है। युवक उत्तर देता है कि मेरी भाभी ने पगड़ी को रंगा है और मेरी नार अर्थात् पत्नी ने रुमाल पर कढ़ाई की है। इतना सुनते ही इन्दर देई को बहुत बुरा लगता है। राग और विराग की हमारे जीवन में जो अहमियत है वह अनूठी है। हम चलते हैं प्रेम की तलाश में और कई बार विराग प्राप्त करते हैं इसकी अनूठी जुगलबंदी जीवन है। प्रस्तुत लोक गीत इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि यह कथा शैली में है। इसमें रिश्तो की अहमियत है, ननद-भाभी का रिश्ता, पति-पत्नी का रिश्ता, देवर-भाभी का रिश्ता जिस पतली डोर में बंधा होता है, भक्ति एवं विश्वास के उन रूपों को एक साथ यह लोकगीत प्रस्तुत करता है। 'कुड़िए इंदर देइए' को केवल गीत कहना गीत की सही पहचान को सीमित करना होगा। असल में यह गीत भर नहीं है बल्कि उससे कहीं आगे रिश्तों में भरोसा, नोक-झोंक, सहृदयता की अद्‌भुत कसौटी है। इस गीत में सौतिया डाह भी दिखाई पड़ता है, प्रश्नों का उत्तर पाकार जब इंद्र देई चिढ़ती है तो वह कहीं हमारी सच्ची मनुष्यता एवं मानवीय दुर्बलताओं को दिखाने वाली बात बनकर उभरता है। पारम्परिक समाज में सौतिया डाह कैसे कार्य करता था, प्रेम कैसे यकायक विराग में बदल जाता था वह इस सुन्दर पारम्परिक लोक गीत में दिखता है –

कुत्थूआं ते उगमी काली बदली, ओ मुंडुआ पिरथी सिंहा
कुत्थूआं ते उगमेया ठंडा नीर वे हां
छातिया ते उगमी काली बादली, ओ कुड़िए इंदरदेइए
नैना ते उगमेया ठंडा नीर वे हां
कुन्ही तां रंगी तेरी पगड़ी, ओ मुंडवा पिरथी सिंहा
कुन्ही तां कडेया रुमाल वे हां
भावो तो रंगीओ मेरी पगड़ी ओ कुड़िए इंदरदेइए
नारा तां कडेया रुमाल रुमाल वे हां[10]

कांगड़ा के संस्कार गीतों में सहजता है, सरलता है। एक ख़ास किस्म का सामाजिक बोध यहाँ दिखता है जो एकाकी बोध नहीं उत्पन्न करता बल्कि समूचे जीवन को उभारने के साथ हंसी-रुदन, मिलन-बिछोह, हर्ष-विषाद, दैहिक-लोकोत्तर के कई रूप दिखाई पड़ते हैं। जीवन के विविध रूप कांगड़ा के लोकगीतों में दिखाई पड़ते हैं जो जन्म से प्रारंभ होते हैं और मृत्यु की समाप्ति तक एक लंबा वितान प्रस्तुत करते हैं। इन गीतों को देखने के बाद यह कहा जा सकता है कि ये गीत नायक नायिका के प्रेम, प्रोषित पतिका नायिका के विरह तक सीमित नहीं है इनकी गीतों में जीवन की हलचल एवं स्पंदन है। इस तरह हम देख पायेंगे कि अपने अपने परिवेश का सूक्ष्म चित्रण करते हुए लोक-मन का यही प्रयास होता है कि पूरेपन के साथ सारे वृत्त-चित्र उभरें जिससे कि इतिहास, मिथक, संस्कृति से होते हुए पूरे जनमानस का साक्षात्कार किया जा सके।

संदर्भ :

1. सिंह, बाल्मीकि प्रसाद, 'संस्कृति,राज्य,कलाएँ और उनसे परे',भूमिका ('लेखकीय'),पृष्ठ संख्या 12
2. गुलेरिया, जनमेजय सिंह, ढडवाल, चन्द्ररेखा, *'लोकभाव स्वरांजली', भाग-एक,* पृष्ठ संख्या-49-50
3. गुलेरिया, जनमेजय सिंह, ढडवाल, चन्द्ररेखा, *'लोकभाव स्वरांजली', भाग-एक,* पृष्ठ संख्या-17
4. गुलेरिया, जनमेजय सिंह, ढडवाल, चन्द्ररेखा, *'लोकभाव स्वरांजली', भाग-एक,* पृष्ठ संख्या- 51-52
5. गुलेरिया, जनमेजय सिंह, ढडवाल, चन्द्ररेखा, *'लोकभाव स्वरांजली', भाग-एक,* पृष्ठ संख्या- 15
6. गुलेरिया, जनमेजय सिंह, ढडवाल, चन्द्ररेखा, *'लोकभाव स्वरांजली', भाग-एक,* पृष्ठ संख्या-23
7. गुलेरिया, जनमेजय सिंह, ढडवाल, चन्द्ररेखा, *'लोकभाव स्वरांजली', भाग-एक,* पृष्ठ संख्या- 143
8. गुलेरिया, जनमेजय सिंह, ढडवाल, चन्द्ररेखा, *'लोकभाव स्वरांजली', भाग-दो,* पृष्ठ संख्या- 125
9. गुलेरिया, जनमेजय सिंह, ढडवाल, चन्द्ररेखा, *'लोकभाव स्वरांजली', भाग-दो,* पृष्ठ संख्या- 39
10. गुलेरिया, जनमेजय सिंह, ढडवाल, चन्द्ररेखा, *'लोकभाव स्वरांजली', भाग-दो,*पृष्ठ संख्या- 109

रहीम दोहावली में नैतिक मूल्य

डॉ. अनिल कुमार
सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग
स्वामी श्रद्धानंद कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

शोध-सारांश:
समाज में संतुलन व मर्यादा बनाए रखने के लिए कुछ विधि- निषेधमूलक, सामाजिक, व्यावहारिक, आचार संबंधी, धार्मिक और राजनीतिक नियमों का निर्माण देश, काल, पात्र और परिस्थिति के संदर्भ में किया जाता है-जो कि परमार्थ भाव को लिए हुये होते हैं। नैतिक मूल्यों की परम्परा और विकास का यही आधार है। नैतिक मूल्यों के विकास के मूल में मानवहित का भाव विद्यमान होता है। इनके द्वारा ही मानव सद् और असद् में अंतर कर सद् का आचरण करता है। रहीम का सम्पूर्ण जीवन मध्यकालीन शासन और समाज की उठा-पटक के चलते अनेक उतार-चढ़ावों से परिपूर्ण रहा। इन्होंने जीवन में राजसी सुख वैभव भोगा तो जीवन का उत्तरार्द्ध अनेक कष्टों एवं यातनाओं से भरा रहा। रहीम राजनीति से सीधे-सीधे जुड़े होने के साथ-साथ एक सहृदय कवि भी थे। वे अपनी कविता में 'रहीम' तखल्लुस में वे अपने नाम से अधिक, अपने तखल्लुस से जाने जाते हैं। उनकी प्रमुख रचना 'दोहावली' है। इसमें वैयक्तिक नीति से ओत-प्रोत दोहे हैं, इन दोहों की संख्या को लेकर विद्वानों में रस्पर मतभेद है। फिर भी आचार्य विद्यानिवास मिश्र और गोविंद राजनीश ने रहीम ग्रंथावली में कुल तीन सौ दोहे रखे हैं। वैयक्तिक नैतिक मूल्यों के अंतर्गत व्यक्तित्व का विकास निहित होता है। नैतिक व्यक्ति काम, क्रोध आदि तामसिक वृत्तियों पर नियंत्रण रखकर जीवन को उच्चतर मार्ग पर ले जाने वाले उदात्त तत्त्वों-वीरता, उदारता, नम्रता आदि के माध्यम से आत्म-विकास को संभव बनाता है। संक्षेप में, वैयक्तिक नैतिक मूल्यों से आशय 'चरित्र बल को बढ़ाने वाले गुणों के ग्रहण और व्यसनों के त्याग से है'।

बीज शब्द :
नैतिकता, कवि रहीम, दोहावली, वैयक्तिकता, सामाजिक चेतना, वैयक्तिक नैतिक मूल्य

नैतिकता समाज की महत्त्वपूर्ण इकाई है। नैतिकता एक मानक एवं विनियामक अनुशासन है क्योंकि नैतिकता मानव कार्यों को विनियमित-निर्देशित करती है। व्यक्तियों के मिलकर रहने एवं एक-दूसरे के प्रति कुछ जिम्मेदारियों के निर्वहन से ही नैतिकता का जन्म होता है। नैतिकता एक तरह से दार्शनिक अवधारणा है जिसके अंतर्गत 'सही' और 'गलत' की अवधारणाओं को व्यवस्थित करने, बचाव या अनुशंसा का भाव निहित रहता है। श्रेष्ठ मानवीय सामाजिक जीवन के लिए नैतिकता एक अनिवार्य शर्त है। प्रत्येक देश, काल, वातावरण के अनुसार नैतिक व्यवहार में विचलन देखने को मिलता है। परंतु फिर भी मोटे रूप में नैतिकता मानवीय आदर्श के निकट होती है और यह आवश्यक रूप से न्यायसंगत खुशी के मार्ग की ओर समाज में वैयक्तिक मार्गदर्शन के साधन के रूप में विकसित अवधारणा है। नवाब अब्दुर्रहीम खानखाना (सन् 1556-1727) स्वयं कवि होने के साथ-साथ कवियों के आश्रयदाता भी थे। मुगलकाल में अनेक महत्त्वपूर्ण प्रशासनिक पदों पर कार्य किया और चार मुगल बादशाहों अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ आदि के शासन की उठा-पटक को स्वयं देखा-झेला। अपनी अंतिम साँस तक ये जुझते रहे। पारिवारिक जीवन की दृष्टि बचपन में पिता का साया सिर से उठ गया। अकबर जैसे कृपालु सम्राट का आर्शीवाद प्राप्त हुआ परंतु मुगल दरबार की राजनीति के कुचक्रों के कारण अनेक कष्ट उठाए। जीवन के उत्तरार्द्ध में पत्नी भी परलोक सिधार गई। जवान बेटों और बेटी की मृत्यु भी इन्होंने अपनी आँखों से देखी, वस्तुतः "रहीम का जीवन उत्कर्षापकर्ष का ऐसा जीवंत दस्तावेज़ था, जिसके एक पृष्ठ पर मान-सम्मान, पद-प्रतिष्ठा, वैभव-ऐश्वर्य, आनंद और दूसरे पृष्ठ पर तिरस्कार, दुःख और पीड़ाएँ। इन्हीं सोपानों से होकर उनकी रचनाशीलता ने अपनी यात्रा तय की थी।"[1]

उन्हीं के शब्दों में उनकी काव्य-यात्रा "रहिमन मैन तुरंग चढ़ि चलिबो पावक माँहि" अर्थात् घोड़े पर सवार होकर आग के भीतर चलने जैसी थी। इन्होंने जिस तरह से जीवन को जिया या उसके खट्टे-मीठे स्वादों को चखा उसी के अनुरुप अपनी काव्य-साधना की। रहीम का काव्य इनके जीवन संघर्षों से निःसृत हुआ है। इसे इनके काव्य में नीति, धर्म, लोक-व्यवहार यानी सामाजिक चेतना के साथ-साथ जीवन के रागात्मक व मार्मिक पक्षों की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। उनके काव्य ग्रंथों में - रहीम दोहावली, बरवै नायिका भेद, बरवै संग्रह, नगर शोभा, मदनाष्टक, श्रृंगार सोरठा, खेटकौतुकम् आदि मुख्य है। इनमें भी 'रहीम दोहावली' मानव जीवन की समग्रता का प्रतिनिधित्व करती प्रतीत होती है। "ये अंतर में भाव और मस्तिष्क की आभा लिए जहाँ एक तरफ अपने कृपाण से विजय के इतिहास की रचना कर रहे थे, वहीं दूसरी तरफ नीति एवं भक्ति की स्याही को अपनी तुलिका में डालकर साहित्य की रचना द्वारा जनमानस में नई ऊर्जा का संचार कर रहे थे।"[2] रहीम के अध्येयताओं, समीक्षकों एवं आलोचकों ने रहीम को नीति, भक्ति, प्रीति और रीति का कवि माना है। इसमें भी प्रधानता नीति की ही है। फलतः इनके काव्य में वैयक्तिक दृष्टि से अनेक महत्त्वपूर्ण नैतिक मूल्य मिलते हैं।

समाज में संतुलन व मर्यादा बनाए रखने के लिए कुछ विधि- निषेधमूलक, सामाजिक, व्यावहारिक, आचार संबंधी, धार्मिक और राजनीतिक नियमों का निर्माण देश, काल, पात्र और परिस्थिति के संदर्भ में किया जाता है-जो कि परमार्थ भाव को लिए हुये होते हैं। नैतिक मूल्यों की परम्परा और विकास का यही आधार है। नैतिक मूल्यों के विकास के मूल में मानवहित का भाव विद्यमान होता है। इनके द्वारा ही मानव सद् और असद् में अंतर कर सद् का आचरण करता है। रहीम का सम्पूर्ण जीवन मध्यकालीन शासन और समाज की उठा-पटक के चलते अनेक उतार-चढ़ावों से परिपूर्ण रहा। इन्होंने जीवन में राजसी सुख वैभव भोगा तो जीवन का उत्तरार्द्ध अनेक कष्टों एवं यातनाओं से भरा रहा। रहीम राजनीति से सीधे-सीधे जुड़े होने के साथ-साथ एक सहृदय कवि भी थे। वे अपनी कविता में 'रहीम' तखल्लुस में वे अपने नाम से अधिक अपने तखल्लुस से जाने जाते हैं। उनकी प्रमुख रचना 'दोहावली' है। जिसमें वैयक्तिक नीति से ओत-प्रोत दोहे हैं।[1] वैयक्तिक नैतिक मूल्यों के नज़रिए से डॉ. रमेश कुंतल मेघ का विचार है कि ''नैतिक मूल्यों के बिना कोई भी सामाजिक जीवन नहीं पनप सकता। इनमें स्व-संरक्षता तथा समाज-व्यवस्था की वृत्ति प्रधान होती है।''[3]

नैतिक शब्द के मूल में 'नीति' है। इसमें नी (णीय्) धातु तथा 'ति' (क्तिन) प्रत्यय है-इसका अर्थ है- 'ले जाना'। परन्तु व्यवहारिक रूप में इसका अर्थ है उचित व्यवहार एवं सदाचार अथवा जीवनयापन का सफल मार्ग, नीति का विशेषण है ''नैतिक'' और नैतिकता उसकी भाववाचक संज्ञा है।

प्रत्येक कवि या साहित्यकार किन्हीं विशिष्ट मूल्यों की स्थापना के लिए ही अपनी कृति या सिद्धांतों का प्रणयन करता है। पाश्चात्य काव्यालोचन में जब 'उदात्त' का सिद्धांत पनपा तो कहा गया कि 'लॉनजाइन्स का उदात्त वर्णन तद्युगीन जीवन में नैतिकता एवं मूल्यों के सतत्-विघटन से उभरने का बौद्धिक प्रयास है।' यही बात प्लेटो और अरस्तु के अनुकरण सिद्धांत, वर्ड्सवर्थ के काव्य-भाषा सिद्धांत आदि के विषय में तथा हिन्दी के अस्मितावादी विमर्शों पर भी लागू होती है। नैतिक-मूल्यों के विकास को मुक्तिबोध के मूल्य विकास के परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है। मुक्तिबोध लिखते हैं कि ''नये मूल्यों का जन्म नयी परिस्थितियों की सार्वजनिकता से होता है। मूल्य अर्मूत्त होते हैं, जो केवल भावुक और वैचारिक धरातल पर मूल्य कहलाकर वस्तुतः व्यक्तित्व का गुण बनने का प्रयास करते हैं। नयी परिस्थितियाँ जब व्यक्तित्व को इष्ट दिशा में सम्पूर्ण रूप में मोड़ देती हैं- अपने तकाजों की पूर्ति के लिए आवश्यक कार्यों की शक्ति जब व्यक्तित्व में पैदा कर देती है, यानी उस परिस्थिति का और विकास जब उस व्यक्तित्व में हो जाता है, तब वे मूल्य साकार हो उठते हैं। मूल्यों को जन्म देने वाली ये परिस्थितियाँ अपनी सार्वजनिकता में ऐतिहासिक हैं। अतएव वे मूल्य भी ऐतिहासिक हो जाते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि नयी परिस्थितियाँ मूल्यों के उदय और विकास की दिशा की द्योतक है।''[4] नैतिक मूल्यों का विकास उपर्युक्त मूल्य विकास से किसी प्रकार भिन्न नहीं है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, इसीलिए आदिकाल से ही मनुष्य अकेला न रहकर समष्टि के अंग रूप से रहता आया है। समष्टि का अंग होने से इसका अस्तित्व समाप्त नहीं होता बल्कि वह व्यक्ति और समष्टि दोनों व्यक्तित्वों में सम्यक् विभक्त हुआ दिखाई देता है। यही कारण है कि मनुष्य के नैतिक संबंध अंतर्मुखी तथा बहिर्मुखी दोनों रूपों में विकसित होते हैं। उसके अपने प्रति कुछ कर्त्तव्य होते हैं जिनके आधार पर वह कुछ आचरणों को अपनाता है। इन आचरणों के साथ-साथ उसे बहिर्मुखी कर्त्तव्यों का ध्यान रखना होता है। उसके संबंध वातावरण की निकटतम इकाई-परिवार से समाज की ओर तथा समाज से राष्ट्राभिमुख होता हुआ उस परिधि में पहुँच जाता है जहाँ व्यष्टि और समष्टि के बीच प्रत्यक्षतः दृश्यमान भेद लुप्त हो जाता है और मनुष्य एक व्यापक सर्वसामान्य मानवता के स्तर पर पहुँच जाता है। विभिन्न परिस्थितियों में देश, काल तथा पात्र के अनुसार पारस्परिक आदान-प्रदान की प्रक्रिया का सहारा भी मानव को बहिर्मुखी कर्त्तव्यों की पूर्ति के लिए लेना ही पड़ता है। इसी प्रक्रिया में उसकी सामाजिक अक्षुणता का रहस्य निहित है। इन समस्त संबंधों को दृष्टि में रखते हुये उसे विविध आचार-विधान को अपनाना पड़ता है।

जिसके अनुसार नैतिक-मूल्यों के अनेक भेद या रूप माने जाते हैं। सुविधा की दृष्टि से समस्त नैतिक मूल्यों को हम आठ शीर्षकों के अंतर्गत समेट सकते हैं, जो निम्नलिखित हैं-

1. वैयक्तिक नैतिक मूल्य,
2. पारिवारिक नैतिक मूल्य,
3. सामाजिक नैतिक मूल्य,
4. आर्थिक नैतिक मूल्य,
5. धार्मिक नैतिक मूल्य,
6. राष्ट्रीय और राजनीतिक नैतिक मूल्य
7. सार्वभौम नैतिक मूल्य और
8. विविध विषयक नैतिक मूल्य

वैयक्तिक नैतिक मूल्य से तात्पर्य मनुष्य की उस स्वाभाविक विवेक-शक्ति से है, जिसके आधार पर वह अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्धारण करता है। चूंकि व्यक्ति समाज की इकाई है। उसका आचरण अन्ततः सामाजिक एवं मानवीय नैतिकता की ही स्थापना करता है। अतः सामाजिक प्रभावों के कारण ही व्यक्ति को निजी आचरण के प्रति सजग रहना पड़ता है। सामान्यतः यदि वैयक्तिक नैतिक मूल्य से तात्पर्य समूह से पृथक स्वतंत्र विचार-सरणी से लेँ तो व्यक्तित्व का नैतिक मूल्यों से कोई संबंध नहीं है। वैयक्तिक नैतिक मूल्य निःसंदेह, मनुष्य के आत्मिक एवं आंतरिक आचरण से संबंधित हैं, परन्तु उसकी आचार-पद्धति अधिकांशतः समाज की ही देन है। नैतिक गुण व्यक्ति को जन्मजात नहीं वरन् समाज से प्राप्त होते हैं। यही कारण है कि उनके उल्लंघन का प्रभाव सम्पूर्ण समाज-व्यवस्था पर पड़ता है।

वैयक्तिक नैतिक मूल्यों के अंतर्गत व्यक्तित्व का विकास निहित होता है। नैतिक व्यक्ति काम, क्रोध आदि तामसिक वृत्तियों पर नियंत्रण रखकर जीवन को उच्चतर मार्ग पर ले जाने वाले उदात्त तत्त्वों-वीरता, उदारता, नम्रता आदि के माध्यम से आत्म-विकास को संभव बनाता है। संक्षेप में, वैयक्तिक नैतिक मूल्यों से आशय 'चरित्र बल को बढ़ाने वाले गुणों के ग्रहण और व्यसनों के त्याग से है'।

रहीम दोहावली में वैयक्तिक नैतिकता की दृष्टि से अनेक महत्त्वपूर्ण मूल्य - मधुर वचन एवं विद्या, दया, प्रेम, दान, आत्म-सम्मान, परोपकार, उद्यम, उचितानुचित विवेक, संगति का प्रभाव, शत्रु-मित्र, मित्रता, अवसरानुकूल वचन एवं व्यवहार, बात करने की रीति आदि संबंधी अनेक मूल्य मिलते हैं। संक्षेप में, रहीम के वैयक्तिक नैतिक मूल्यों का विवरण इस प्रकार है-

मधुर वचन- वैयक्तिक नैतिकता की दृष्टि से व्यक्ति के पास मधुर वचन एक ऐसा शस्त्र है जिससे वह अन्य लोगों के हृदय पर शासन कर सकता है। इस संबंध में एक कहावत भी प्रचलित है कि 'जबान ही चढ़ावै हाथी, और जबान ही कटावै सिर' क्योंकि व्यक्ति के कटु वचन विष का कार्य करते हैं, और 'मधुर वचन' अमृत का। इसलिए रहीम कहते हैं-

"रहिमन रिस को छांड़ि कै, करो गरीबी भेस।
मीठो बोलो नै चलो, सबै तुम्हारो देस।।"[5]

यानि क्रोध एवं अहंकार को त्याग कर 'गरीबी-भेस' अर्थात् सहज-सरल हो जाओ और मीठा बोलोगे तो इससे संपूर्ण देश तुम्हारा हो जाएगा। अन्यथा "रहिमन जिह्वा बावरी"[6] -के अनुरूप जब यह वाणी अपनी मधुरता को छोड़कर कटुता को ग्रहण कर लेती है, तो जीभ अनाप-शनाप बक कर मुख में छिप जाती है और सिर को जूतियाँ खानी पड़ती हैं। इसलिए हमें जिह्वा का यथासंभव मधुरता और संयमपूर्ण ढंग से प्रयोग करना चाहिए। यह वाणी ऐसी है जो बनते काम को भी बिगाड़ सकती है और यदि एक बार बात बिगड़ जाये तो जैसे फटे दूध को मथने से मक्खन नहीं निकलता, उसी प्रकार बिगड़ी बात भी नहीं बनती-

"बिगरी बात बनै नहीं, लाख करौ किन कोय।
रहिमन फाटे दूध को, मथे न माखन होय।।"[7]

वास्तव में, मधुर वचन व्यक्ति के जीवन में सफलता की चाबी है। क्रोध की दंशता 'मीठे बोलों' से उसी प्रकार जाती रहती है जैसे मिश्री से 'बाँस की फाँस'[8] भी मीठी हो जाती है। अतः व्यक्ति को सदैव अमृत-सम मधुर वचन ही बोलने चाहिए।

गुण एवं विद्याः- संस्कृत साहित्य में 'विद्या, तप, ज्ञान और शील' से वंचित व्यक्ति को पशुवत् बताया गया है। कहने का भाव यह है कि व्यक्ति को अपने सतत् प्रयासों से गुण एवं विद्या का अर्जन करते रहना चाहिए। रहीम का भी यही कथन है कि 'जिस मनुष्य के पास विद्या और बुद्धि नहीं है। धर्म, यश और दान देने के लिए संपत्ति नहीं है। ऐसे मनुष्य ने व्यर्थ ही इस पृथ्वी पर जन्म लिया है और वह पूँछ एवं सींग के न होते हुये भी पशुवत् है-

"रहिमन विद्या बुद्धि नहिं, नहीं धरम, जस, दान।
भू पर जनम वृथा धरै, पसु बिनु पूँछ विषान।।"[9]

रहीम गुणहीन व्यक्ति की तुलना देसी कुत्ते से करते हैं, जो न देखने में सुंदर लगता है, न वह गुणवान होता है। इतना ही नहीं वह शिकार में भी रुचि नहीं लेता। वह तो केवल अपना पेट भरने के लिए ही यत्र-तत्र घूमता रहता है।[10]

बात करने की रीति- रहीम ने जीवन में अनेक परिस्थितियों को भोगा था, झेला था। यही कारण है कि रहीम ने लोगों को अपने काव्य में बात करने की रीति भी सिखाई है। हम जब देखें तब यहाँ-वहाँ अपने प्रियजनों को उपदेश देते रहते हैं। यह भी नहीं देखते कि वह व्यक्ति हमारी बात मानेगा भी या नहीं। इस संबंध में रहीम बात करने की रीति बताते हुये कहते हैं-

"अन कीन्हीं बातैं करै, सोवत जागै जोय।
ताहि सिखाय जगायबो, रहिमन उचित न होय।।" [11]

अक्सर लोग अपने वंश, जाति और धन-दान आदि की श्रेष्ठता का बखान करते रहते हैं। जबकि आज (वर्तमान में) इन बातों का कोई महत्त्व नहीं रह गया है। लेकिन ऐसे लोगों के मुख पर एक ही बात होती है-"हम पहले ऐसे थे ... हमने यह किया ... हमने वह किया ...' आदि। ऐसे लोगों की तुलना रहीम क्वार के थोथे बादलों[12] से करते हैं। हमें 'आगे की सुधि लेय' के अनुरूप वर्तमान में जीना चाहिए, वर्तमान की बातें करनी चाहिए। इस संबंध में एक बात और है, कुछ लोग जब देखो तब अपनी विपत्तियों का रोना रोते रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों के लिए रहीम का निर्देश है कि अपने मन की व्यथा को अपने मन में ही रखना चाहिए क्योंकि-

सुनि अठिलैहैं लोग सब, बाँटि न लैहैं कोय।।"[13]

दान, त्याग, दया- वैयक्तिक गुणों की दृष्टि से व्यक्ति को सरल, सफल और श्रेष्ठ जीवन जीने के लिए दान, त्याग, परोपकार और उद्यम जैसे गुणों को आत्मसात् करना चाहिए। रहीम ने अपने अनेक दोहों में इन गुणों को अपनाने का निर्देश दिया है। यह प्रकृति का नियम है कि सभी के पास सभी चीजें पर्याप्त मात्रा में नहीं होती। विद्वानों ने इस पर्याप्तता के अभाव को दूर करने का एक तरीका सुझाया- दान और त्याग। संस्कृत साहित्य में दान न करने वाले व्यक्ति को पशुवत् बताया गया है। धन की सार्थकता तभी है जब व्यक्ति दान दे सकने में समर्थ हो। इस संबंध में रहीम कहते हैं कि-

"तरूवर फल नहिं खात हैं, सरवर पियहिं न पान।
कहि रहीम पर काज हित, संपति सँचहि सुजान।।" [14]

दया- धार्मिक एवं पौराणिक ग्रंथों में दया भाव के अनेक उपदेश दिये गये हैं। रहीम 'श्रीराम' की दयालुता का वर्णन करते हुये कहते हैं-

"दुख नर सुनि हाँसी करै, धरत रहीम न धीर।
कही सुनै सुनि सुनि करै, ऐसे वे रघुवीर।।"[15]

अर्थात् वे 'रघुवीर' ऐसे दयालु हैं कि वे दुःखी व्यक्ति की बातों को सुन-सुनकर उसकी सहायता करके, उसके दुःखों का निवारण कर देते हैं।

निःस्वार्थ भाव से दूसरों का हित-साधन करना परोपकार है। परोपकार से व्यक्ति को एक ओर आत्म-संतोष मिलता है तो दूसरी ओर यश की प्राप्ति होती है। लेकिन परोपकार कोई टॉफी या 'स्वीट कैंडी' नहीं है, जिसका आनंद व्यक्ति रैपर उतारकर आसानी से ले ले। इसके लिए तो कई बार प्राणों पर भी बन आती है, जैसे-

"रहिमन पर उपकार के, करत न यारी बीच।
माँस दियो सिवि भूप ने, दीन्हों हाड़ दधीच।।"[16]

अर्थात् परोपकारी मनुष्य को किसी चीज से मोह नहीं होता, अपने प्राणों से भी नहीं। इसलिए तो राजा शिवि ने कबूतर रूपी 'अग्निदेव' की रक्षार्थ बाज रूपी इन्द्रदेव को अपने शरीर का सारा माँस काटकर दे दिया था तथा महर्षि दधीचि ने देवताओं की रक्षा और वृत्रासुर के वध हेतु अपनी अस्थियाँ देवताओं को वज्र बनाने के लिए दान में दे दी थीं। परोपकार का संदेश देते हुये रहीम व्यक्ति को रस्सी और घड़े जैसा बनने के लिए कहते हैं। रस्सी और घड़ा क्रमशः टूटने और फूटने का भय त्याग कर औरों को पानी पिलाते हैं-

"रहिमन रीति सराहिए, जो घट गुन सम होय।
भीति आप पै डारि कै, सबै पियावै तोय।।"[17]

परोपकार से केवल औरों का ही कल्याण होता हो ऐसी बात नहीं है बल्कि इससे परोपकारी व्यक्ति भी उसी प्रकार लाभान्वित होता है, जिस प्रकार मेंहदी बाँटने वाले व्यक्ति के हाथ में स्वयं ही मेंहदी लग (रच) जाती है।[18] जो व्यक्ति सक्षम होते हुये भी लोक-कल्याण की ओर ध्यान नहीं देते, परोपकार का कार्य नहीं करते, उनके विषय में रहीम कहते हैं कि-

"जो घर ही में घुस रहे, कदली सुपत सुडील।
त रहीम तिनतें भले, पथ के अपत करील।।"[19]

अर्थात् सुंदर चमकीले पत्तों और अच्छे डीलडौल वाला केला यदि अपने ही घर में घुसा रहे, किसी के काम न आये तो उससे श्रेष्ठ पथ (रास्ते) में उगे हुये बिना पत्ते वाला करील ही हैं, जिसके फल आसानी से उपलब्ध हो जाते हैं। 'तरुवर फल नहीं खात हैं, सरवर पियहिं न पान' कहकर रहीम परोपकारी मनुष्यों के स्वभाव को बताते हैं।

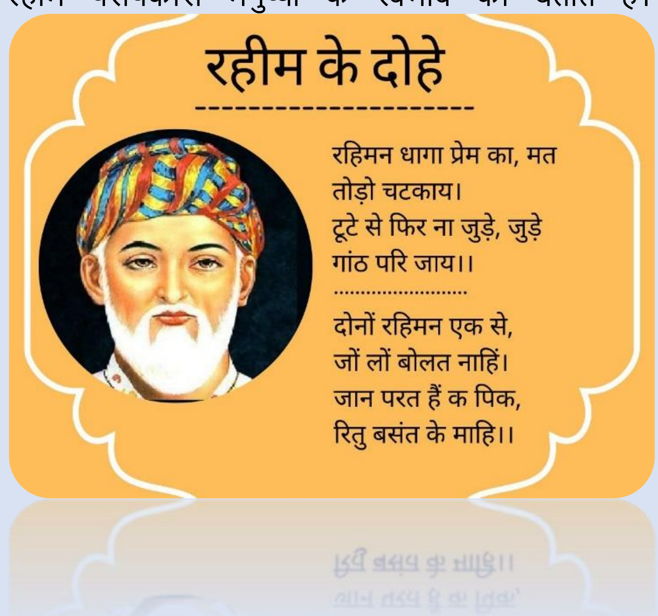

उद्यम या प्रयत्न: उद्यम व्यक्ति का एक विशिष्ट गुण है। इस जगत् में लौकिक पारलौकिक सभी कार्य उद्योग (उद्यम) के द्वारा सिद्ध होते हैं, आलस्य के द्वारा नहीं। संस्कृत में 'उद्यमेनैव हि सिद्धयंति कार्याणि न मनोरथैः' कहकर व्यक्ति को उद्यम अर्थात् कर्म-क्षेत्र में प्रवृत्त होने के लिए प्रेरित किया गया है। महाभारत के शांतिपर्व में उल्लेख मिलता है कि "इस संसार में अकर्मण्यता सुखरूप प्रतीत होती है किंतु उसका अंत सदैव दुःखदायी है। कार्यदक्षता

दुःखरूप प्रतीत होती है किंतु उसका परिणाम सुखदायक है। ऐश्वर्य, लक्ष्मी, लज्जा, धैर्य और कीर्ति- ये सभी गुण उद्योगशील पुरुष में निवास करते हैं, आलसी में नहीं।"[20] कविवर रहीम व्यक्ति को उद्यमशील होने की प्रेरणा देते हुये कहते हैं कि, अनउद्यमी या कर्महीन लोगों के समक्ष जीवन में लाभप्रद संसार के समस्त पदार्थ हैं, लेकिन वे उनका आनंद नहीं ले सकते। उनकी स्थिति उसी चोर जैसी होती है जो धन-धान्य से परिपूर्ण घर में घुस तो जाता है परंतु वहाँ से लेकर कुछ भी नहीं जा पाता। वह अत्यधिक लाभ की चिंता में ही रातभर जागता रहता है और सुबह हो जाती है-

"करम हीन रहिमन लखो, धँसों बड़े घर चोर।
चिंतत ही बड़ लाभ के, जागत ह्वै गो भोर।।"[21]

यह 'उद्यम' का ही फल है कि 'तलवार' पर न तो अधिकार लोहे का होता है, जिससे वह बनी है और न लोहार का, जिसने उसे बनाया है। उस पर उसी वीर का अधिकार होता है, जो उससे अपने शत्रु का विनाश करता है-

"लोहे की न लोहार की, रहिमन कही विचार।
जो हनि मारे सीस में, ताही की तलवार।।"[22]

आत्म-सम्मान- आत्म-सम्मानवश रहीम कहते हैं कि 'अमी पियावत मान बिनु' अर्थात् यदि कोई मुझे मान के बिना अमृत पिलाये तो वह भी मुझे स्वीकार नहीं है और इसके विपरीत यदि कोई मुझे मान सहित विष पिलाये तो वह सहर्ष स्वीकार है। मान-सहित मरना उस जीवन से श्रेष्ठ है, जो निरादर होते हुये भी जिया जाता है।[23] उनकी मान्यता है कि हमें कहीं भी जब तक ही रहना चाहिए तब तक मान-सम्मान मिलता रहे-

"रहिमन रहिबो वा भलो, जौ लौं शील समूच।
सील ढील जब देखिए, तुरत कीजिए कूच।।"[24]

रहीम ऐसे राजाश्रित होने की भी निंदा करते हैं जिसकी कुछ भी प्रतिष्ठा नहीं होती। ऐसे राज से करोड़ों रुपये की प्राप्ति पर भी धिक्कार है-

"आदर घटे नरेस ढिंग, बसे रहे कछु नाहिं।
जो रहीम कोटिन मिले, धिग जीवन जग माहिं।"[25]

उचितानुचित विवेक- सामान्य जीवन में वैयक्तिक दृष्टि से उचितानुचित विवेक का होना बहुत ज़रूरी है। जीवन में अनेक ऐसे प्रसंग आते हैं जब हम उचितानुचित के द्वंद्व में फँस जाते हैं और सही फैसला नहीं ले पाते। इस संबंध में आज का युवा-वर्ग विशेष रूप से उचितानुचित के द्वंद्व से ग्रस्त है। यह वर्ग समाज और राष्ट्र-विरोधी गतिविधियों में संलिप्त होकर अपने और अपने राष्ट्र के जान-माल को क्षति पहुँचाता दिखता है। रहीम चूँकि जीवन के अनेक स्वादों के यथार्थ भोक्ता थे। इसलिए वे व्यक्ति को चेताते हैं कि-

"समय परे ओछे बचन, सब के सहै रहीम।
सभा दुसासन पट गहे, गदा लिए रहे भीम।।"[26]

अर्थात् परिस्थितियों के अनुरूप व्यक्ति को सभी के तुच्छ वचन और अनुचित व्यवहार को सहन कर लेना चाहिए। हमें समय के फेर को समझना चाहिए -

"अब रहीम चुप करि रहउ, समुझि दिनन को फेर।
जब दिन नीके आइ हैं, बनत न लगि है देर।।"[27]

जीवन में याचकता को निंदनीय माना गया है। रहीम कहते हैं कि मांगने से "बड़ो छोट ह्वै जात"[28] लेकिन असमय या विपत्ति पड़ने पर माँगने में कोई हानि नहीं है-

"असमय परे रहीम कहि, माँगि जात तजि लाज।
ज्यों लछमन माँगन गये, पारासर के नाज।।"[29]

प्रेम- वैयक्तिक नैतिक मूल्य की बात हो और उसमें 'प्रेम' जो कि पूर्णतः वैयक्तिक चीज है, का जिक्र न हो तो कुछ अधूरा-सा प्रतीत होता है। प्रेम मानव-मन का एक कोमल भाव है। यह प्रेम-भाव वह सुखद अनुभूति कही जा सकती है -"जो किसी अन्य व्यक्ति, अन्य जीव या पदार्थ के सौंदर्य गुण, शील, सामीप्य आदि के कारण उत्पन्न होती है।"[30] प्रेम भाव की यह एक बहुत बड़ी विशेषता है कि "उसमें किसी-न-किसी प्रकार से आनंद का अंश बराबर बना रहता है।"[31] यहाँ पर प्रेम का अर्थ स्त्री-पुरुष के सांसारिक संबंध से है। रहीम ने जीवन में प्रेम किया था और संभवतः प्रेमियों की मनःस्थिति का निकट से निरीक्षण किया था। इससे इनके काव्य में प्रेम संबंधी अनेक नैतिक मूल्य दृष्टिगत होते हैं। प्रेम में प्रेमी की दशा को या तो अपना जी समझ पाता है या वह जिसने जीवन में कभी प्रेम किया हो-

"अन्तर दाव लगी रहै, धुँआ न प्रगटै सोई।
कै जिय आपन जानहीं, कै जिहिं बीती होइ।।"[32]

प्रेम में प्रेमी अपनी मनःस्थिति को किसी से छिपा नहीं पाता। इसलिए रहीम कहते हैं कि 'खैर, खून, खांसी, खुशी, बैर, प्रीति, मदपान'[33] - किसी प्रकार छिप नहीं सकता। मानव-जीवन में एकनिष्ठ और निःस्वार्थ प्रेम को श्रेष्ठ माना गया है। लेकिन आज प्रेम स्वार्थ का रूप लेता जा रहा है। जो लोग प्रेम-मार्ग पर किसी स्वार्थ को लेकर चलते हैं, वे अंततः असफल ही होते हैं। क्योंकि प्रेम मार्ग अत्यंत दुरुह है। इस प्रेम के कठिन मार्ग पर शुद्ध हृदय और निःस्वार्थी ही चल सकते हैं-

"लालन मैन तुरंग चढ़ि, चलिबो पावक माँहि।
प्रेम-पंथ ऐसो कठिन, सब कोउ निबहत नाँहि।।"[34]

अर्थात् प्रेम करना कामदेव के घोड़े पर बैठकर अग्नि में चलने के समान है। प्रेम में तादात्म्यता आवश्यक है क्योंकि जब प्रेम में दो प्रेमी अपने-अपने रूप-गुण को परस्पर तादात्म्य कर लेते हैं तो एक अलग ही रंग, आनंद उत्पन्न होता है-

"रहिमन प्रीति सराहिए, मिलें होत रंग दून।
ज्यों जरदी हरदी तजै, तजै सफेदी चून।।"[35]

प्रेम में ऐसा भी होता है और अक्सर ऐसा ही होता है कि 'जिससे आपको प्रेम हो जाता है, वह आपको कोई मान्यता नहीं देता।

प्रेम का ही एक रूप 'विवाह' या 'दाम्पत्य' जीवन है। विवाह संबंध स्त्री-पुरूष के सहज नैसर्गिक आकर्षण और यथासंभव एक-दूसरे की ज़रूरतों को ध्यान में रखना है। विवाह संबंधों को जाति-धर्म से जोड़कर देखना दरअसल अनैतिकता है जो अनुदारता और कट्टरता का पोषण करती है। इतना ही नहीं विवाह में स्त्री-पुरुष परस्पर सम्बद्ध होते हुये यह देखते हैं कि एक-दूसरे के पास कितना रुपया-पैसा है, कितनी प्रोपर्टी है, सामाजिक स्थिति कैसी है आदि। आज दो प्रेमियों के परस्पर विवाह सूत्र में सम्बद्ध होते समय स्वार्थता ही स्वार्थता दिखाई देती है। इसलिए रहीम कहते हैं-

"कहि रहीम या जगत तें, प्रीति गई दै टेर।
रही रहीम नर नीच में, स्वारथ स्वारथ हेर।।"[36]

अर्थात् अब प्रेम में केवल स्वार्थ साधन रह गया है। प्रेम में मछली और भौंरे का उदाहरण बहुत दिया जाता है। रहीम कहते हैं कि प्रेम में प्रेमियों का स्वभाव 'मीन' जैसा होना चाहिए। जो जल के विरह को जरा भी नहीं सह पाती और प्राण त्याग देती है। दूसरी ओर 'भौंरा' है जो अपने प्रेम-पात्र के होते हुये अन्यत्र प्रेम-प्रसंग रचाता है।"[37] इसलिए मीन का प्रेम आदर्श और भौंरे का प्रेम स्वार्थी माना जाता है। 'मीन' का प्रेम आज के संदर्भों में आदर्श तो माना जाता है लेकिन व्यावहारिक नहीं। बहरहाल, कुछ भी हो प्रेम में प्रेमी ने धोखा खाया हो या एक प्रेमी ने अपने प्रियतम के रहते अन्य प्रिय से संबंध जोड़ लिया हो जीवन में प्रेम का महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि -

"रीति प्रीति सब सों भली, बैर न हित मित गोत।
रहिमन याही जनम की, बहुरि न संगति होत।।"[38]

मित्रता -वैयक्तिक जीवन में मित्रों का महत्त्वपूर्ण स्थान हैं। वैयक्तिक दृष्टि से माता-पिता, भाई-बहन, चाचा-मामा आदि संबंध हमें विरासत में मिलते हैं सिवाय मित्रता के। मित्र (अच्छे मित्र) विपत्ति में ईश्वर के समान सहायक सिद्ध होते हैं। जिस प्रकार दूध और जल की मित्रता में दूध जल को भी अपने ही जैसा बना लेता है, उसी प्रकार सज्जन अपने मित्र को अपनाकर अपना ही आत्म-रूप बना लेता है। और जल जैसे अपने मित्र दूध की रक्षा के लिए अग्नि की सारी जलन स्वयं सहता है, उसी प्रकार सज्जन मित्र भी अपने मित्र की रक्षार्थ स्वयं को बलि चढ़ा देता है-

"जलहिं मिलाय रहीम ज्यों, कियो आपु सम छीर।
अँगवहि आपुहि आप त्यों, सकल आँच की भीर।।"[39]

मित्रता में सब बराबर होते हैं, कोई बड़ा या छोटा नहीं होता-"कहाँ सुदामा बापुरो, कृष्ण मिताई जोग।"[40] लेकिन आज जीवन में कृष्ण-सुदामा वाली मित्रता कहीं नहीं दृष्टिगत होती। इसलिए रहीम कहते हैं कि-

"कहि रहीम सम्पति सगे, बनत बहुत बहु रीत।
बिपति कसौटी जे कसे, ते ही साँचे मीत।।"[41]

यानि जीवन में शत्रु और मित्र की पहचान भी तभी होती है, जब उनसे कोई काम आ पड़ता है, अन्यथा 'काक-पिक' के समान दोनों रहिमन एक से' लगते हैं।[42] इस प्रकार मित्रता की दृष्टि से रहीम ने अपने काव्य में अनेक महत्त्वपूर्ण नैतिक मूल्यों की स्थापना की है, जो आज बहुत प्रासांगिक है।

संगति- वैयक्तिक नैतिकता की दृष्टि से संगति का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। संगत या संगति से तात्पर्य है- हम कैसे लोगों में उठते-बैठते हैं, कैसे लोगों से हमारी मित्रता है। कहा जाता है – 'A man known by his company that he kept' 'एक व्यक्ति को उसकी संगति से ही जाना जाता है।'

रहीम कहते हैं कि कुसंगति के प्रभाववश सभी वैसे ही कलंकित हो जाते हैं जैसे कि शराब बेचने वाले के हाथ में दूध को भी शराब ही समझ लिया जाता है-

"रहिमन नीचन संग बसि, लगत कलंक न काहि।
दूध कलारी कर गहे, मद समुझै सब ताहि।।"[43]

कुसंगति या नीच लोगों के साथ रहने से सदैव लाभ के स्थान पर हानि ही होती है। यह संत्-संगति और कुसंगति की ही महिमा है कि जो स्वाति नक्षत्र की बूंद सीप में पड़कर मोती, केले के पत्तों पर पड़कर कपूर और चातक का जीवन-आधार बनती है। यानि चातक को जीवन प्रदान करती है, वही स्वाति नक्षत्र की बूंद साँप के मुख में पड़कर विष बन जाती है-

"कदली, सीप, भुजंग मुख, स्वाति एक गुन तीन।
जैसी संगति बैठिए, तैसोई फल दीन।।"[44]

इसलिए कहा जाता है कि संगति के ही कारण 'महिमा घटी समुद्र की, रावन बस्यो परोस'[45] क्योंकि रावण-वध हेतु श्रीराम ने समुद्र (जो अजय समझा जाता था) पर पुल बाँध दिया। सज्जनों की संगति दूध और पानी जैसी होती है जिनमें एक दूसरे को अपना स्वरूप देता है, तो दूसरा अपने मित्र की रक्षा के लिए स्वयं बलि हो जाता है-

" जलहिं मिलाय रहीम ज्यों, कियो आपु सम छीर।
अँगवहि आपुहि आप त्यों, सकल आँच की भीर।।"[46]

अभिमान- विद्वानों ने अभिमान या गर्व की धर्म और व्यवहार दोनों दृष्टियों से निंदा की है, तथा इसे त्याज्य बताया है। रहीम अभिमान या अहं भाव को भक्ति और प्रेम की दृष्टि से सर्वथा घृणित और निंदनीय मानते हैं-

"रहिमन गली है साँकरी, दूजो न ठहराहिं।
आपु अहै तो हरि नहीं, हरि तो आपुन नाहिं।।"[47]

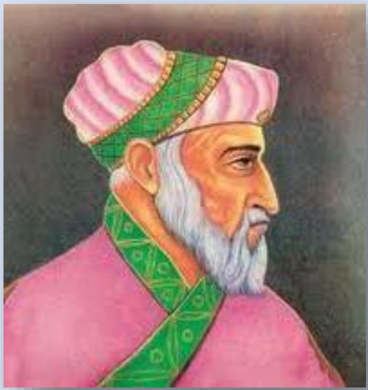

इस प्रकार वैयक्तिक नैतिकता की दृष्टि से अनेक नैतिक मूल्य रहीम के काव्य में उपलब्ध होते हैं। रहीम के काव्य में वैयक्तिक नैतिकता की दृष्टि से हमें जिन मूल्यों को अपनाना चाहिए, वे ही प्राप्त नहीं होते बल्कि इनके काव्य में कुछ मूल्य ऐसे भी प्राप्त होते हैं, जिन्हें हमें वैयक्तिक रूप से त्यागना चाहिए। जैसे- मूर्खता, स्वार्थ, अभिमान, अति, छल-कपट, याचकता आदि संसार में मूर्खों की संख्या विद्वानों की अपेक्षा अधिक है। मूर्ख व्यक्ति कभी भी सम्मान का अधिकारी नहीं होता, उसकी सदैव उपेक्षा होती है। वह सदैव हास्य का पात्र बनता है। रहीम की उक्ति है कि 'मूर्खों की मंडली' में सज्जन को अधिक देर तक नहीं ठहरना चाहिए- *मूढ़ मंडली में सुजन, ठहरत नहीं बिसेषि।*[48] इस प्रकार रहीम ने अपने काव्य में वैयक्तिक नैतिक मूल्यों की दृष्टि से अनेक आदर्शों की स्थापना की है। इनमें से अधिकांश ग्रहणीय हैं तो कुछ त्याज्य हैं। वे वास्तव में व्यक्ति के व्यक्तित्व को इस प्रकार बनाने के लिए प्रयत्नशील दिखते हैं, जिससे कि व्यक्ति की सभी बुराइयाँ दूर करके एक उत्तम समाज की स्थापना की जा सके। इस हेतु रहीम मनुष्य को समझाते हैं कि-

> *"रहिमन या तन सूप है, लीजै जगत पछोर।*
> *हलुकन को उड़ि जान दै, गरुए राखि बटोर।।"*[49]

अर्थात् 'हे मनुष्य! तू इस मनुष्य योनि रूपी छाज से सांसारिक विषयों को फटककर देख ले। इसमें जो असार तत्त्व हैं उनको त्याग दे या समाप्त हो जाने दें, और जो सारवान हैं, उनको ग्रहण कर ले।वैयक्तिक नैतिक मूल्य व्यक्ति के विकास को बढ़ावा देने वाले गुणों को ग्रहण करने पर बल देते हैं। ये पतन की ओर ले जाने वाले व्यसनों को त्याग कर चरित्र-बल को वृद्धित करने वाले गुणों को ग्रहण करने की वकालत करते हैं। एकाकी व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं होता। कहा भी गया है कि समाज से अलग अकेला व्यक्ति या तो ईश्वर है या शैतान। अतः आज समाज में अच्छे जीवनयापन के लिए व्यक्ति को कुछ वैयक्तिक कर्त्तव्यों का पालन करना ही पड़ेगा।

संदर्भ :

1. *रहीम आधुनिक संदर्भ:* केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा, पृ.-106
2. वही, पृ.-139
3. कुंतल मेघ, डॉ. रमेश, *सौंदर्य मूल्य और मूल्यांकनः* पृ.-49
4. मुक्तिबोध, *नई कविता का आत्मसंघर्ष और अन्य निबंध*- 5-46
5. सं. मिश्र, विद्यानिवास, रजनीश, गोविंद, *रहीम ग्रंथावली,* दोहा-242, पृ.-102
6. वही, दोहा-201, पृ.-98
7. वही, दोहा-140, पृ.-91
8. वही, दोहा-11, पृ.-78
9. वही, दोहा-248, पृ.-103
10. वही, दोहा-117, पृ.-89
11. वही, दोहा-5, पृ.-77
12. वही, दोहा-100, पृ.-87
13. वही, दोहा-214, पृ.-99
14. वही, दोहा-96, पृ.-86
15. वही, दोहा-106, पृ.-87
16. वही, दोहा-218, पृ.-99
17. वही, दोहा-244, पृ.-102
18. वही, दोहा-287, पृ.-105
19. वही, दोहा-77, पृ.-84
20. दुबे, डॉ. जगतनारायण, *महाभारतः भारतीय संस्कृति के नैतिक मूल्यः* पृ.-75
21. सं. मिश्र, विद्यानिवास, रजनीश गोविंद, *रहीम ग्रंथावलीः* दोहा-29, पृ.-79
22. वही, दोहा-262, पृ.-104
23. वही, दोहा-297, पृ.-108
24. वही, दोहा-238, पृ.-102
25. वही, दोहा-14, पृ.-78
26. वही, दोहा-272, पृ.-105
27. वही, दोहा-8, पृ.-77
28. वही, दोहा-234 पृ.-101
29. वही, दोहा-13, पृ.-78
30. सिंह, डॉ. बच्चन, *रीतिकालीन कवियों की प्रेम-व्यंजना* - पृ.-89
31. चतुर्वेदी , *परशुराम, मध्यकालीन प्रेम साधना:* पृ.-24
32. सं. मिश्र, विद्यानिवास, रजनीश गोविंद, *रहीम ग्रंथावलीः* दोहा-4, पृ.-77
33. वही, दोहा-49, पृ.-82
34. वही, दोहा-260, पृ.-104
35. वही, दोहा-223, पृ.-100
36. वही, दोहा-212, पृ.-99
37. वही, दोहा-32, पृ.-88
38. वही, दोहा-256, पृ.-103
39. वही, दोहा-64, पृ.-83
40. वही, दोहा-68, पृ.-83
41. वही, दोहा-33, पृ.-80
42. वही, दोहा-110, पृ.-88
43. वही, दोहा-216, पृ.-99
44. वही, दोहा-25, पृ.-79
45. वही, दोहा-138, पृ.-91
46. वही, दोहा-64, पृ.-83
47. वही, दोहा-193, पृ.-97
48. वही, दोहा-3, पृ.-77
49. वही, दोहा-235, पृ.-101

बाज़ारवादी विमर्श के अनदेखे, अनजाने, अनकहे गवाक्ष
'मुन्नी मोबाइल'

डॉ. किरण ग्रोवर
सह-प्रोफेसर, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग
डी.ए.वी.कालेज, अबोहर

शोध सारांश:
बाज़ारवाद के दौर में हम बाज़ार जाते नहीं बल्कि बाज़ार की चीज़ें हमारा पीछा करती हैं। बाज़ारवादी व्यवस्था हमसे सांस्कृतिक अस्मिता को छीन रही हैं। बाज़ारवाद के कारण व्यक्ति के व्यक्तित्व का स्खलन हुआ है। बाज़ार का प्रभाव इतना सूक्ष्म है कि इसने हमारे चरित्र में परिवर्तन कर दिया है। बाज़ारवादी संस्कृति किस प्रकार मनुष्य की मान्यताओं को लीलकर भौतिक लिप्साओं को जागृत कर सामान्य को विशिष्ट बनने के लिए विवश करती है। प्रदीप सौरभ ने 'मुन्नी मोबाइल' उपन्यास में आधुनिक महानगरीय जीवन के कई अनदेखे, अनजाने, अनकहे गवाक्षों को बेधड़क खोलने का साहस दिखाया है। लेखक ने समकालीन सामाजिक, राजनीतिक यथार्थ की परतों का अनावरण करते हुए सांस्कृतिक इकाइयों के संघर्षपूर्ण जीवन को बनते बिगड़ते दिखाया है तथा वर्गीय, साम्प्रदायिक व क्षेत्रीय अस्मिताओं की पड़ताल की है। साहिबाबाद दिल्ली एन0सी0आर0 का वर्णन करते हुए मुन्नी के माध्यम से शहरीकरण, औद्योगिकरण, सामंतवाद व पूँजीवाद के अंतर्सम्बन्धों को रेखांकित किया है। इस उपन्यास के माध्यम से प्रदीप सौरभ ने ऐसी गाथा रची है जो भौतिक संसाधनों को पा लेने पर भावनाओं के साथ खिलवाड़ करने वालों की सच्चाई को परत दर परत उघेड़ा है। 21वीं सदी की निम्न वर्गीय स्त्री पर रचित यह उपन्यास यथार्थ के नए पन्नों को खोलता है। उपभोक्तावादी संस्कृति के भंवर में बहती स्त्री की गाथा का गायन किया है । उपभोक्तावादी संस्कृति में स्त्री जागरुक, सचेत, सक्रिय उपभोक्ता के रूप में मौजूद है। भौतिकतावाद के युग में प्रदीप सौरभ का उपन्यास 'मुन्नी मोबाइल' बाजारवाद का प्रामाणिक व जीवन्त दस्तावेज है।

बीज शब्दः
अस्मिता, दस्तावेज, लिप्सा, विशिष्ट, गवाक्ष, भंवर, उपभोक्ता, शहरीकरण

बाज़ारवाद के दौर में हम बाज़ार जाते नहीं बल्कि बाज़ार की चीज़ें हमारा पीछा करती हैं। आज हमारी नैतिकता, मूल्य, भावनाओं और संस्कृति पर संकट गहरा रहा है। अनियंत्रित धनसम्पदा, मूल्यहीन बाज़ार, अनियमित विकास ने बाज़ारवाद को जन्म दिया। बाज़ारवाद हमारे चारों ओर मायानगरी की भाँति व्याप्त है। उपभोक्तावाद और सूचना क्रान्ति की अन्धी दौड़ ने हमारे पारस्परिक प्रेम व सद्भाव की गांठ ढीली कर दी है। वैश्वीकरण और आर्थिक उदारीकरण के चमकीले नारों के पीछे हमारी मानवीय संवेदना को ग्रहण लग चुका है। बाज़ारवाद की इस हिंसा की आंधी ने स्वच्छ हवा, जल, अन्न, आचार, विचार, सोच, मन्थन आदि सभी को गिरवी रख लिया है।''[1] बाज़ारवादी संस्कृति मीडिया के माध्यम से मुनाफ़ाखोरी को बढ़ावा दे रही हैं। बाज़ारवादी ताकतों ने प्रेम को बाज़ारवादी व्यवस्था से जोड़कर अस्तित्व को बनाये रखने के लिए साधन सम्पन्न व साधन हीन दो वर्ग बनाकर खाई को और अधिक गहरा किया है। बाज़ारवादी व्यवस्था हमसे सांस्कृतिक अस्मिता को छीन रही हैं। बाज़ारवाद के कारण व्यक्ति के व्यक्तित्व का स्खलन हुआ है। बाज़ार का प्रभाव इतना सूक्ष्म है कि इसने हमारे चरित्र में परिवर्तन कर दिया है। बढ़ती महत्वाकांक्षाओं की गड़बड़ी ने गरीब को बुनियादी अधिकारों से वंचित कर दिया है। आज मनुष्य सभ्यता के उस मोड़ पर खड़ा है जहाँ चहुँ ओर बाज़ार ही बाज़ार है। समकालीन दौर में वस्तुएँ बोलती हैं और इन्सान चुप्पी साधे हुए है।''[2] समय के साथ बाज़ार की चमक और गति बढ़ती जी रही है। तकनीकी विकास के साथ-साथ जैसे हमारे सपने यथार्थ से विमुख हो रहे हैं, वैसे बाज़ार हमारे मनोमस्तिष्क पर हावी हो रहा है।

मानव जीवन में आ रही यांत्रिकता को समाप्त करने के लिए साहित्य ही अध्ययन व अध्यापन का विषय बनकर उभरा है। समाज मानव जीवन के अतीत, वर्तमान व भविष्य की संभावनाओं का केन्द्र होता है जिसे व्यक्त करना साहित्यकार का सामाजिक और लेखकीय दायित्व होता है। जिस प्रकार साहित्य व जीवन का निर्विवाद सम्बन्ध है उसी प्रकार साहित्यकार और उसके समाज का पारस्परिक सम्बन्ध है।''[3] बाज़ार हमेशा था और हमेशा रहेगा किन्तु मानव निर्मित होकर भी यदि मानव पर हावी हो जाये तो समाज के सचेत साहित्यकार की मुख्य भूमिका हो जाती है कि वे बाज़ार के खतरों के प्रति आम आदमी को सचेत करें। डॉ. नामवर सिंह जी ने लिखा है कि साहित्य के रुप में समाज की जो छाया प्रकट होती हे वह लेखक के व्यक्तित्व के माध्यम से आती है। साहित्य रचना की प्रक्रिया में समाज, लेखक और साहित्य परस्पर प्रभावित, परिवर्तित और विकसित होता रहता है।''[4] साहित्य,समाज और साहित्यकार तीनों पृथक् होते हुए भी एक इकाई हैं जिनसे नव्य रचना का सृजन होता है। बाज़ार ने व्यक्ति की जरुरतों को इतना फैलाव दिया है कि सम्बन्ध संकुचित हो गये हैं। आज मनुष्य कर्तव्यों ,मूल्यों और जरुरतों को नज़र अन्दाज़ करता हुआ बाज़ार के नियमों से संचालित होने लगा है। अंधाधुंध गति से पसर रही बाज़ार की शक्तियां समाज की कमजोरी को पहचान कर निरन्तर गर्त में धकेल रही हैं।''[5] बाज़ारवादी ताकतें समाज पर हावी हो रही हैं। लोगों की आदतें और दिमाग का ढांचा बदलने का काम बाज़ारवाद ने किया है। बाज़ारवादी संस्कृति किस प्रकार मनुष्य की मान्यताओं को लीलकर भौतिक लिप्साओं को जागृत कर सामान्य को विशिष्ट बनने के लिए विवश करती है।

प्रदीप सौरभ ने आपाधापी के माहौल में पत्रकारिता जैसे पेशे में रहकर 'मुन्नी मोबाइल' उपन्यास का सृजन किया । कानपुर में जन्मे प्रदीप सौरभ लंबे समय तक इलाहाबाद में रहे वहीं पर उन्होंने अपना शिक्षा ग्रहण की और जन आंदोलनों में हिस्सा लेते हुए कई बार जेल भी गए । जिंदगी में कई नौकरियां छोड़ी फिर दिल्ली पहुंचकर 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' के संपादकीय विभाग से जुड़े, कलम से तनिक भी प्रदीप घबराये नहीं, कैमरे की आंख से उन्होंने बहुत कुछ देखा।''[6] पत्रकारिता में 35 वर्षों से अधिक समय पूर्वोत्तर सहित देश के कई राज्यों में गुजारा। दंगों की रिपोर्टिंग के लिए पुरस्कृत भी हुए। प्रदीप सौरभ ने स्पष्ट किया कि ''लेखकों को रचना के माध्यम से तोला जाए न कि उसके व्यक्तिगत जीवन से। उन्होंने जोर देकर कहा कि जीवन जीने के लिए बचपन से कितने समझौते किये, कितने गलत काम किए होंगे, मैं खड़ा हूं मगर सच तो यह है कि अपने अखबार के मालिक के लिए दलाली करता हूं मगर जब मैं लेखन करता हूं तो स्वतंत्र होता हूं । हर इंसान के चेहरे पर अनेक मुखोटे होते हैं और मैं तो मुखडो का म्यूजियम हूं।''[7]

भौतिकतावाद के युग में प्रदीप सौरभ का उपन्यास 'मुन्नी मोबाइल' अंधाधुंध विकास का प्रमाणिक दस्तावेज है। लेखक ने समकालीन सामाजिक, राजनीतिक यथार्थ की परतों का अनावरण करते हुए सांस्कृतिक इकाइयों के संघर्षपूर्ण जीवन को बनते बिगड़ते दिखाया है तथा वर्गीय, साम्प्रदायिक व क्षेत्रीय अस्मिताओं की पड़ताल की है। रवींद्र कालिया का मानना है कि प्रदीप सौरभ के पास नए यथार्थ के प्रमाणिक और विरल अनुभव है। उपन्यास के कथानक में धर्म, राजनीति, बाजार, मीडिया, शिक्षा, बेरोजगारी से संबंधित सामाजिक परिवेश को दर्शाया गया है, साधारण जीवन का कोई भी पहलू प्रदीप सौरभ जी की निगाह से अछूता नहीं रहा। उन्होंने हर पहलू को बारीकी के साथ संस्पर्श किया है कि पाठक बंध के रह जाता है, कथानक इतना आकर्षक है कि कहीं से भी कमजोर नहीं पड़ता।''[8] साहिबाबाद दिल्ली एन0सी0आर0 का वर्णन करते हुए मुन्नी के माध्यम से शहरीकरण, औद्योगिकरण, सामंतवाद व पूँजीवाद के अंतर्सम्बन्धों को रेखांकित किया है।

बाहरी इलाके के एक सीधी-सादी घरेलू नौकरानी का वक्त की हवा के साथ दबंग और स्थानीय दादा बन जाना और फिर लड़कियों की सप्लायर में उसका आखिरी रूपांतरण एक भयावह कथा है जिसमें हमारे समय की अनेक स्थानीय सच्चाईयां छिपी हैं। मृणाल पांडे ने लिखा है ,''मुन्नी मोबाइल की कहानी मोबाइल क्रांति से लेकर मोदी की भ्रांति तक, जातीय सेनाओं से लेकर लंदन के अप्रवासी भारतीयों के जीवन को माप रही है।''[9] ममता कालिया ने लिखा है, ''मुन्नी मोबाइल समकालीन सच्चाइयों के बदहवास चेहरों की शिनाख्त करता उपन्यास है। धर्म, बाजार, मीडिया आदि के द्वारा सामाजिक विकास की प्रक्रिया किस तरह प्रेरित और प्रभावित होती है, इसका चित्रण प्रदीप सौरभ ने अपनी मुहावरेदार रवां दवां भाषा के माध्यम से किया है।''[10] प्रदीप सौरभ ने 'मुन्नी मोबाइल' उपन्यास में आधुनिक महानगरीय जीवन के कई अनदेखे, अनजाने, अनकहे गवाक्षों को बेधड़क खोलने का साहस दिखाया है।

प्रदीप सौरभ ने मुन्नी के माध्यम से एक ऐसा किरदार सृजित करने की कोशिश की है जो समय की हवा के चलते पहले तो दबंग और फिर दादा बन जाती है, बस खरीद कर उसमें कंडक्टर के तौर पर काम करती है, मुन्नी ठकुराइन कहलाती है यहीं उसके जीवन की संघर्ष गाथा खत्म नहीं होती।[11] 'मुन्नी मोबाइल' एक नया प्रयोग है, बाजारवाद के फलस्वरुप स्त्री जीवन में आई समस्याओं को अपनी लेखनी में प्रदीप सौरभ जी ने समेटने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। 21वीं सदी की निम्न वर्गीय स्त्री पर रचित यह उपन्यास यथार्थ के नए पन्नों को खोलता है, स्त्री जीवन के गूढ़ पक्षों को लेखक ने यथार्थ की नई परिपाटी में रंग कर प्रस्तुत किया है। बाजारवादी संस्कृति के प्रकोप को केंद्र में रखकर 'मुन्नी मोबाइल' की संरचना प्रदीप सौरभ जी ने की

है। इस उपन्यास नायिका मुन्नी अभिजात्य परिवारों में झाड़ू मारने वाली कामकाजी महिला है जोकि महत्वाकांक्षाओं के चलते विभिन्न रास्तों को अख्तियार करती है।[12] बिंदु से मुन्नी और मुन्नी से मुन्नी मोबाइल कब बन जाती है उसे स्वयं ही पता नहीं चलता।

मुन्नी मोबाइल का कथानक नारी परिकथा के समान है। उपन्यास की नायिका मुन्नी पैसा कमाने में संलग्न है। उसकी महत्वाकांक्षा ही उसे ऐसा करने पर मजबूर करती है। काम मिलते ही उसका बाहरी दुनिया से परिचय होता है, बाजार की चकाचौंध मुन्नी की लालसा को और बढ़ा देती है। वह घरों में काम करने वाली बाई न रहकर बेरोज़गार औरतों को काम दिलवाने वाली महिला के रुप में उभरती है। मुन्नी को अपने अनपढ़ होने पर कोई ग्लानि का अहसास नहीं होता। बाज़ारवाद के इस दौर में मुन्नी उपयोगिता के प्रत्येक अर्थ व उसके मर्म को समझ पाती है। वह आनंदभारती को खरी खोटी सुनाने में भी संकोच नहीं करती ,"आपने पढ़ कर क्या कर लिया। आप तो वहां पढ़े जहां नेहरू जी पढ़े थे। न अपना घर चलाया न बच्चे पाले,न अपनी लुगाई रख पाये। न अपने मां बाप की इज्जत कर पाये।--- मैं निपढ़ हूं। पढ़ी लिखी नही हूं। आपकी सेवा में रहती हूं। पूरा कुनबा पाल रही हूं।'[13] मुन्नी के कथन में उसका स्वार्थ व अहंकार सिर चढ़ कर संवाद कायम करता है।

मुन्नी मोबाइल का कथानक नारी परिकथा के समान है। उपन्यास की नायिका मुन्नी पैसा कमाने में संलग्न है। उसकी महत्वाकांक्षा ही उसे ऐसा करने पर मजबूर करती है।

बाजारवादी संस्कृति के प्रभाव से मुन्नी चैन और आराम की सांस न ले पाती । घरों में काम करते-करते मुन्नी अत्यंत प्रसन्न हो गई। आनंद भारती के यहां काम करते हुए उसने नॉर्थ इंडियन, चाइनीस, इटालियन, मैक्सिकन आदि कई तरह की पाक कला में महारत हासिल कर ली। मुन्नी सब कुछ तय करके अपने काम को विस्तार देने लगी,"काम दिलाने के नाम पर पहली तनख्वाह का आधा हिस्सा बतौर कमीशन लेने लगी ।''[14] प्रदीप सौरभ ने उपभोक्तावादी संस्कृति के भंवर में बहती स्त्री की गाथा का गायन किया है जो कि बड़े घरों में झाड़ू पौचा करती हुई महानगर की चकाचौंध में लुप्त हो जाती है और अपने मालिक आनंद भारतीय से मोबाइल की मांग करती है। मुन्नी मोबाइल पाने के लिए आनंद भारती के सामने जिद करती है वे कहती है,'' इस बार मुझे दिवाली गिफ्ट में कुछ स्पेशल चाहिए। आनंद भारती ने कोई जवाब नहीं दिया। चुपचाप अखबार पढ़ते रहे, मैं सीधे उनके अखबार और आंख के बीच की दूरी को कम करते हुए बोली,' मोबाइल चाहिए, मुझे मोबाइल।'' आनंद भारती ने मोबाइल उसके सामने कर दिया। उसके चेहरे पर एक खास तरह की मुस्कान चमक उठी, बोली 'नोकिया का है न'।''[15] अनपढ़ होते हुए भी मोबाइल चलाना सीख लेती है। मोबाइल ही वह औजार है जिससे वह दुनिया अपनी मुट्ठी में करना चाहती है। तकनीक ने औरतों को नई आजादी दी है जिसे भी अपना खुद का स्पेस तैयार करती है । अपनी दुनिया का विस्तार करती हुई उपभोक्तावादी संस्कृति की पहचान बनकर उभरती है। सफलता के संसार में मुन्नी का प्रवेश मोबाइल के सम्पर्क से होता है तभी मुन्नी के जीवन का एक नया अध्याय शुरू होता है मोबाइल उसके जीवन में क्रांति ला देता है। वह मोबाइल के खेल को समझ जाती है ।[16] अनपढ़ होते हुए भी मोबाइल उसके लिए खिलौना बन जाता है और पहली बार आनंद भारती उसे मुन्नी मोबाइल के नाम से संबोधित करते हैं और वह इसी नाम से प्रसिद्ध हो जाती है , ''मेरा नाम मुन्नी मोबाइल है और बिहार की रहने वाली हूं। मैं किसी से डरती नहीं हूं। आप अपना काम करो और मुझे अपनी बस चलाने दो।''[17] मोबाइल में जीवन को जितना सरल बनाया है उतना ही उसका प्रभाव विनाशक भी है अमिताभ राय जी लिखते हैं कि ''नेट और मोबाइल दुनिया के सब अच्छे बुरे क्रियाकलापों के प्रतीक हैं, यह नहीं मान सकता कि आप सारी दुनिया से कनेक्टेड हैं पर वक्त हर वक्त सारी दुनिया में आप हैं।''[18]

मुन्नी बाजारवादी संस्कृति की लालसा और सपनों की दुनिया में जीने लगती है, उसकी महत्वाकांक्षाएं निरंतर आगे बढ़ने और पैसा कमाने का दबाव उस पर डालती हैं। मुन्नी अब औरतों को काम दिलवाने के साथ-साथ नर्सिंग का काम भी करने लगी और अवैध गर्भपात करा कर वह पैसे कमाने का धंधा उसे रास आया ,''गांव में नर्सिंग होम और डॉक्टर न होने के चलते उसकी दुकान चल गई । मुन्नीबाई इसी नर्सिंग होम में बतौर नर्स काम करने लगी। हजारों रुपए उसकी पगार तय हो गई वह भी केस लाने लगी मोटा कमीशन खाने लगी ।''[19] मुन्नी देवी पैसा हासिल करने के लिए हर गलत रास्ता अपनाया यहां तक कि वह परिवार से अलग हो जाती है, उसके दोनों बेटे और पति भी महत्वाकांक्षाओं की बलि चढ़ जाते हैं।

उसका अकेलापन मुन्नी को सेक्स रैकेट चलाने वाली महिला में तब्दील कर देता है, उसकी बेटी तकनीकी साधनों का प्रयोग करते हुए सेक्स रैकेट में शमिल हो जाती है और रेखा चितकबरी के नाम से जानी जाती है। साहिबाबाद दिल्ली एन0सी0आर0 का वर्णन करते हुए प्रदीप सौरभ ने मुन्नी के माध्यम से शहरीकरण, औद्योगिकरण, सामंतवाद व पूँजीवाद के अंतर्सम्बन्धों को रेखांकित किया है।

बाजारवादी व्यवस्था के परिणामस्वरुप समाज में स्त्री ने आज अपनी पैठ बना ली है, उससे प्रत्येक स्तर पर बाजार ने जनजीवन को प्रभावित किया है । मुन्नी अनपढ़ होते हुए भी साहसी और स्वतंत्र बनकर अपने अधिकारों को भुनाना चाहती है पितृसत्ता की जकड़न उस पर अपना अधिकार नहीं जमाती इसीलिए सही मायने में वह स्वतंत्र स्त्री बनकर वह अपनी स्वतंत्रता को महत्वाकांक्षाओं के उस मोड़ पर ले जाती है जहां से वह कभी वापस नहीं आ सकती । प्रदीप सौरभ जी ने स्त्रीवादी स्वतंत्रता को प्रदर्शित किया है । इस उपन्यास की नायिका मुन्नी आर्थिक स्वतंत्रता की परिचायक है। गांव से आई साधारण स्त्री जो शहर में आर्थिक व्यवस्था के चलते किसी से भी लोहा लेने से नहीं डरती, आर्थिक स्वतंत्रता स्त्री को मजबूर करती है। उपन्यास की घटना में जब मुन्नी की बेटी को हीरा सिंह ने पीटा तो मुन्नी का हौसला पुलिस अफसरों के सामने दुगुना हो गया ,"और काली की शक्ति लिए उसने आव देखा ना ताव भिड़ गई हीरा सिंह से लट्ठ लेकर दौड़ा दौड़ा लिया हीरा सिंह को---हीरा सिंह के सामने आकर उसने बोला मेरा नाम मुन्नी मोबाइल है इसको कभी ना भूलना।''[20] उपभोक्तावादी संस्कृति में स्त्री जागरुक, सचेत, सक्रिय उपभोक्ता के रूप में मौजूद है । ज्ञान और सूचना क्रांति की अंधी दौड़ ने व्यक्ति विहीन उपभोक्ता बनाकर और हमें मशीन का पुर्जा बना कर छोड़ दिया है । इस उपन्यास के माध्यम से प्रदीप सौरभ ने ऐसी गाथा रची है जो भौतिक संसाधनों को पा लेने पर भावनाओं के साथ खिलवाड़ करने वालों की सच्चाई को परत दर परत उघेड़ा है।

उपभोक्तावाद और सूचना क्रान्ति की अन्धी दौड़ ने हमारे पारस्परिक प्रेम व सद्भाव की गांठ ढीली कर दी है। बाज़ारवादी संस्कृति मीडिया के माध्यम से मुनाफ़ाखोरी को बढ़ावा दे रही हैं। आनंद भारती को उनके शुभचिंतक फोन पर दाढ़ी कटाने की सलाह दे रहे थे। आनंद भारती केअखबार को छोड़कर शेष सभी राष्ट्रीय अखबार मोदी के कारनामों का खुलासा कर रहे थे। मीडियाकर्मियों की कारों पर हमले किए जा रहे थे, टीवी पत्रकारों को कई बार निशाना बनाया गया. आनंद भारती की कार पर भी हमला हुआ एक बार उन्हें दंगाइयों ने पकड़ कर कहा,' बोलो भारत माता की जय ,वंदे मातरम।''[21] गोधरा कांड के समय आनंद भारती का व्यक्तिगत अनुभव पाठक को प्रभावित करता है यारों के आगे अपने सीने में डाल दिए कई हिंदुओं ने अपने घरों में मुसलमान साथियों को पनाह देकर उनकी जिंदगी बचाई। जवान मुस्लिम लड़कियों के अनाथ होने पर बहुत सारे हिंदू मुस्लिम जवान सामने आए। इन मुद्दों के जरिए पाठकों का ध्यान आकर्षित करने की कोशिश की है।

उपभोक्तावाद और सूचना क्रान्ति की अन्धी दौड़ ने हमारे पारस्परिक प्रेम व सद्भाव की गांठ ढीली कर दी है। बाज़ारवादी संस्कृति मीडिया के माध्यम से मुनाफ़ाखोरी को बढ़ावा दे रही है।

प्रदीप सौरभ ने इस उपन्यास में वेश्यावृत्ति के प्रसंगों की भी चर्चा की गई है। गुजरात में हुए दंगों के बाद राहत शिविरों में महिलाओं की स्थिति पर मियां मिर्ची आनंद भारती से वार्तालाप करता है कि "राहत शिविरों में रह रही लड़कियां रात भर गायब रहने लगी हैं, जिस्मफरोशी कर रही हैं, दंगों में जो औरतें बेसहारा हो गई हैं और शिविरों में नहीं रहती हैं --- कौन लोग हैं जो लड़कियां बुलाते हैं? हिंदू आबादी में रहने वाले ठेकेदार और पैसे वाले लोग हैं । शारीरिक सुख भोगने में सांप्रदायिकता आड़े क्यों नहीं आती बिस्तर सांझा करते वक्त उनका हिंदुत्व कहां चला जाता है?''[22] स्पष्ट है कि सांप्रदायिकता के नाम पर धंधा करने वाले स्त्री भोग में संप्रदायिकता का प्रश्न क्यों नहीं उठाते ? स्त्री को वस्तु की तरह उपभोग करने में धर्म क्यों नहीं आता ? प्रदीप सौरभ ने अपने समय की कड़वी सच्चाई को ब्यान किया है।

प्रदीप सौरभ ने इस उपन्यास में युवा पीढ़ी के भटकाव के प्रसंगों को कॉल सेंटरों के माध्यम से दर्शाया है जो कि प्रसारवादी संस्कृति का ही प्रतिरूप है। अपनी जिंदगी को रात के अंधेरों में बांध लेती हैं उनकी दिनचर्या लोगों के विपरीत कार्यरत होती है जब दुनिया की दौड़ बंद होती है तो नवयुवकों की दौड़ शुरू होती है,'' इन्हीं देशों में किसी भी स्ट्रेंजर लड़के लड़की से मुलाकात हो सकती है, दोनों एक साथ रात गुजार लेते हैं। ऐसे शहर में यात्रियों को कॉल सेंटर की दुनिया में 'वन नाइट स्टैंड' कहा जाता है । सेक्स कॉल सेंटरों में नैतिकता से जुड़ी कोई चीज नहीं, लिव

इन रिलेशन आम है, आप उसमें लड़कियां भी बदलते रहते हैं उनके बीच आम तौर पर कोई फायदा नहीं होता। मौज मस्ती ही इन रिश्तो का आधार होता है।"[23] जिंदगी के चक्र का एक बड़ा बदलाव प्रदीप सौरभ जी ने इस उपन्यास में प्रस्तुत किया है जिसमें शादी, झगड़े, झूठ, फरेब, कोर्ट-कचहरी, टूटते रिश्ते आदि में युवाओं की संलिप्तता बाजारवादी संस्कृति की.ही देन है। विकास की अंधी दौड़ में मानव मूल्य, नैतिकता और संवेदना के लिए कोई स्थान नहीं रह गया लेकिन फिर भी तकनीकी प्रगति का हमारे जीवन में बहुमूल्य योगदान रहा है, यह मानव जीवन के लिए विकास और विनाश दोनों की ही सूचक है।

वैश्वीकरण के दौर में प्रवेश करने के बाद दुनिया में एक तेजी से चीज विस्तार में फैली है, वह प्लास्टिक मनी क्योंकि अब क्रेडिट कार्ड का जमाना है। बाजारवादी सोच ने संयम को दमन के रूप में प्रचारित किया। आज हर कोई शून्य ब्याज दर के मोहक मायाजाल में लोगों को भ्रमित करना चाहता भ्रमित करना चाहता है। क्रेडिट कार्ड ने संयम की परिभाषा ही बदल दी। इसने एक और व्यक्ति के जीवन को सुविधा युक्त बनाया है तो दूसरी और बिना पैसे के मौज मस्ती की आदत भी बनाई है। प्रदीप सौरभ ने क्रेडिट कार्ड पर चुटकी करते हुए लिखा है, "अमेरिकी के पास औसतन 15 क्रेडिट कार्ड होते हैं उनके यहां किसी बुजुर्ग की मौत पर विरासत में परिवार वालों को क्रेडिट कार्ड्स और दूसरे लोन के बिल मिलते हैं। भारत में ऐसी स्थिति में परिवार वालों को मकान, सोना, चांदी और बहुत कुछ मिलता है। ऐसा दर्शन है कि उधार लेकर पी जाओ।"[24] प्रदीप सौरभ जी ने इस उपन्यास में अमेरिकी और भारतीय विचारधारा की तुलना की है। बाजारवाद ने शहरों को ही अपने मकड़जाल में पकड़ रखा है। ग्रामीण समुदाय आज भी जरूरत की वस्तुओं को ही प्राथमिकता दे रहा है। खेतों में लगाई जाने वाली फसल का मूल्य अब अंतर्राष्ट्रीय बाजार तय करने लगे हैं।

साहित्यकार भविष्य का द्रष्टा होता है और यह भविष्य कल का यथार्थ है। प्रदीप सौरभ जी ने 'मुन्नी मोबाइल' उपन्यास में बाज़ारवाद की माया मोहिनी से बचते हुए लेखन का दायित्व निभाते हुए जनता को तैयार करने की चुनौती से लैस होकर सृजनशीलता का धर्म निभाया हैं, उनके प्रतिरोध को व्यर्थ नहीं समझना चाहिए। बाजारवादी संस्कृति के वर्चस्व से आज आज हमारी नैतिकता, मूल्य, भावनाएं, मनुष्यता, सामाजिकता संकट में है। प्रदीप सौरभ ने आधुनिक महानगरीय जीवन के कई अनदेखे, अनजाने, अनकहे गवाक्षों को बेधड़क खोलने का हौसला दिखाया है। बाहरी इलाके के एक सीधी-सादी घरेलू नौकरानी बिन्दू बनी मुन्नी का वक्त की हवा के साथ दबंग और स्थानीय दादा बन जाना और फिर लड़कियों की सप्लायर से मुन्नी मोबाइल में रूपांतरण एक भयावह कथा है जिसमें कड़वी सच्चाईयां छिपी हैं। प्रदीप सौरभ ने समकालीन सामाजिक, राजनीतिक यथार्थ की परतों का अनावरण करते हुए सांस्कृतिक इकाइयों के संघर्षपूर्ण जीवन को बनते बिगड़ते दिखाया है तथा वर्गीय, साम्प्रदायिक व क्षेत्रीय अस्मिताओं की पड़ताल की है। समाज के सचेत साहित्यकार की मुख्य भूमिका हो जाती है कि वे बाज़ार के खतरों के प्रति आम आदमी को सचेत करें। बाज़ारवादी ताकतें समाज पर हावी हो रही हैं। लोगों की आदतें और दिमाग का ढांचा बदलने का काम बाज़ारवाद ने किया है, यही इस आलेख का अभिप्रेत है। बाज़ारवादी संस्कृति किस प्रकार मनुष्य की मान्यताओं को लीलकर भौतिक लिप्साओं को जागृत कर सामान्य को विशिष्ट बनने के लिए विवश करती है। भौतिकतावाद के युग में प्रदीप सौरभ का उपन्यास 'मुन्नी मोबाइल' बाजारवाद का प्रामाणिक व जीवन्त दस्तावेज है।

सन्दर्भ:

1. http://www.weekandtimes.com/archives/35621
2. https://hindi.webdunia.com/my-blog/education-120011900036_1.html
3. http://www.apnimaati.com/2018/02/26.html
4. https://www.pravakta.com/hindi-literature7/
5. https://ajayanurag.wordpress.com/tag/
6. http://www.rachanakar.org/2007/12/blog-post_10.html
7. https://hindi.oneindia.com/news/2009/12/21/1261363042.html
8. 8https://www.bhadas4media.com/old/media-book-novel-munni-mobile/
9. http://vaniprakashanblog.blogspot.com/2012/04/blog-post_2133.html
10. http://vaniprakashanblog.blogspot.com/2012/04/blog-post_2133.html
11. https://hindi.webdunia.com/article/hindi-books-review/मुन्नी-मोबाइल-अपराध-जगत-का-सच-109122000030_1.htm
12. सौरभ, प्रदीप, (2011), *'मुन्नी मोबाइल'*, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृ.-94
13. वही पृ.-155
14. वही पृ.-96
15. वही पृ.-10
16. वही पृ.-98
17. http://creativekona.blogspot.com/2010/04/blog-post_20.html
18. सं0-सत्यकाम, अक्टूबर-दिसम्बर-2011, *समीक्षा*, अंक-4, पृ.-35
19. वही पृ.-95
20. http://sahityakunj.net/entries/view/samyik-chunautiyon-ke-sandarbh-mein-nai-sadi-ke-hindi-upnyas
21. वही पृ. -103
22. वही पृ. -153
23. http://spardhamann.blogspot.com/2010/01/blog-post_08.html
24. वही पृ. -116

स्त्री जनित समस्याएँ
ममता कालिया कृत 'लड़कियाँ' उपन्यास के विशेष संदर्भ में

डॉ. मनमीत कौर
विभागाध्यक्ष, हिंदी विभाग
राधा गोविन्द विश्वविद्यालय, झारखण्ड

शोध सारांश:
हिंदी साहित्य में ममता कालिया की एक अलग पहचान है । वर्तमान स्त्री के सभी हालातों को उन्होंने अपने उपन्यासों में यथार्थ चित्रण किया है । 'लडकियाँ' उपन्यास में भी उन्होंने दो लड़कियों के माध्यम से स्त्री के अस्तित्व को पुरुषप्रधान समाज में स्थापित करने का कार्य किया है । ममता कालिया ने अपने इस उपन्यास में 'बलात्कार की समस्या' को भी रेखांकित किया है। विशेषकर कामकाजी लड़कियाँ अक्सर अपनी सुरक्षा को लेकर चिंतित दिखती हैं। इस उपन्यास के द्वारा लेखिका स्त्री विमर्श के कई गंभीर मुद्दों को हमारे समक्ष प्रस्तुत की है।

बीज शब्द:
पुरुषप्रधान समाज, दाहकर्म, मॉब लिंचिंग', सामाजिक कोढ़, स्त्री विमर्श, आधुनिक नगर बोध

"हमारा साहित्य हमें बहुत-सी चतुर और ऐसी स्त्रियों के हवाले देता है जो सच्ची थीं और मरते दम तक बहादुर रहीं। उनके उदाहरणों का हमारे लिए मूल्य है, उनसे हमें प्रेरणा मिलती है। फिर भी हम जानते हैं कि हिंदुस्तान में तथा दूसरी जगहों में स्त्रियों की हालत कितनी दीन है। हमारी सभ्यता, हमारे रीति-रिवाज, हमारे कानून, सब आदमी ने बनाए हैं और आदमी ने अपने को ऊँची हालत में रखने, स्त्रियों के साथ बर्तनों और खिलौनों जैसा बर्ताव करने और अपने फायदे और मनोरंजन के लिए उनका शोषण करने का पूरा ध्यान रखा है।...

"स्त्रियों का काम है कि वे आदमी के बनाए हुए रीति-रिवाजों और कानून के जुल्म से अपने को मुक्त करें। इस लड़ाई को उन्हें खुद ही लड़ना होगा। ..." - जवाहरलाल नेहरू[1]

ममता कालिया द्वारा रचित 'लड़कियाँ' उपन्यास ऐसी ही दो लड़कियों की कहानी है जो पुरुषप्रधान समाज में अपना अलग अस्तित्व स्थापित करने के लिए संघर्षरत हैं। दोनों लड़कियों ('लल्ली' और 'अफशाँ') की अपनी अलग-अलग समस्याएँ और डर हैं किंतु दोनों एक-दूसरे का साथ पाकर स्वयं को सुरक्षित महसूस करती हैं। लल्ली एक कामकाजी लड़की है जो मुंबई जैसे महानगर में एक विज्ञापन एजेंसी में काम करती है। वह एक बहुत बड़ी इमारत 'कावसजी मैंशन' के एक फ्लैट में अकेली रहती है। समाज में आए दिन होने वाली घटनाओं चोरी, ठगी, बलात्कार, छेड़खानी आदि से किसी भी कामकाजी लड़की का जो अपने घर-परिवार से दूर अनजान शहर में अकेली रह रही हो, भयभीत रहना स्वाभाविक है। लल्ली को भी यह भय हमेशा सताता रहता था। अतः एक दिन जब उसके मालिक हामिद की कजिन अफशाँ उसके साथ कुछ दिनों के लिए रहने आती है तो लल्ली काफी राहत महसूस करती है। चूँकि यह उपन्यास आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया है, इसलिए लल्ली का स्वगत कथन इस प्रकार है, "इन दिनों मुझे बड़ी शिद्दत से महसूस हो रहा था कि इतने बड़े शहर की इतनी बड़ी इमारत में मेरा यों अकेले रहना ठीक नहीं। क्या पता कब क्या हो जाए। आए दिन चोरी, ठगी और बलात्कार की खबरें पढ़-पढ़कर मन अलग दहल जाता। इसलिए जब तमाम इंतजार के बाद आखिरकार अफशाँ मेरे पास पहुँची, मुझे काफी तसल्ली हुई। एक से

भले दो। पहले ही दिन से उस बड़ी-बड़ी कजरारी आँखों वाली अफशाँ ने मुझे आपा कहकर मोह लिया।"[2] दोनों लड़कियाँ परस्पर अपनत्व का भाव महसूस करती हैं। मानो, इस अनजान शहर में वे दोनों ही एक-दूसरे का सहारा हों।

उपन्यास में लेखिका ने सुरजीत सिंह अहलूवालिया नामक पुरुष पात्र के माध्यम से अवैध रिश्तों के लिए अपनी पत्नी को जलाकर मार देने वाली घटना का उल्लेख किया है। सुरजीत सिंह इस घटना को इतनी सफाई से अंजाम देता है कि यह घटना, घटना नहीं बल्कि दुर्घटना मात्र बनकर रह जाती है और किसी को अगर शक होता भी है तो वह पुलिस केस में पड़ने से बचने के लिए चुप्प साध लेता है। वस्तुस्थिति का वर्णन इस प्रकार है, "सुरजीत सिंह चार बजे के करीब चीत्कार करता कॉरीडोर में बदहवास निकला, "एक्सीडेंट, एक्सीडेंट..।" गिने-चुने लोग उस वक्त तीसरे माले पर थे, सब जमा हो गए। देखा गया, रसोई में मिसेज सुरजीत का बदन पूरी तरह जला पड़ा था। भागमभाग डॉक्टर बुलाया गया, उसने मिसेज सुरजीत सिंह को मृत घोषित कर दिया। कुछ ही घंटों में लाश को विद्युत शवदाहगृह में ले जाया गया। पड़ोसियों के मन में कई सवाल उठे, पोस्टमॉर्टम एक्जामिनेशन क्यों नहीं किया गया? दाहकर्म के लिए नाते-रिश्तेदारों का इंतज़ार क्यों नहीं किया गया? बच्ची पूजा और उसकी आया कहाँ गायब थीं? लेकिन वे सब अपने-अपने सवाल दबाकर अपने घरों के दरवाजे और भी जोरों से बंद कर बैठ गए। पुलिस केस बनने से सभी डरते थे। सबके अपने-अपने भय थे। फिर सुरजीत अहलूवालिया की लुटी हुई सूरत देख उन्हें यही सोचना ठीक लगा कि नायलॉन की साड़ी ने ही यह कहर ढाया था।"[3] अंतिम वाक्य में लेखिका ने व्यंग्यात्मक शैली का प्रयोग किया है। लल्ली जब ऑफिस से घर लौटती है तो उसे उस घटना का पता चलता है और वह सारा वाकया सुनकर दहशत में आ जाती है। लल्ली का स्वगत कथन है, "दाहकर्म से लौटकर सारी रात सुरजीत अहलूवालिया पागलों की तरह धाड़े मार-मारकर रोता रहा, केश नोचता रहा, अपने कपड़े तार-तार करता रहा। मर्द के रोने की आवाज बहुत अलग होती है, मनहूस और डरावनी। रोती हुई औरत करुणा या क्रोध उपजाती है, पर मर्द का रोना अपशकुन लगता है। उस रात पहली बार मुझे घर में अपना आप अकेला, अभागा और असुरक्षित लगा। दो बार रसोई में जाकर मैं गैस बंद कर आई। सभी स्विच ध्यान से बंद किए। लेकिन रात-भर मैं सो न सकी।"[4] पत्नी को मरे तीन ही दिन हुए होते हैं कि सुरजीत एक विदेशी औरत को घर ले आता है और वह वहीं बस जाती है, "चौथे दिन सुरजीत सिंह ने होश किया, नहाया, कपड़े बदले, साफा बाँधा और निहायत संजीदा शक्ल में बाहर निकला। दूर से देखने पर वह एक ऐसा ठूँठ लग रहा था, जिस पर रात बिजली गिरी हो। उसने अपनी कार स्टार्ट की और चला गया। उसके नौकर को भी नहीं पता था कि वह कहाँ गया। रात जब वह लौटा, अकेला नहीं था। उसके साथ उसकी नन्ही बच्ची पूजा, उसकी आया और एक बेहद गोरी मोटी विदेशी औरत थी, जिसने रात में भी काला चश्मा लगा रखा था। फ्लैट में दाखिल होते ही उन लोगों ने कसकर दरवाजा बंद कर लिया। उस दिन से वह औरत वहीं बस गई। कानाफूसियों में लोग सुरजीत सिंह को एक बेवफा, हत्यारा, बेहया इंसान कहने लगे, लेकिन उसके सामने किसी ने चूँ-चपड़ न की।"[5] यहाँ सुरजीत तो चार दिन भी इंतज़ार नहीं कर पाया और दूसरी औरत घर ले आया। समाज में दबी जबान से बातें की किंतु कोई उसका प्रत्यक्ष विरोध नहीं कर सका। इसके विपरीत, यदि कोई विधवा स्त्री दूसरा विवाह करने की इच्छा रखे तो यही समाज उसे कुलटा, चरित्रहीन आदि कई तमगों से नवाजता है और कभी-कभी तो स्थिती 'मॉब लिंचिंग' (भीड़ द्वारा पीट-पीटकर हत्या कर देना) तक पहुँच जाती है, जैसा कि अक्सर समाचार-पत्रों में पढ़ने को मिल जाता है। अर्थात् समाज द्वारा पुरुष और स्त्री आधारित विपरीत मान्यताएँ निर्धारित हैं।

पुरुष की इस बेवफाई की ओर इशारा करते हुए लेखिका 'अफशाँ' से कहलवाती है, "हाय अल्ला, क्या उसे अपनी बीवी से ज़रा-भी मुहब्बत नहीं थी! आदमी एक छत के साए में दो रोज़ अगर बिल्ली के संग भी गुजार ले तो कितना लगाव हो जाता है, फिर वह तो उसके बच्चे की माँ थी।"[6] 'अफशाँ' और 'लल्ली' के बातचीत का क्रम आगे बढ़ता है। सुरजीत द्वारा दूसरी औरत लाने पर और घटती हुई मानवीय संवेदनाओं पर बात करते हुए 'लल्ली' कहती है, "तीसरे ही रोज वह एक नई औरत ले आया, उसी मकान में। जैसे किसी का

पिल्ला खो जाए और वह नया पिल्ला ले आए।" ..."देख लो, बस इतनी होती है मुहब्बत!"[7]

डॉ धर्मपाल अपनी पुस्तक 'नारी : एक विवेचन' में लिखते हैं, "आज दहेज का विभत्स रूप समाज में व्याप्त हो गया है। 'माँग' अथवा 'याचना' अथवा 'भिक्षा' शब्द दहेज के पर्याय बन चुके हैं। वांछित 'भिक्षा' न मिलने पर, नारी जाति के शत्रु एवं लोभी लालची पुरुष, नवविवाहिता पर अत्याचार करते हैं, उसे यातनाएं देते हैं और मांगी गई वस्तु अथवा धनराशि के प्रतिशोध में उसकी हत्या कर देते हैं। आये दिन दहेज के लोभियों द्वारा घटनाएं घटती रहती है।"[8] ममता कालिया ने अपने इस उपन्यास में दहेज रूपी सामाजिक कोढ़ की ओर भी ध्यान आकृष्ट कराया है। दहेज के नाम पर जाने कितनी अनगिनत नवविवाहिता घरेलू हिंसा की शिकार होती हैं और ससुराल पक्ष द्वारा जलाकर मार दी जाती हैं, लेखिका ने 'लल्ली' और 'अफशाँ' के माध्यम से इस विस्तार इस पर विस्तार से चर्चा की है। 'लल्ली' कहती है, "शायद अखबारों ने मेरी मानसिकता को चौपट कर डाला था। कोई दिन ऐसा न था, जब विवाहिता नवयुवतियों के मार डाले जाने से सचित्र समाचार न छपते हों। बहु-प्रताड़ना राष्ट्रीय आंदोलन का रूप लेता जा रहा था। अच्छे पढ़े-लिखे, बेरोजगार लड़के एक अदद स्कूटर, फ्रिज या टी०वी० के लिए अपनी पत्नी को जला मारने में कतई संकोच न करते।"[9] रोज ही अखबार में किसी न किसी गृहिणी की तस्वीर छपी होती, जो संदिग्ध अवस्था में जल मरी या जला डाली गई। अफशाँ खबर पढ़कर लल्ली से पूछती है कि आपको गुस्सा नहीं आता तो लल्ली इसका प्रत्युत्तर देते हुए कहती है कि उसे गुस्सा आता है, इसलिए तो उसने शादी नहीं की।

इस उपन्यास की मुख्य विशेषता यह है कि लेखिका अगर समस्या की ओर ध्यान इंगित करा रही है तो उसका विकल्प सुझाने का भी प्रयास करती है। तभी तो, अफशाँ के माध्यम से वे कहती हैं, "लड़के-लड़कियाँ अगर अपनी मर्जी से शादी करें तो लड़कियों को यों बेमौत न मरना पड़े।"[10] निश्चित रूप से यहाँ लेखिका प्रेम-विवाह का समर्थन कर रही हैं क्योंकि अपनी मर्जी के विवाह से घरेलू हिंसाओं में कुछ कमी अवश्य की जा सकती है। उपन्यास में 'लल्ली' शादी नामक संस्था में यकीन नहीं करती और अपने अनुसार आजाद जीवन जीना चाहती है। 'अफ़शाँ' जब उसकी हिफाजत के लिए शादी की बात करती है तो 'लल्ली' उससे कहती है, "तुमने यह कैसे सोचा कि शादी कर लेने से हिफाजत का इंतजाम भी हो जाता है। कई मर्द औरतों से भी ज्यादा डरपोक होते हैं। जो डरपोक नहीं होते, वे स्वार्थी होते हैं। मेरी सहेली का पति कहता है, पत्नी को हमेशा ट्रैफिक-साइड पर रखकर चलो तो सुखी रहोगे। शादी के बाद के खतरे शादी के पहले के खतरों से ज्यादा बड़े होते हैं।"[11] ममता कालिया ने अपने इस उपन्यास में 'बलात्कार की समस्या' को भी रेखांकित किया है। विशेषकर कामकाजी लड़कियाँ अक्सर अपनी सुरक्षा को लेकर चिंतित दिखती हैं। उपन्यास में 'लल्ली' को अपनी भाषा पर नाज था। वह अपनी भाषा को ही हथियार मानती थी, "भाषा मेरी तोप थी, भाषा मेरा तमंचा। सारी दुनिया का बारूद और तेजाब इस एक अकेली जुबान की नोक पर रख दिया था भगवान ने।"[12] जबकि 'अफशाँ' अपनी सुरक्षा के लिए अपने पास कटार और रिवॉल्वर जैसे हथियार रखती है। यह विडम्बना ही है कि समाज में बलात्कार जैसे कुकृत्य अपनी जड़ें जमाए हुए हैं जिसकी वजह से लड़कियाँ अपनी सुरक्षा की दृष्टि से स्वयं के पास हथियार रखने को मजबूर हैं। एक दिन 'अफशाँ' दो वहशी दरिंदों के हत्थे चढ़ जाती है किंतु समय रहते 'लल्ली' के साहस द्वारा बचा ली जाती है। 'लल्ली' को लगता है कि इस वारदात की खबर पुलिस को करनी चाहिए जिससे कि भविष्य में ऐसे खतरे सामने न आए। अब 'लल्ली' को स्वयं का अकेले रहना भी खतरनाक लग रहा था क्योंकि हादसों की न तो कोई उम्र होती है और न ही तारीख। किंतु इस घटना का गंभीर घाव 'अफशाँ' को लगता है। वह रो-रोकर बेहाल हो जाती है और बेहोश हो जाती है। हामिद की सहायता से उसे पुलिस की बजाय डॉक्टर के पास ले जाया जाता है। 'लल्ली' के शब्दों में, "इस वारदात में शारीरिक हानि से तो हम सब बच गए, लेकिन मानसिक क्षति का अंदाजा लगाना किसी के लिए भी असंभव था। तीन दिन, तीन रात तक अफशाँ नर्सिंग होम में रह-रहकर यही चीत्कार करती रही, "आपा, वो आ रहे हैं, मुझे बचाओ।" हामिद ने दौड़-भागकर उसका रिजर्वेशन कुछ और पहले कर दिया। धीरे-धीरे अफशाँ सामान्य हुई। उसे महसूस हुआ कि उसकी वजह से हम सब बेहद

फिक्रमंद रहते हैं। वह एक-एक कदम अपनी पुरानी दुनिया में लौटी, जैसे कोई बच्ची वर्षों पोलियोग्रस्त रहने के बाद एक-एक पाँव उठाना फिर से सीखे। घर में वह साए की तरह मेरे साथ-साथ रहती और बार-बार कहती, "आपा, आप न होतीं तो हम भी न होते, हम खुद ही चलकर कब्र में सोते। मुझे तो आज पता चला है आपा कि खतरे में हथियार नहीं, इंसान काम आता है। सारे हथियार एक तरफ, इंसानी मुहब्बत एक तरफ। जाने के रोज़ तक वह इतनी नॉर्मल हो गई थी कि उसने अपना सब काम पूरा कर लिया, रिकॉर्डिंग, शूटिंग और मॉडलिंग का। सामान कुछ खास कुछ खास नहीं था उसका। एक-तिहाई तो यहीं छोड़े जा रही थी, मेरे पास। उसने कहा, "अभी तो मुझे फिर आना है, एक बार नहीं बार-बार। मेरी असली बिरादरी तो यहीं है आपा।" अपनी स्लीपरें तक नहीं उठाईं उसने, "ये हैं तो आपको लगेगा मैं हूँ।"[13]

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि ममता कालिया की नायिकाएँ हालातों से मजबूर, बेबस, बेचारी नायिकाएँ नहीं हैं बल्कि वे हालातों का डटकर सामना करती हैं और पुनः अपनी दिनचर्या में लौट आती हैं। अपने एक लेख 'बलात्कार से जीवन खत्म नहीं हो जाता' में ममता कालिया लिखती हैं, "बलात्कार के प्रति पुरातन सोच की जकड़बंदी यह है कि बलात्कार हुआ तो पीड़ित की इज्जत हमेशा के लिए चली गयी। वह लड़की परिवार और समाज में सिर उठा कर जीने के हक से वंचित हो गयी और उसके भविष्य पर धब्बा लग गया। ये सब सामन्ती विचारधारा के तर्क हैं जो पुरूष समाज द्वारा स्त्री को दबाकर रखने के लिए गढ़े गए हैं।"[14] वे आगे लिखती हैं, "जीवन के कुरुक्षेत्र में लड़कियाँ उतरी हैं, शिक्षा और रोजगार के तीरकमान उनके हाथ में हैं। इस रणक्षेत्र में किसी भी तरह की चुनौती उनके सामने आ सकती है, घात-प्रतिघात, यौन हिंसा, यौन विकृति। पिछली शताब्दियों में केवल अबलायें सताई जाती थीं। इक्कीसवीं शताब्दी में प्रबलायें भी सताई जा रही हैं। ऐसे में लड़कियों को सबसे पहले अपना दृष्टिकोण बदलना चाहिए। जहाँ तक हो सके यौन अपराधी की गिरफ्त से बचें। अगर यौन हिंसा फिर भी घटित हो जाए तो उसे ऐसे लें जैसे कोई अन्य दुर्घटना, जैसे घुटने पर चोट या टखने में मोच। अगर कूपमंडूक परिवार शोर मचाये, 'हाय-हाय तेरी इज्जत लुट गयी' तो पलट कर कहें, 'इज्जत मेरी नहीं, उसकी लुटी जो थोड़ी देर बाद टीवी के पर्दे पर अपने मुँह पर तौलिया लपेटे नजर आयेगा।' मुझे लगता है अगर यौन हिंसा की यही रफ्तार रही तो एक दिन हमारे समस्त पुरुषों के मुँह पर तौलिया लिपट जायेगा।"[15] अपनी इन्हीं विशिष्टताओं के कारण ममता कालिया और उनका लेखन हिंदी साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान निर्धारित किए हुए हैं। सबसे मुख्य बात यह है कि ये स्त्रियों की समस्याओं की ओर ध्यान खींचती ही हैं, इसके साथ-साथ समस्या का समाधान सुझाने का भी प्रयास करती हैं। इसलिए वे कहती हैं कि, 'बलात्कार से जीवन खत्म नहीं हो जाता' और दहेज की समस्या और घरेलू हिंसा से बचने के लिए 'मर्जी से निकाह या शादी' की बात पर बल देती हैं। इस उपन्यास के संबंध में रवींद्र कालिया लिखते हैं, "आधुनिक नगर बोध के साथ-साथ जीवन के स्पर्धा व्यक्त करने वाले लघु उपन्यास 'लड़कियाँ' व्यक्ति-मन के मर्मस्थल की ई०सी०जी० रिपोर्ट भी प्रस्तुत करता है। ममता कालिया ने मुंबई नगर के विज्ञापन-जगत को करीब से देखकर जो प्रभाव ग्रहण किए, 'लड़कियाँ' उसी का सृजनात्मक रूप है। युवा पीढ़ी के अपने स्वप्न हैं और अपने संघर्ष। प्रतिभा और पराक्रम के रास्ते वह अपना गंतव्य पाने में दृढ़ विश्वास रखती है। चपल, चंचल गद्य में लिखा यह लघु उपन्यास महानगर में रहने और काम करने वाली अविवाहित लड़कियों की प्रामाणिक छवि प्रस्तुत करता है।"[16] ममता कालिया ने इन्हीं कामकाजी अविवाहित लड़कियों को माध्यम बनाकर स्त्री-शोषण के कई गंभीर मुद्दों पर अपने इस लघु उपन्यास में बात की है। पृष्ठ संख्या की दृष्टि से भले ही यह उपन्यास लघु है किंतु स्त्री विमर्श के कई गंभीर मुद्दों को अपने में समेटे हुए है।

संदर्भ :

1.पालीवाल, कृष्णदत्त (संपा०-संक०),(2014) *नारी-विमर्श की भारतीय परंपरा,* सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 'इस लड़ाई को उन्हें खुद लड़ना होगा' (जवाहरलाल नेहरू), भूमिका से उद्धृत

2. कालिया,ममता, (2020), *तीन लघु उपन्यास,* किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ०- 86

3. वही, पृ०- 85

4.वही, पृ०- 85

5.वही, पृ०- 86

6.वही, पृ०- 89

7.वही, पृ०- 90

8. धर्मपाल, (1996), *नारी : एक विवेचन,* भावना प्रकाशन, दिल्ली, पृ० 155

9. कालिया, ममता, (2020), *तीन लघु उपन्यास,* किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ०- 91

10. वही, पृ०- 97

11. वही, पृ०- 99

12. वही, पृ०- 101

13. वही, पृ०- 110

14. कालिया, ममता, (2017), *भविष्य का स्त्री विमर्श,* वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृ०- 11

15. वही, पृ०- 12

16. शर्मा, डॉ० सीमा, (2016), *ममता कालिया के कथा साहित्य में नारी चेतना,* अनुसंधान पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, कानपुर, पृ०- 24

भीष्म साहनी की कहानियों में साम्प्रदायिक चेतना

डॉ. राम प्रवेश रजक
सहायक प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
कलकत्ता विश्वविद्यालय, कोलकाता

शोध सारांश :
हिन्दी साहित्य में विभाजन की विभीषिका पर लिखने वाले साहित्यकारों में भीष्म साहनी का नाम भी अग्रणी लेखकों में आता है। भीष्म साहनी का रचना संसार अविभाजित भारत, विभाजन की त्रासदी, विस्थापन दंगे और पुनर्स्थापना के साथ-साथ उसके लम्बे मोहभंग और उसकी दुःस्वप्न की कहानी है।

बीज शब्द :
साम्प्रदायिकता विरोधी मनोवृत्ति, उदारतावाद का पाखंड, साम्प्रदायिक कट्टरवाद, विभाजन की त्रासदी, विस्थापन दंगे और पुनर्स्थापना, धार्मिक उन्माद।

प्रेमचंदोत्तर कथा साहित्य को जिन कथाकारों ने प्रभावित किया है। उनमें भीष्म साहनी का महत्वपूर्ण स्थान है। लगभग साठ वर्ष की दीर्घावधि में उनकी कहानियाँ लिखी गयी हैं। 1934 ई0 में उन्होंने पहली कहानी लिखी थी। वो कॉलेज पत्रिका ''राखी'' में प्रकाशित हुई थी। अमृतराय की संपादन में हंस पत्रिका में उनकी पहली कहानी ''नीली आँखें'' छपी थी। ''नीली आँखें'' से लेकर नीले (वागर्थ अंक 68, फरवरी 2001 ई0) तक भीष्म जी की कथा लेखन में कोई ठहराव नहीं है। भीष्म साहनी का यह अनवरत् कथा लेखन उनकी रचनात्मक सोद्देश्यता से जुड़ा है। उनका कहानी लेखन जीवन से गहरे अर्थों में जुड़ा है। 'भाग्य रेखा' (1953 ई0), 'पहला पाठ' (1947 ई0), 'भटकती राख' (1966 ई0), 'पटारियाँ' (1923 ई0), 'शोभा यात्रा (1981 ई0), 'निशाचर (1983 ई0), 'पाली' (1989 ई0) और 'डायन' (1998 ई0) उनकी नौ कहानी संकलन हैं जिनमें कुल कहानियों की संख्या 120 है। सवा सौ की लगभग अपनी कहानियों में भीष्म साहनी ने भारतीय यथार्थ की विविध पक्षों को प्रस्तुत किया है। सन् 1947 ई0 में देश विभाजन की त्रासदी को भीष्म भुगत चुके थे। उनका परिवार रावलपिण्डी से विस्थापित होकर भारत आया था। इसलिए उनकी साहित्य में मानवता की पीड़ा, मूल्य एवं नैतिकता, सांप्रदायिकता और विस्थापन की पीड़ा, धार्मिक उन्माद और रोंदे गए मानवीय संबंधों की चीख सुनायी देती है। परन्तु, उन्होंने अपनी रचनाओं में एक जैसी घटना से रसहीनता या मोहभंग की स्थिति से स्वयं को बचाकर रखा और मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा में यकीन करते रहे। जीवन मूल्यों को बचा लेने की संकल्प को दोहराते रहे, अपनी रचनात्मक विषय वस्तु से भीष्म साहनी ने हिंदी गद्य की परंपरावादी सोच को हिलकार रख दिया और हिन्दी कथा-लेखन की क्षेत्र में एक अलग पंक्ति में खड़े हो गए।

हिन्दी साहित्य में विभाजन की विभीषिका पर लिखने वाले साहित्यकारों में भीष्म साहनी का नाम भी अग्रणी लेखकों में आता है। इनकी कहानी 'अमृतसर आ गया है' इस संदर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। भीष्म साहनी ने विभाजन की त्रासदी को एक रेलयात्रा की माध्यम से कहानी में व्यक्त किया है। रेल की डिब्बे में मुसलमान भी हैं और हिन्दू यात्री भी हैं। ये सहयात्री होते हुए संयोग से समान नियति की भागीदारी भी हैं। भीष्म साहनी ने इस बात को स्पष्ट तौर पर उभारा है कि इस तरह की घटनाओं की दुष्परिणाम मुसलमानों और हिन्दुओं दोनों के लिए समान रूप से घातक हैं। रेलयात्रा में दो हृदय विदारक घटनाएँ घटित होती हैं जो इस विडम्बना को रेखांकित करती है। यह यात्रा पाकिस्तान से हिन्दुस्तान की ओर से जा रही रेलगाड़ी से हो रही हैं।

कहानीकार ने अनिश्चय की इस वातावरण का सजीव चित्रांकन किया है। कहानीकार प्रारंभ में यह संकेत दे देता है - ''कोई नहीं जानता था कि कौन-सा कदम ठीक रहेगा और कौन-सा गलत। एक ओर पाकिस्तान बन जाने का जोश था तो दूसरी ओर हिन्दुस्तान की आजाद होने का जोश। जगह-जगह दंगे हो रहे थे और ..... इसी अनिश्चिय की स्थिति में किसी-किसी वक्त भावी रिश्तों की रूपरेखा झलक दे जाती थी।''[1]

डिब्बे में बैठे मुसलमान पठान लेखक की बगल में बैठे पतले से दिखने वाले बाबू (हिन्दू) का मजाक बनाते हैं - ''ओ खंजीर की तुख्म, इधर तुम्हें कौन देखता है ए? हम तेरी बीवी को नई बोलेगा। ओ तू अमारे साथ बोटी तोड़।....ओ कितना बुरा बात ए, अम खाता ए और तू अमारा मुँह देखता ए।''[2] बाबू द्वारा माँस का टुकड़ा अस्वीकार करने पर वे पठान बाबू को और अधिक चिढ़ाते हैं - ''मांस नहीं खाता ए बाबू त¨ जाओ जनाना डब्बे में बैठो, इधर क्या करता ए?''[3]

दुबले बाबू को इन पठानों का व्यवहार बहुत खराब लगता है लेकिन भीतर-भीतर वह उस अग्नि में जलता रहता है। भीष्म साहनी ने इस कहानी में डिब्बे की भीतर और रेलगाड़ी के बाहर की परिवेश की भयावहता को सम्पूर्णता में उभारा है - ''एक आदमी साथ वाले डिब्बे में से पानी लेने उतरा और नल पर जाकर पानी ल¨टे में भर रहा था। वह भागकर अपने डिब्बे की ओर लौट आया। छलछलाते ल¨टे में से पानी गिर रहा था। लेकिन जिस ढंग से वह भागा था उसी ने बहुत कुछ बता दिया। नल पर खड़े और ल¨ग भी, तीन या चार आदमी रहे होंगे...इधर-उधर अपने-अपने डिब्बे की ओर भाग गए थे। इस तरह घबराकर भागते लोगों को मैं देख चुका था। देखते-ही देखते प्लेटफार्म खाली हो गया।''[4]

भीष्म साहनी ने इस परिवेश को पूरी यथार्थता से व्यक्त किया है - ''भागते व्यक्ति, खटाक से बंद होते दरवाजे, घरों की छतों पर खड़े लोग, चुप्पी और सन्नाटा, सभी दंगों के चिन्ह थे।''[5]

गाड़ी की डिब्बे में प्रवेश करने के लिए एक हिन्दू यात्री उसकी पत्नी और एक लड़की घुसने का प्रयास करते हैं। लेकिन पठान लोग उन्हें अन्दर घुसने से मना करते हैं। ये यात्री डिब्बे में घुस नहीं पाते और पठान उस हिन्दू यात्री की पत्नी को पैर मारता है। पठानों द्वारा हिन्दू यात्री के साथ यह दुर्व्यवहार दुबले बाबू के हृदय में काँटे की तरह चुभता रहता है। इस व्यवहार को देखकर डिब्बे में बैठी बुढ़िया बोलती है - ''बहुत बुरा किया है तुम लोगों ने बहुत बुरा किया है। बुढ़िया ऊँचा-ऊँचा बोल रही थी। 'तुम्हारे दिल में दर्द मर गया है। छोटी-सी-बच्ची उनके साथ थी, बेरहमों, तुमने बहुत बुरा किया है। धक्का देकर उतार दिया है।' गाड़ी सूने प्लेटफार्म को लाँघती आगे बढ़ गई। डिब्बे में व्याकुल-सी चुप्पी छा गई। बुढ़िया ने बोलना बंद कर दिया था। पठानों का विरोध कर पाने की किसी की हिम्मत नहीं हुई।''[6]

दुबला बाबू अन्दर से भयभीत तो था, साथ ही बाहर की वातावरण से और अधिक भयाक्रान्त हो जाता है - ''आग है देखो, आग लगी है।''[7]

इस बाहर की घटना का प्रभाव डिब्बे की अंदर भी पड़ रहा था - ''अपनी-अपनी जगह बैठे सभी मुसाफिरों ने अपने आस-पास बैठे लोगों का जायजा ले लिया है। सरदार जी उठकर मेरी सीट पर आ बैठे। नीचे वाली सीट पर बैठा पठान अपने दो साथी पठानों के साथ ऊपर वाली बर्थ पर चढ़ गया।''[8]

रेलगाड़ी चलती जा रही थी और इस भयावह वातावरण को और अधिक तीव्र से तीव्रतर करती जा रही थी - ''अगले स्टेशन पर जब गाड़ी रूकी तो वहाँ भी सन्नाटा था। कोई परिंदा तक नहीं फड़क रहा था। हां, एक बिश्ती पीठ पर पानी की मशक लादे प्लेटफार्म लाँघकर आया और मुसाफिरों को पानी पिलाने लगा। 'लो, पियो पानी, पानी पियो', औरतों की डिब्बे में से औरतों और बच्चों के अनेक हाथ बाहर निकल आए थे। बहुत मार-काट हुई है, बहुत लोग मरे हैं। लगता था, वह इस मार-काट में अकीला पुण्य कमाने चला आया है।''[9]
परिवेश की भयावहता खिड़की से बाहर रात्रि को और अधिक घनीभूत कर देती है - ''दुनिया और भी अनिश्चित और भी अधिक रहस्यमयी हो उठी। किसी-किसी वक्त दूर किसी ओर आग की शोले उठते नजर आते, कोई नगर जल रहा था।''[10]
दुबला-पतला बाबू अमृतसर स्टेशन आने पर निडर हो उठता है और पठान से कहता है - ''नीचे उतर, तेरी मैं.......हिंदू औरत को लात मारता है। हरामजादे, तेरी उस......''[11]

यह दुबला बाबू जो अब तक चुप बैठा था अत्यन्त क्रुद्ध हो जाता है - ''अपने घर में शेर बनता था तेरी मैं उस पठान बनाने वाले की....''[12]

ये पठान स्टेशन आने पर दूसरे डिब्बे में चले जाते हैं। लेकिन दुबले बाबू का गुस्सा पठानों के न होने पर एक अन्य मुस्लिम यात्री पर फूट पड़ता है जो डिब्बे में प्रवेश के लिए खटखटाते हैं। यह दुबला बाबू कहीं से एक लोहे की छड़ ले आता है और मुस्लिम यात्री के चेहरे पर जोर से वार करता है - ''तभी सहसा उसकी चेहरे पर लहू की दो-तीन धारें एक साथ फूट पड़ीं........ वह कटे हुए पेड़ की भाँति नीचे जा गिरा। और उसकी गिरते ही औरत ने भागना बंद कर दिया, मानो उन दोनों का सफर एक साथ खत्म हो गया।''[13]

दुबले बाबू के इस अमानवीय व्यवहार पर सरदार जी शाबासी देते हैं कि बड़े जीवट वाले हो बाबू। दुबले-पतले हो, पर बड़े गुर्देवाले हो। बड़ी हिम्मत दिखाई है। इस प्रकार कहानीकार ने रूढ़िवादी और मूल्यहीन विश्वासों और अमानवीय आचरण के द्वारा हिन्दू-मूस्लिम दंगों की एक वास्तविक गाथा को सरलता के साथ कलात्मक रूप में यहाँ चित्रित किया है। साम्प्रदायिकता, धर्मांधता, जातिवादिता और रूढ़िगत विश्वासों पर उन्होंने तीव्र प्रहार किए हैं।

भीष्म साहनी की कहानी 'पहला पाठ' में एक तरफ उदारतावाद का पाखंड है और दूसरी ओर कट्टरवाद। ये कहानी मंडाफोड़ टोली में इस बात को जाहिर करती है कि वाणप्रस्थी जी अछूतों को अपना सकते हैं, लेकिन मुसलमानों को नहीं। इस कहानी का मकसद यह है कि सिर्फ सवर्णों और अछूतों के बीच ही नहीं, बल्कि हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच भी तअस्सुब नहीं होना चाहिए। ये मकसद इतना लुभावना है कि हम उसके चकाचौंध में इस पर भी गौर नहीं करते कि वो माहौल और अमल की नतीजे की तौर पर पैदा न होकर ऊपर से आकर जुड़ गया है।

सुल्तान अहमद लिखते हैं - ''भीष्म साहनी की साम्प्रदायिकता विरोधी मनोवृत्ति का परिचय हमें 'पहला पाठ' कहानी से ही चल जाता है, जिसमें ब्रह्मचारी देवव्रत की शिक्षा-दीक्षा पुस्तकों द्वारा कम और चाँटों द्वारा अधिक हुई थी। सबसे

पहली शिक्षा उसे हिन्दुत्व प्रेम की मिली, जब वह आठ-नौ वर्ष का था। एक बार आचार्य बाणप्रस्थी जी अछूतोद्धार पर करूणाजनक व्याख्यान देते हैं जिससे प्रभावित होकर देवव्रत एक मैली बनियान वाले लड़की को यह कहकर गले लगा लेता है, 'तू मेरा भाई है, तू अछूत नजर आता है? यह तो मुसलमान है।' एक तरफ उदारतावाद का पाखण्ड है और दूसरी ओर कट्टरवाद- आदमी के बीच दीवार खड़ी करने की मनोवृत्ति।''[14]

भीष्म साहनी की 'सरदारनी' कहानी एक सच्ची घटना पर आधारित है। कहानीकार ने साम्प्रदायिक विद्वेष का चित्रण करते हुए कहानी को साम्प्रदायिक सद्भाव में बदल दिया है। कहानी एक अफवाह से आरम्भ होती है। मास्टर करमदीन स्कूल बन्द कर घर आ जाते हैं। अफवाह है कि हिन्दू-मुसलमान परस्पर मार-काट करने की तैयारी कर रहे हैं। मास्टर करमदीन मुसलमान मुहल्ले में जाना चाहते हैं। सरदारनी जो पड़ोस में रहती है, उसे यह नागवार लगता है। वह कहती है - मास्टर यहीं पड़े रहो। तुम्हारा कोई बाल भी बाँका नहीं कर सका। यह उनके रक्षा का वचन देती है। दंगा शुरू हो जाता है। मास्टर का नाम भी दंगाई नोट करते हैं, पर सरदानी अपनी जान पर खेलकर उन्हें मुसलमान मुहल्ले में पहुँचाती है। इस प्रकार अपने प्राण संकट में डालकर वह अपने वचन का पालन करती है। इस कहानी द्वारा कहानीकार दो उद्देश्य की पूर्ति करते हैं, एक तो यह बताना कि दंगों का कोई कारण नहीं होता। अफवाहों पर ध्यान नहीं देनी चाहिए। दूसरा उद्देश्य है सरदानी के उदात्त चरित्र द्वारा साम्प्रदायिक सद्भाव का वातावरण उत्पन्न करना। जाति-धर्म सम्प्रदाय के संकुचित धारणा त्यागकर मानव सेवा की धर्म का निर्वाह करना।

भीष्म साहनी की अंतिम कहानी 'मैं भी दिया जलाऊँगा, माँ' में गहरे मानवीय बोध से अनुप्रेरित साम्प्रदायिक तांडव के बीच घिरे एक मुस्लिम बच्चे की मन को अत्यंत करूणा और भाव-प्रवणता की साथ उकेरा गया है। यह कहानी पाँच-छः साल के बच्चे को लेकर है और उन दिनों की है जब गुजरात में नर-संहार चल रहा था। भीष्म साहनी कहते हैं - ''उस रात जब नन्हें शाहिद की मृत्यु हुई, वह सपना देख रहा था। देख ही नहीं रहा था। उसकी आँखों के सामने मानों उसका सपना साकार हो रहा था। वह स्वयं अपने सपने को चरितार्थ होते देख रहा था और उसमें स्वयं भाग ले पाने की लिए बेचैन हो रहा था। .... यों, पिछली शाम से ही नन्हें शाहिद का सपना साकार आकार ग्रहण करने लगा था, जब अपनी माँ का हाथ पकड़े वह अपनी कोठरी के बाहर खड़ा था और उसकी माँ, कोठरी के बाहर, बस्ती के बड़े आँगन में शहर से आने वाली किसी बीवी के साथ बतिया रही थी। ....वह औरत कौन थी, शाहिद नहीं जानता था। उसने उसे पहले कभी नहीं देखा था। पर वह औरत उसकी माँ जैसी नहीं थी।

शहरवालों बीवी टकटकी बाँध, शाहिद की माँ के चेहरे की ओर देखे जा रही थी, ''मैंने तो सुना है कि जो कोई फद शाह आलम की दरगाह पर दिया जलाता, वह साथ ही साथ नरसी भगत की नाम पर भी दिया जलाता है। क्या यह सच है?'' ''हाँ, बहन जी यह चलन है।......ऐसा क्यों?'' ....दोनों पहुँचे हुए खुदा की बंदे थे। दोनों पहुँचे हुए पीर-फकीर थे।................शाहिद सुन रहा था। तभी उसके हाथ में कँपकपी सी हुई मानों उसका हाथ दिया जलाने के लिए मचल उठा हो। शाहिद मचल कर बोला, माँ अब की बार मैं भी दिया जलाऊँगा। कुल की खैर, कुल का भला।'' ''अल्लाह रहम करे, तुम भी दिया जलाना बेटा'' और कहते हुए माँ की आवाज काँप गई थी। पर रात के ही किसी पहर में, बाहर की ओर से तरह-तरह की आवाजें आने लगी थीं। बाहर की आवाजें ऊँची उठने लगी थीं। शाहिद की नींद टूटी जब नानी-माँ की मुँह से निकला, हत्या अल्लाह खैर।'' तभी वहाँ खटका हुआ था। तभी वह घटना भी घटी थी जो सच्चाई और सपने की बीच झूल रही थी। तभी नन्हें शाहिद को लगने लगा था, जैसे उर्स आ गया है और सभी ल¨ग दिये जलाने की तैयारी में लग गए हैं। .... और वह अधखुले दरवाजे में से बाहर निकल गया था। पर उसी वक्त बाहर से आने वाली आवाजें ऊँची उठने लगी भी, और टूटी-फूटी कोठरियों की इस बस्ती की ओर ललकारती हुई बढ़ती आ रहीं थीं, जबकि नन्हा शाहिद उर्स में दिया जलाने जा रहा था।''[15]

इस कहानी का अंत अपनी मार्मिकता में गहरे अवसाद में नहीं ले जाता बल्कि हमें तीखे सवालों से रू-ब-रू कराता है जो आज और विकराल बनकर हमारी चेतना को बुरी तरह से झकझोर रहे हैं। क्या नन्हें शाहिद की शहादत साम्प्रदायिक सौहार्द्र और मानवीय संवेदना से भरी हमारी उस हजारों साल पुरानी सांस्कृतिक परम्परा की मौत है जो आज भी हमारे सामाजिक, पारिवारिक और शैक्षिक संस्कारों में कहीं रची-बसी तो है लेकिन लगातार उसमें कमी आ रहा है।
इस प्रकार हम देखते हैं कि कहानीकार भीष्म साहनी ने अपने समय की क्रूरतम साम्प्रदायिक घटनाओं को बड़े ही शुद्ध मन से प्रस्तुत किया है।

संदर्भः

1. साहनी, भीष्म, (1973), *पटरिया (कहानी संग्रह),* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ0 संख्या-150
2. वही - पृ0 सं0-150
3. वही - पृ0 सं0-151
4. वही - पृ0 सं0-151
5. वही - पृ0 सं0-151
6. वही - पृ0 सं0-153
7. वही - पृ0 सं0-153
8. वही - पृ0 सं0-153
9. वही - पृ0 सं0-154
10. वही - पृ0 सं0-155
11. वही - पृ0 सं0-156
12. वही - पृ0 सं0-156
13. वही - पृ0 सं0-158
14. कदम, अभिनव, पत्रिका, सं0 - जयप्रकाश धूमकेतु, अंक-2-3, नवम्बर-1999- अक्तूबर-2000, पृ0-80-81
15. साहनी, भीष्म - मैं भी दिया जलाऊँगा, माँ' कहानी, पृ0-80-81

चयनधर्मिता का प्रश्न और 'आषाढ़ का एक दिन'

डॉ. लवकुश कुमार
सहायक प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
कालिंदी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

शोध सारांश:
मोहन राकेश का रचनाकाल 20वीं शताब्दी के छठें और सातवें दशक से संबंधित रहा है। यह वहीं समय है जब नई कविता और नई कहानी आंदोलन को विस्तार मिला। राकेश जी अपने नाटकों में इसी दौर के परिवेश को व्यंजित करने की कोशिश की है। व्यक्तिवाद, अस्तित्ववाद और लघुमानववाद जैसी धारणाओं को केंद्र में रखकर उन्होंने अपनी नाटकों की रचना की। 'आषाढ़ का एक दिन' द्वंद्व प्रधान नाटक है। यह द्वंद्व व्यक्ति स्वतंत्रता और परिस्थितियों, भावना और यथार्थ, सत्ता और जनसामान्य तथा एक ही व्यक्ति के विभाजित व्यक्तित्व के बीच बरकरार है। जहाँ व्यक्ति चयनधर्मिता के प्रश्न को लेकर सत्त द्वन्द्वग्रस्त रहता है। नाटक का नायक कालिदास और नायिका मल्लिका है। यह कालिदास, आदि कवि कालिदास न होकर आधुनिक भावबोध से युक्त मध्यमवर्गीय पलायनवादी है। नायिका मल्लिका भावना के भ्रमरजाल में फंसी रहती है। अन्य प्रमुख पात्रों में मल्लिका की माँ अम्बिका, विलोम, प्रियंगुमंजरी और दन्तुल है। गौण पात्रों में मातुल, निक्षेप, रंगिणी, संगिनी, अनुस्वार और अनुनासिक हैं। राकेश जी ने रंगमंच को ध्यान में रखकर ही अपने नाटकों की रचना की। उनका मानना है कि नाटक जैसी साहित्यिक विधा का रंगमंच से अटूट संबंध होना चाहिए।

बीज शब्द :
चयनधर्मिता, द्वंद्व, त्रासदी, आत्मकेंद्रित और भावना

मोहन राकेश ने तीन महत्त्वपूर्ण नाटकों की रचना की। सन् 1958 में 'आषाढ़ का एक दिन', 1963 में 'लहरों के राजहंस' और 1969 में 'आधे अधूरे'। मोहन राकेश का रचना काल 20वीं शताब्दी के 6ठे-7वें दशक से संबंधित रहा है। यह वहीं समय है जब नई कविता और नई कहानी को विस्तार मिला। ये नाटककार से पूर्व एक प्रसिद्ध कहानीकार और उपन्यासकार के रूप में स्थापित हो चुके थे। और नई कहानी आंदोलन के प्रनेता थे। राकेश जी अपने नाटकों में भी इसी दौर के परिवेश को व्यंजित करने की कोशिश की है। व्यक्तिवाद, क्षणवाद, अस्तित्ववाद और लघुमानववाद जैसी धारणाओं को केंद्र में रखकर नाटकों की रचना की।

'आषाढ़ का एक दिन' सतही तौर पर ऐतिहासिक स्वरूप का जान पड़ता है। जोकि वास्तव में है नहीं। मोहन राकेश न तो इतिहास का पुनर्लेखन की कोशिश की और न ही किसी ऐतिहासिक पात्र के जीवन वृत्त को रचने का प्रयास किया। इस नाटक में गुप्तकालीन परिवेश तथा कालजयी रचनाकार कालिदास की चर्चा कुछ दूसरा ही संकेत छोड़ने का प्रयास किया है। वह निश्चित तौर पर अतीत का पहाड़ा न होकर आधुनिक भावबोध को उभारने से जुड़ा है। नाटक के नायक कालिदास को लेकर कई आपत्तियाँ उठाई गई है। राकेश जी इस सन्दर्भ में नाटक लहरों के राजहंस की भूमिका में लिखते हैं, "अभिज्ञान शाकुंतलम, कुमारसम्भव तथा मेघदूत पढ़कर यदि कालिदास का ऐसा ही चरित्र उनके मन में बनता है तो क्या कहा जा सकता है? रूढ़िगत संस्कार ही जहाँ व्यक्ति का विवेक बन जाएँ, वहाँ और

आशा करना व्यर्थ है। हमारे यहाँ परंपरा ही कुछ ऐसी है कि हम अपने जातीय प्रतीकों को सदा अतिमानवीय धरातल पर रखकर देखना चाहते हैं। उनमें मानवीयता का निदर्शन हमें चोट पहुँचाता है। इसका मुख्य कारण शायद यही है कि हमें स्वयं अपनी मानवीयता में विश्वास नहीं है, अपने यथार्थ में आस्था नहीं है। क्योंकि अपने से कुछ आशा नहीं होती, इसलिए यह बात असंभव प्रतीत होती है कि मानवीय धरातल पर रहकर भी जीवन में कुछ महान किया जा सकता है। केवल उसी धरातल पर रहकर किया जा सकता है, यह तो शायद सुनने में बहुत भारी पड़े। आषाढ़ का एक दिन में कालिदास का जैसा भी चरित्र है, वह उनकी रचनाओं में समाहित उनके व्यक्तित्व से बहुत हटकर नहीं है; हाँ, आधुनिक प्रतीक की निर्वाह की दृष्टि से उसमें थोड़ा परिवर्तन अवश्य किया गया है।"[1] कालिदास के नाटकों को पढ़ने के दौरान उनकी एक ऐसी छवि उभरी जिसे ध्यान में रखकर नाटककार ने नायक कालिदास को गढ़ा।

मध्यमवर्गीय अवसरवादी मानसिकता ने जिस व्यक्तिवाद को जन्म दिया उसके समक्ष व्यक्ति की स्वतंत्रता तथा सामाजिक परिस्थितियों के दबाव के बीच सत्त द्वंद्व उपस्थित रहा है।

यह कालिदास मोहन राकेश का आत्म प्रक्षेपित नायक है। जिसपर उन्होंने व्यक्तिवादी दर्शन तथा अस्तित्ववादी धारणा का आरोप किया है। यही वज़ह है कि 'आषाढ़ का एक दिन' का नायक कालिदास, आदि कवि कालिदास से बिल्कुल अलग-थलग आत्मकेंद्रित, दायित्वशून्य तथा पलायनवादी चरित्र ठहरता है। मध्यमवर्गीय अवसरवादी मानसिकता ने जिस व्यक्तिवाद को जन्म दिया उसके समक्ष व्यक्ति की स्वतंत्रता तथा सामाजिक परिस्थितियों के दबाव के बीच सत्त द्वंद्व उपस्थित रहा है। यह कालिदास ऐसे ही द्वंद्व से संचालित चरित्र है। जो एक तरफ महत्त्वाकांक्षाओं को वरीयता देता है तो दूसरी तरफ परिस्थितियों के घात-प्रतिघात से टूटता बिखरता रहता है।

'आषाढ़ का एक दिन' एक द्वंद्व प्रधान नाटक है। यहाँ द्वंद्व सभी स्तरों पर बरकरार है। अलग-अलग चरित्रों के बीच, एक ही चरित्र के विभाजित व्यक्तित्व के बीच, व्यक्ति और समाज के बीच, कर्तव्य और भावना के बीच तथा राजसत्ता की क्रूरता और जनसामान्य की मासूमियत के बीच।

इस नाटक का केन्द्रीय कथ्य एक रचनाकार के चयनधर्मिता के द्वंद्व से जुड़ा है। राकेश जी यह दिखाने की कोशिश करते हैं कि, कलाकार की यह समस्या सनातन रही है। एक तरफ वह महत्त्वाकांक्षी होने की वज़ह से राजसत्ता से भी जुड़ना चाहता है तो दूसरी तरफ उसकी सृजनशीलता उसे राजसत्ता के विरोध के लिए उकसाती है! वे जर्नल ऑफ़ साऊथ एशियन लिटरेचर, ईस्ट लैंसिस, मिशिगन के संपादक डॉ.कालों कपोला को एक साक्षात्कार में बताते हैं, "मैं इस नाटक (आषाढ़ का एक दिन) में आज के लेखक की दुविधा को चित्रित करना चाहता था- लेखक जो राज्य या इसी प्रकार की अन्य संस्थाओं द्वारा प्रस्तावित लोभ के प्रति आकर्षित होता है और दूसरी ओर कहीं अपने प्रति प्रतिबद्ध भी होता है।"[2] राजसत्ता भोगने की लालसा तथा व्यवस्था विरोधी की भूमिका के बीच का चयन किसी भी काल के रचनाकार का द्वंद्व रहा है। नायक कालिदास राजधिकारियों की क्रूरता के लिए राजसत्ता के अन्याय का विरोध करता है। इसका कथन है, "मैं राजकीय मुद्राओं से क्रीत होने के लिए नहीं हूँ।"[3] किन्तु दूसरी तरफ सामाजिक परिस्थितियों से तंग आकर अभावोपेक्षा और भर्त्सना की ज़िंदगी से विवश होकर राजसत्ता की ज़िंदगी का स्वीकार कर लेता है।

इस नाटक का नायक कालिदास जीवन पर्यंत दायित्व और महत्त्वाकांक्षा के बीच सत्त झूलता रहता है। यही वज़ह है कि न तो वह अपने कर्तव्य का समुचित पालन कर पाता है और न ही अपनी भावना का पूरी तरह से वरण कर पाता है। इस कालिदास की समस्या है जिससे वह प्रेम करता है उससे विवाह नहीं और जिससे विवाह उससे प्रेम नहीं! राजाधिकारी के रूप में भी अपने दायित्वों का निर्वाह नहीं कर पाता और अंत में अपनी सर्जनात्मक प्रेरणा को भी अंगीकार नहीं कर पाता। यह न केवल इस कालिदास की विडम्बना है बल्कि मध्यमवर्गीय दायित्वशून्य पलायनवादी व्यक्ति की विडम्बना है।

नाटककार ने स्वयं लिखा है, "मैं व्यक्तियों की यंत्रणा को उभारने की कोशिश करता हूँ।"[4] व्यक्ति की स्वतंत्रता तथा परिस्थितियों के संघात के बीच द्वंद्व से उत्पन्न यंत्रणा को ही राकेश जी ने अपने नाटकों का कथ्य बनाया है। अपनी कुशल रंग दृष्टि, रंग संकेतों तथा बिम्बों के द्वारा नाटककार ने इस द्वंद्व और यंत्रणा को जीवंत बनाने का प्रयास किया है। नाटक के पहले ही अंक में छाज से धान फटकती हुई अम्बिका तथा आषाढ़ की पहली बारिश में भीग कर आई मल्लिका के माध्यम से कर्तव्य तथा भावना के द्वंद्व को उजागर करने का प्रयास किया गया है। मल्लिका

का जीवन प्रेम और भावना को आधार बनाकर चलता है। उसके लिए प्रेम एक ऐसा अनुभव है जो "नील कमल की तरह कोमल और आर्द्र, वायु की तरह हल्का और स्वप्न की तरह चित्रमय!" वह अपनी माँ अम्बिका से कहती है, "मैंने भावना में एक भावना का वरण किया है। मेरे लिए वह सम्बन्ध और सब सम्बन्धों से बड़ा है। मैं वास्तव में अपनी भवना से प्रेम करती हूँ जो पवित्र है, कोमल है, अनश्वर है...।"[5] इसके विपरीत अम्बिका सामाजिक कटु सत्यों से परिचित चरित्र है। उसका वैध्व्य जीवन दुःखपूर्ण रहा है। जहाँ जीवन की कटुता से मुहँ नहीं मोड़ा जा सकता है। इसी वज़ह से वह मल्लिका से कहती है, "तुम जिसे भावना कहती हो वह केवल छलना और आत्म-प्रवंचना है।...भावना में भावना का वरण किया है!... मैं पूछती हूँ भावना में भावना का वरण क्या होता है? उससे जीवन की आवश्यकताएँ किस तरह पूरी होती है?"[6]

अम्बिका कालिदास के प्रेम का इस वज़ह से विरोधी है क्योंकि उसकी धारणा है "वह (कालिदास) आत्म-सीमित व्यक्ति है। संसार में उसे अपने सिवा किसी और से मोह नहीं।" वह मल्लिका से कहती है, "मैं ऐसे व्यक्ति को अच्छी तरह समझती हूँ। तुम्हारे साथ उसका इतना ही सम्बन्ध है कि तुम एक उपादान हो जिसके आश्रय से वह अपने से प्रेम कर सकता है, अपने पर गर्व कर सकता है।"[7] अम्बिका कटु यथार्थवादी चरित्र है। उसका यह कहना, उसके (कालिदास) प्रभाव से मेरा घर नष्ट हो रहा है। सामाजिक दायित्वों से रहित कालिदास के पलायनवादी चरित्र को उद्घाटित करता है। क्योंकि अम्बिका इस बात को जानती है कि बिना विवाह के स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध सामाजिक लोकोपवाद का कारण होता है।

"तुम जिसे भावना कहती हो वह केवल छलना और आत्म-प्रवंचना है।...भावना में भावना का वरण किया है!... मैं पूछती हूँ भावना में भावना का वरण क्या होता है? उससे जीवन की आवश्यकताएँ किस तरह पूरी होती है?"

इसके विपरीत मल्लिका कालिदास से निःस्वार्थ व निःशर्त प्रेम करती है। वह कालिदास की काव्य प्रतिभा से परिचित है। वह अपना सर्वस्व निक्षावर करके भी कालिदास को एक प्रसिद्ध रचनाकार के रूप में देखना चाहती है। नाटक के तीसरे अंक में उसका स्वगत कथन इस बात की ओर इशारा करता है, "मैंने कभी तुम्हें अपने से दूर नहीं होने दिया। तुम रचना करते रहे, और मैं समझती रही कि मैं सार्थक हूँ, मेरे जीवन की भी उपलब्धि है। ...मैं टूटकर भी अनुभव करती रही कि तुम बन रहे हो। क्योंकि मैं अपने को अपने में न देखकर तुममें देखती थी।"[8] मल्लिका कालिदास पर किसी बंधन को थोपना नहीं चाहती। वह विवाह तथा सामाजिक आवश्यकता से परिचित होकर भी कालिदास पर विवाह के लिए दबाव नहीं डालती। स्वयं एक प्रकार से वारांगनत्व को स्वीकार कर परिस्थितियों के हाथो ठगी जाती है। मल्लिका के माध्यम से राकेश जी ने नारी की यंत्रणा को भी उद्घाटित करने का प्रयास है। सूरदास जी भी भ्रमरगीत के माध्यम से नारी जीवन की त्रासदी एवं पुरुष स्वेच्छाचारिता को सबसे पहले उजागर करना चाहा। 'आषाढ़ का एक दिन' सतही तौर पर कुछ ऐसी ही समस्या से जुड़ा प्रतीत होता है। परन्तु वास्तव में यह नारी यंत्रणा और त्रासदी का नाटक न होकर मानव जीवन की यंत्रणा और त्रासदी का नाटक है। हालाँकि इसकी नायिका मल्लिका ही है। इसी के इर्द-गिर्द नाटक की पूरी कथा चलती रहती है। फिर भी नाटककार ने बड़ी ही कुशलता से यह दर्शाने का प्रयास किया है कि, आधुनिक जीवन परिस्थितियों से केवल नारी जीवन ही आहत नहीं है बल्कि पुरुष भी आहत है।

इस नाटक में तीन नारी पात्र हैं। मल्लिका, अम्बिका और प्रियंगुमंजरी। मल्लिका अपनी ही भावनाओं को वरीयता देने के कारण आहत है। अम्बिका अपनी पुत्री मल्लिका तक अपने विचारों को न संप्रेषित करने के कारण आहत है, तो प्रियंगुमंजरी महत्त्वाकांक्षा और वैवाहिक जीवन के बीच तालमेल न बैठने के कारण आहत है। पुरुष पात्रों में कालिदास और विलोम की भी यदि चर्चा की जाए तो कुछ ऐसा ही प्रतीत होता है। कालिदास जहाँ भावना और कर्तव्य के बीच झूलता है और अंततः अपने आपको निर्वासित करता है। तो विलोम की त्रासदी यह है कि, सामाजिक दायित्वों के निर्वाह करने के बावजूद भी उसे निराशा ही मिलती है। यह भी मल्लिका से प्रेम करता है। किन्तु उसे मिलता है मल्लिका का प्रेम रहित देह! वह भी एक रचनाकार है। लेकिन अवसरों का उसे लाभ नहीं मिलता। उसका कथन है, "विलोम क्या है? एक असफल कालिदास। और कालिदास? एक सफल विलोम।"[9] उसकी इसी त्रासदी को उभारता है।

नाटक का पहला अंक चरित्रों के मानसिक द्वंद्व के साथ-साथ सत्ता और जनसामान्य के बीच के द्वंद्व को भी उभारता है। घोड़ो की टापों की आवाज़ को सुनकर अम्बिका राजाधिकारियों की ओर इशारा करती हुई कहती है, "कभी वर्षों में ये आकृतियाँ यहाँ दिखाई देती हैं। और जब भी दिखाई देती हैं, कोई न कोई अनिष्ट होता है। कभी युद्ध की सूचना आती है, कभी महामारी की।"[10] नाटक के पहले अंक में नाटककार ने कथा क्रम को आगे बढ़ाते हुए यह सूचना दी है कि, उज्जयिनी के शासक वररुचि के माध्यम से कवि कालिदास को राजकवि पद का प्रस्ताव भेजा है। आरंभ में राजसत्ता के प्रति विरक्त कालिदास मल्लिका के समझाने पर उज्जयिनी जाने को तैयार हो जाता है। निक्षेप का कथन है, "योग्यता एक चौथाई व्यक्तित्व का निर्माण करती है। शेष पूर्ति प्रतिष्ठा द्वारा होती है।"[11]

कालिदास अपने ग्राम-प्रांतर की भूमि को अपनी सर्जनात्मक प्रेरणा मानता है। उसे डर है कि इसे छोड़कर कही वह अपनी सर्जनात्मक प्रेरणा न खो दे। उसका कथन है, "यह ग्राम-प्रांतर मेरी वास्तविक भूमि है। मैं कई सूत्रों से इस भूमि से जुड़ा हूँ। उस सूत्रों में तुम हो, यह आकाश और ये मेघ हैं, यहाँ की हरियाली है, हिरणों के बच्चे हैं, पशुपाल हैं। यहाँ से जाकर मैं अपनी भूमि से उखड़ जाऊँगा। इसपर मल्लिका उसे समझाती है, "यह क्यों नहीं सोचते कि नयी भूमि तुम्हें यहाँ से अधिक संपन्न और उर्वरा मिलेगी। इस भूमि से तुम जो कुछ ग्रहण कर सकते थे, कर चुके ही। तुम्हें आज नयी भूमि की आवश्यकता है, जो तुम्हारे व्यक्तित्व को अधिक पूर्ण बना दे।... कोई भूमि ऐसी नहीं जिसके अंतर में कोमलता न हो। तुम्हारी प्रतिभा उस कोमलता का स्पर्श अवश्य पा लेगी।"[12]

नाटक का दूसरा अंक जीन प्रमुख तथ्यों को उजागर करता है। उनमें अनेका-नेक रचनाओं को रचकर कालिदास का सुविख्यात होना, कालिदास का राजदुहिता प्रियंगुमंजरी से विवाह होना और कश्मीर के शासक पद पर कालिदास का आरूढ़ होना है। उज्जयिनी से कश्मीर जाने के क्रम में कालिदास अपने सैन्य अधिकारियों और पत्नी प्रियंगुमंजरी के साथ अपने ग्राम-प्रांतर में क्षणिक विश्राम करता है। दूसरे अंक में कालिदास कही भी प्रत्यक्ष उपस्थित नहीं है न ही वह कोई संवाद बोलता है। नाटककार ने आधुनिक भावबोध के सृजन के साथ-साथ राजसत्ता की अकुशलता, राजाधिकारियों की अदुर्दर्शिता तथा शिक्षा की कूप माण्डुकता को भी उजागर करने का प्रयास किया है। प्रियंगुमंजरी और मल्लिका का संवाद राजसत्ता के दर्प और जनसामान्य की मासूमियत के दर्प को उभारता है। रंगिणी और संगिनी के संवाद आधुनिक शिक्षण पद्धति तथा शोध कार्यों की अव्यावहारिकता का पर्दाफाश करता है, तो अनुस्वार और अनुनासिक के संवाद हास्यव्यंग्य की सृष्टि के साथ-साथ राजाधिकारियों की अक्रमन्यता तथा अदुर्दर्शिता को उजागर करता है।

नाटक के तीसरे अंक की शुरुआत कश्मीर शासन तंत्र के विफल होने, जनता भड़कर राजद्रोह पर उतारू होने और कालिदास द्वारा शासक पद छोड़कर काशी जाकर सन्यास लेने से होता है। इस अंक में मल्लिका और कालिदास के दो अत्यंत लंबे स्वगातालाप है। मल्लिका सोचती है, जिसके कारण वह टूटती-बिखरती रही फिर भी उसकी रचनाओं को देखकर वह अपने जीवन को सार्थक मानती रही उसी ने मल्लिका के सत्ता बोध को निरर्थक कर दिया। कालिदास के विषय में उठे अफ़वाहों को लेकर वह सोचती है, "व्यवसायी कहते थे, उज्जयिनी में अपवाद है, तुम्हारा बहुत-सा समय वारांगणाओं के सहवास में व्यतीत होता है।... परन्तु तुमने वारांगणा का यह रूप भी देखा है? आज तुम मुझे पहचान सकते हो?"[13]

मल्लिका भौतिक अवस्था तथा दबाव की वज़ह से विलोम से विवाह कर वारांगनत्व को स्वीकार करती है। क्योंकि विलोम से उसका जुड़ाव प्रेम रहित मात्र दैहिक जुड़ाव था। अपनी बच्ची की ओर इशारा करते हुए कालिदास के प्रति उसका स्वगत कथन है, "इस जीव को देखते हो? पहचान सकते हो? यह मल्लिका है जो धीरे-धीरे बड़ी हो रही है और माँ के स्थान पर अब मैं उसकी देख-भाल करती हूँ।... यह मेरे अभाव की संतान है। जो भाव तुम थे, वह दूसरा नहीं हो सका, परन्तु अभाव के कोष्ठ में किसी दूसरे की जाने कितनी –कितनी आकृतियाँ हैं! जानते हो मैंने अपना नाम खोकर

"इस जीव को देखते हो? पहचान सकते हो? यह मल्लिका है जो धीरे-धीरे बड़ी हो रही है और माँ के स्थान पर अब मैं उसकी देख-भाल करती हूँ।... यह मेरे अभाव की संतान है। जो भाव तुम थे, वह दूसरा नहीं हो सका, परन्तु अभाव के कोष्ठ में किसी दूसरे की जाने कितनी –कितनी आकृतियाँ हैं! जानते हो मैंने अपना नाम खोकर एक विशेषण उपार्जित किया है और अब मैं अपनी दृष्टि में नाम नहीं, केवल एक विशेषण हूँ।"

एक विशेषण उपार्जित किया है और अब मैं अपनी दृष्टि में नाम नहीं, केवल एक विशेषण हूँ।"[14] मल्लिका के अंतहीन त्रासदी को उजागर करता है।

तीसरे अंक में कालिदास ग्राम-प्रांतर लौट आता है और मल्लिका से मिलता है। राकेश जी ने इस नाटक के अंत में यह दर्शाने का प्रयास किया है कि, एक रचनाकार का व्यक्तित्व सत्ता के द्वारा दी गई सुख-सुविधाओं के प्रलोभन में नहीं फँस सकता। वह अपनी रचनाधर्मिता और प्रेरणा की ओर अवश्य उन्मुख होगा। यही वज़ह है कि, इस नाटक में कालिदास ने अपनी सर्जनात्मक प्रेरणा तथा अपनी वास्तविक भूमि की ओर लौटता है। उसका कथन है, "मैंने उस जीवन और वातावरण में रहकर बहुत कुछ लिखा है। परन्तु मैं जानता हूँ कि मैंने वहाँ रहकर कुछ नहीं लिखा। जो कुछ लिखा है वह यहाँ के जीवन का ही संचय था। 'कुमारसंभव' की पृष्ठभूमि यह हिमालय है और तपस्विनी उमा तुम हो। 'मेघदूत' के यक्ष की पीड़ा मेरी पीड़ा है और विरह-विमर्दिता यक्षिणी तुम हो- यद्यपि मैंने स्वयं यहाँ होने और तुम्हें नगर में देखने की कल्पना की। 'अभिज्ञान शाकुंतल' में शकुंतला के रूप में तुम्हीं मेरे सामने थीं। मैंने जब-जब लिखने का प्रयत्न किया तुम्हारे और अपने जीवन के इतिहास को फिर-फिर दोहराया। और जब उससे हटकर लिखना चाहा, तो रचना प्राणवान् नहीं हुई। 'रघुवंश' में अज का विलाप मेरी ही वेदना की अभिव्यक्ति है और...।"[15]

यद्यपि कालिदास अपनी प्रेरणा को लेकर पूरी तरह से प्रतिबद्ध है। तथापि मल्लिका की बच्ची के रोने की आवाज़ को सुनकर भाग खड़ा होता है। नाटककार ने यह दर्शाने का प्रयास किया, एक कलाकार भी भावना और स्थूल देह दोनों को अलग नहीं मानता। वह अपने प्रेम को समग्र रूप में स्वीकार करता है। उसे न ही तो केवल देह रहित मन चाहिए और न ही मन रहित शुष्क देह। कालिदास यह जान गया की मल्लिका अपनी दैहित पवित्रता खो चूँकि है तो ग्राम-प्रांतर से भी उसका पलायन स्वाभाविक है।

नाटक का शीर्षक 'आषाढ़ का एक दिन' पूरी तरह से सार्थक है। नाटक के तीनों अंकों की शुरुआत और अंत वर्षा, बिजली तथा मेघ से होती है। परन्तु सभी अंकों में इसका संकेत बदलता रहता है। पहले अंक में आषाढ़ का बारिश मल्लिका के लिए सौन्दर्य तथा सुख की अनुभूति देती है तो इस अंक के अंत में मेघों का छाना उसके हृदय में अवसाद का संकेत देता है। दूसरे और तीसरे अंक में आषाढ़ की बारिश यातना ग्रस्त जीवन में अश्रु वर्षण से जुड़ जाती है। नाटक के अंत में कालिदास का भाग खड़ा होना मल्लिका को अंतहीन आँसू में डूबो देता है। विडम्बना तो यह है कि, वह भी कालिदास के पीछे जाना चाहती है। किन्तु भावनाओं के साथ कुलाचे भरने वाला मल्लिका का मन अपनी गोद में बच्ची को देखकर उसके पाँवों में कर्तव्य-बोध की बेडियां डाल देता है। उसके कदम उठते हैं पर बच्ची के प्रति दायित्वबोध के कारण वहीं जड़ित भी हो जाते हैं। मोहन राकेश जी ने लिखा है, "जो भावना में होगा, निश्चित तौर पर वह यातना में होगा।"[16] यह नाटक मल्लिका और कालिदास के माध्यम से जीवन की स्वतंत्रता, चयन तथा वरण के आगे लगे प्रतिबंधो को उद्घाटित करता है।

भारतेंदु हरिश्चंद्र के पश्चात् नाटक और रंगमंच में द्वैत की स्थिति स्पष्ट रूप में नज़र आती है। उस द्वैत को अद्वैत में परिवर्तित करने वाले नाटककार हैं मोहन राकेश। उन्होंने अपने नाटकों को रंगमंच के लिहाजे से खड़ा किया। वे नाटक की भूमिका में लिखते हैं, "हिन्दी रंगमंच के विकास से निस्संदेह यह अभिप्राय नहीं है कि अत्याधुनिक सुविधाओं से संपन्न रंगशालाएँ राजकीय या अर्द्धराजकीय संस्थाओं द्वारा जहाँ-तहाँ बनवा दी जाएँ जिससे वहाँ हिन्दी नाटकों का प्रदर्शन किया जा सके। प्रश्न केवल आर्थिक सुविधा का ही नहीं, एक सांस्कृतिक दृष्टि का भी है। हिन्दी रंगमंच को हिन्दी-भाषी प्रदेश की सांस्कृतिक पूर्तियों और आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करना होगा, रंगों और राशियों के हमारे विवेक को व्यक्त करना होगा। हमारे दैनंदिन जीवन के राग-रंग को प्रस्तुत करने के लिए, हमारे सम्वेदों और स्पंदनों को अभिव्यक्त करने के लिए, जिस रंगमंच की आवश्यकता है, वह पाश्चात्य रंगमंच से कहीं भिन्न होगा। इस रंगमंच का रूपविधान नाटकीय प्रयोगों के अभ्यंतर से जन्म लेगा और समर्थ अभिनेताओं तथा दिग्दर्शकों के हाथों उसका विकास होगा।"[17] यही वज़ह है इस नाटक के रंग संकेत, नाट्य भाषा और शिल्प इसकी सबल अभिव्यक्ति देने में सक्षम है।

संदर्भ :

1. राकेश, मोहन, (2008), *लहरों के राजहंस,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.सं.-02: 19
2. तनेजा, जयदेव, (सं), (2012), *नाट्य-विमर्श,* अंकुर प्रकाशन, दिल्ली, पृ.सं.--51: 52
3. राकेश, मोहन, (2009), *आषाढ़ का एक दिन,* राजपाल एंड संज, कश्मीरी गेट, दिल्ली पृ.सं.-,-06: 31
4. वहीं, 10
5. वहीं: 15
6. वहीं 15
7. वहीं: 26
8. वहीं: 92-94
9. वहीं: 40
10. वहीं: 12-13
11. वहीं: 33
12. वहीं: 46
13. वहीं: 47
14. वहीं: 93
15. वहीं
16. वहीं-101-102
17. वहीं: दो शब्द

वर्चस्व की संस्कृति के बीच कृषक जीवन के संकट

डॉ. सरफराज अहमद
पीएच.डी. हिंदी विभाग
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली

शोध सारांश :
प्रारम्भिक काल से ही भारतीय समाज का विकास एक कृषि आधारित समाज की शक्ल में हुआ है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि हमारी सामाजिक व्यवस्था का कृषि एवं भूमि व्यवस्था से गहरा रिश्ता है। हमारे देश में कृषि केवल रोजगार का ही साधन नहीं है, बल्कि हमारे जीवन संस्कृति का स्तम्भ भी है। अंग्रेजी शासन के दौरान अपनायी गई आर्थिक नीतियों ने भूमि संबंधों में काफी फेर-बदल किया। ब्रिटिश शासन के समय से ही किसान विद्रोह का एक लम्बा इतिहास रहा है, जो आज भी किसी-न-किसी रूप में बना हुआ है। जिस देश की बहुसंख्यक आबादी गाँवों में रहती है, उस देश के लिए आज़ादी व गुलामी का सीधा रिश्ता गाँवों में रहनेवाले लोगों व उनके पेशों से जुड़ता है। इसलिए भारत की आज़ादी का सीधा रिश्ता कृषि एवं कृषि से जुड़ी आबादी से था। आज़ादी के बाद भी ब्रिटिश उपनिवेश से जुड़े सामंत और पूंजीपतियों का प्रभाव स्वदेशी शासन पर कायम रहा, जिसके परिणामस्वरूप स्वतंत्र भारत में कृषक समाज एक बार फिर उपेक्षित होने लगा। भारत में कृषि संबंधों में लगातार चला आ रहा असंतुलन आज़ादी के बाद के भूमि सुधारों के उपायों से भी नहीं दूर हो पाया। भूमि संबंधों की इस विषमता ने नक्सलवादी आन्दोलन को जन्म दिया। यह आंदोलन आज़ादी के बाद किसानों की उपेक्षा एवं भूमि सुधारों के अपेक्षित परिणाम ना निकलने से जो मोहभंग पैदा हुआ उसकी अभिव्यक्ति है। भारतीय समाज में 'अन्नदाता' कहे जाने वाले किसानों द्वारा अपनाया गया हिंसक संघर्ष, और उसके कारणों को किसी भी तरह सही नहीं ठहराया जा सकता, और ना ही हिंसक संघर्ष कृषि से जुड़ी समस्याओं का अंतिम समाधान देने में सक्षम है, फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि नक्सलबाड़ी आंदोलन ने कृषि और उससे जुड़े किसान एवं उसकी समस्याओं को मुख्यधारा के विचार- विमर्श के केंद्र में ला दिया । इस आन्दोलन ने भारतीय समाज पर जो प्रभाव डाला, उसका यथार्थ चित्रण नब्बे के बाद के उपन्यासों में भी देखने को मिलता है।

बीज शब्द :
सामाजिक व्यवस्था, आर्थिक नीतियां, नवधनाढ्यों, नक्सलबाड़ी, उपनिवेशवाद, पूंजीपतियों, स्वदेशी शासन, जमींदारी उन्मूलन कानून, काश्तकार, भूमि-सुधार, बटाई, सामाजिक आंदोलन, भूदान आंदोलन, गाँधीवादी, वर्ग- संघर्ष, किसान आन्दोलन, भूमिहीन, नक्सलवादी आन्दोलन, शोषणवादी व्यवस्था, सामंतवाद, वर्चस्व की संस्कृति, सामंती वर्ग, सर्वहारा, मनीदार, आर्थिक असंतुलन, बटाईदार, मालगुजारी ।

हमारे देश की पहचान एक कृषि प्रधान देश के रूप में रही है। कृषि केवल पैसा कमाने का ही जरिया नहीं रहा, बल्कि इससे हमारा समाज, परिवार, रहन-सहन, राजनीति एवं सांस्कृतिक जीवन भी प्रभावित एवं नियंत्रित रहा है। हिन्दी साहित्य खासकर कथा- साहित्य में इसकी उपस्थिति देखी जा सकती है। प्रेमचंद के उपन्यासों में किसान जीवन की व्यथा-कथा का सम्पूर्ण इतिहास दिखता है। महात्मा गाँधी का मत है कि, "भारत गाँवों का देश है तथा भारत की आत्मा गाँवों में निवास करती है। स्वतंत्रताकालीन जनसंख्या के आँकड़े भी इसकी पुष्टि करते हैं जिनके अनुसार भारत की 85 प्रतिशत जनता गाँवों में रहती थी सिर्फ 15 प्रतिशत जनता ही शहरी थी ।"[1]

प्रारम्भिक काल से ही भारतीय समाज का विकास एक कृषि आधारित समाज की शक्ल में हुआ है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि हमारी सामाजिक व्यवस्था का कृषि एवं भूमि व्यवस्था से गहरा रिश्ता है।

हमारे देश में कृषि केवल रोजगार का ही साधन नहीं है, बल्कि हमारे जीवन संस्कृति का स्तम्भ भी है। अंग्रेजी शासन के दौरान अपनायी गई आर्थिक नीतियों ने भूमि संबंधों में काफी फेर- बदल किया। भू-सम्पत्ति परम्परा से चले आ रहे जमींदारो के हाथों से निकल कर उन सौदागरों, या यूं कहें कि नवधनाढ्यों के पास चली गई, जोकि शहर में रहते थे और गाँव के जनसामान्य के प्रति कोई सहानुभूति नहीं रखते थे। साथ ही इस दौर में साहूकारों, महाजनों, ठेकेदारों के रूप में बिचौलियों का एक वर्ग भी तैयार हो गया था। जमींदारों को प्राप्त इस अधिकार ने उन्हें एक ऐसी मजबूत स्थिति पर ला खड़ा किया, जिससे वे कृषि के साथ-साथ समाज के हर वर्ग पर अपना प्रभाव रख सके। इन अधिकारों ने जमींदारों को बेलगाम कर दिया। इस पूरी व्यवस्था ने भारतीय समाज को दो बड़े वर्गों में बाँट दिया- एक जमीनों के मालिको एवं दूसरे किसान। जमींदारों के अन्याय व शोषण ने किसानों के अंदर विद्रोह की आग भर दी। ब्रिटिश शासन के समय से ही किसान विद्रोह का एक लम्बा इतिहास रहा है, जो आज भी किसी-न-किसी रूप में बना हुआ है। 1967 में शुरू हुआ नक्सलबाड़ी आन्दोलन इसका एक जीवंत उदाहरण है।

जिस देश की बहुसंख्यक आबादी गाँवों में रहती है, उस देश के लिए आज़ादी व गुलामी का सीधा रिश्ता गाँवों में रहनेवाले लोगों व उनके पेशों से जुड़ता है। इसलिए भारत की आज़ादी का सीधा रिश्ता कृषि एवं कृषि से जुड़ी आबादी से था। अत: 15 अगस्त सन् 1947 में मिली ब्रिटिश उपनिवेशवाद से स्वतंत्रता से सबसे ज्यादा उम्मीद इसी कृषक वर्ग को थी; क्योंकि अब तक के शासन एवं उनकी नीतियों से सबसे अधिक शोषित व पीड़ित कृषक वर्ग ही था। आज़ादी के बाद भी ब्रिटिश उपनिवेश से जुड़े सामंत और पूंजीपतियों का प्रभाव स्वदेशी शासन पर कायम रहा, जिसके परिणामस्वरूप स्वतंत्र भारत में कृषक समाज एक बार फिर उपेक्षित होने लगा। रेणु ने अपने उपन्यास 'मैला आँचल' में कांग्रेस के बदलते चरित्र, जनविरोधी रुख तथा पार्टी में सामंतों एवं पूंजीपतियों के बढ़ते प्रभाव को चित्रित किया है। रेणु ने आज़ादी के बाद राजनीतिक दलों में दिनोंदिन बढ़ते नैतिक और सैद्धान्तिक खोखलेपन को भी उजागर किया है। सामाजिक और आर्थिक जीवन में सकारात्मक बदलाव के प्रयास के रूप में सन् 1949 में सरकार ने जमींदारी उन्मूलन कानून लागू किया। "जमींदारी- उन्मूलन का अर्थ था करीब दो करोड़ काश्तकारों का भूस्वामी बनना ।"[2] भारत जैसे देश में भूमि-सुधार का कानून केवल भूमि के संबंधों तक ही नहीं सीमित था, बल्कि इसका संबंध भारत की सामाजिक व्यवस्था से भी था। सरकार ने इस कानून की घोषणा जितनी सरलता से कर दी, उसका वास्तविक धरातल का प्रयोग उतना आसान नहीं था। सन् 1956 तक यह कानून भारत के ज्यादातर राज्यों में पास किया जा चुका था; परंतु इसे लागू करने में एक बड़ी समस्या भूमि संबंधी पर्याप्त आंकड़ों का अभाव था । "देश के विभिन्न हिस्सों में जिस प्रकार जमींदारी उन्मूलन कानून लागू किया गया, उसमें कुछ महत्त्वपूर्ण खामियाँ रह गयी। उदाहरण के लिए यूपी में जमींदारों को वे जमीनें अपने पास रखने की इजाजत दे दी गई, जिन्हें उन्होंने अपनी 'व्यक्तिगत खेती' घोषित की थी। इसके अलावा यूपी, बिहार और मद्रास जैसे राज्यों में 'व्यक्तिगत खेती' की कोई सीमा नहीं थी ।"[3] जमींदारी उन्मूलन के समकक्ष व्यवहारिक समस्या यह भी थी कि कई क्षेत्रों में खेती बटाई पर देने का काम मौखिक तौर पर होता था, इसका कोई लिखित दस्तावेज़ तैयार नहीं किया जाता था। दूसरी समस्या, जमींदारों एवं राजस्व अधिकारीयों के मध्य साठगांठ की थी, जिसके कारण कानून को सही ढंग से लागू करना और भी मुश्किल हो गया। इसके परिणामस्वरूप भारत में भूमिहीनों की समस्या बनी रही जो कुल जनसंख्या का लगभग आधा हिस्सा है। जमींदारी उन्मूलन कानून और उसे लागू करने में जो कमियां थी उसका उल्लेख मिथिलेश्वर अपने उपन्यास 'माटी कहे कुम्हार से' में करते हैं। सरकार के भूमि सुधार संबंधी कानूनों की वास्तविकता के बारे में मिथिलेश्वर यह मानते हैं कि सरकार के लचर रवैये के नाते ही जमीन के विवाद उठ खड़े हुए हैं। भूमि संबंधों में चल रही इस समस्या का कारण बताते हुए मिथिलेश्वर कहते हैं- "सारी समस्या की जड़ हमारी सरकार है। कागज़ पर कानून बना देती है। लेकिन जमीन पर फैसला नहीं कराती। अब लोग एक- दूसरे से लड़े नहीं तो क्या करें ? जिस दिन सरकार चाह ले, ऐसी लड़ाई किसी गाँव में नहीं होगी ।"[4]

सरकार द्वारा भूमि सुधार के लिए बनाए गए कानूनों के अतिरिक्त गाँधीवादी कार्यकर्ता आचार्य विनोबा भावे ने एक सामाजिक आंदोलन 'भूदान आंदोलन' के जरिए भूमि

सुधार का प्रयास किया। यह आन्दोलन 1950 के दशक में सक्रिय रहा। इसमें गाँधीवादी तकनीकों का प्रयोग किया गया। भूदानी कार्यकर्ता पैदल यात्रा करके गाँव- गाँव में जाते थे। गाँव में रहने वाले भूस्वामियों से अपनी कुल जमीन का छठा हिस्सा उन लोगों को दान देने को कहते थे, जिन लोगों के पास ज़मीनें नहीं थी। इस आन्दोलन के पीछे सरकारी मशीनरी तो काम नहीं कर रही थी; परन्तु इसे कांग्रेस पार्टी का समर्थन हासिल था। दान की गई ज़मीनों में एक हिस्सा ऐसा भी था जो कृषि कार्य योग्य नहीं था, या फिर किसी विवाद में फंसा हुआ था। "करीब 45 लाख एकड़ भूदान भूमि में से केवल 6 लाख 54 हजार एकड़ ही 1957 के अंत तक 2 लाख परिवारों के बीच असल में बांटी जा सकी ।"[5] शुरू- शुरू में विनोबा भावे के इस आंदोलन ने काफी उम्मीदे जगाई; परन्तु 1960 के बाद इस आन्दोलन का प्रभाव समाप्त होने लगा । इस आन्दोलन के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वानों का यह मानना है का यह आंदोलन एक प्रयास था वर्ग सहयोग के माध्यम से वर्ग-संघर्ष को रोकने का। इसके विपरीत कुछ विद्वानों का मत है कि इसने किसान आन्दोलन की धार को कुंद कर दिया। किसान आन्दोलन में जो संघर्ष की क्षमता थी उसे रोकने का काम किया। इस विवाद में गए बिना यह कहा जा सकता है कि भारत में भूमि सुधार के संबंध में यह आन्दोलन सफल नहीं हो पाया।

हिन्दी के नब्बे के बाद के उपन्यासों में भूदान आंदोलन के सभी पक्षों का चित्रण देखने को मिलता है। 'ढलान' उपन्यास में प्रेम कुमार मणि दिखाते हैं कि रानाबिगहा- पुरंदपुर गाँव में विनोबा भावे भूदान आंदोलन के लिए अपने कुछ साथियों के साथ आते हैं। पूरा गाँव मिलकर दो- तीन दिन तक भूदानी अतिथियों के स्वागत के लिए तैयारियाँ करता है कि कहीं अतिथियों के स्वागत में कोई कमी ना रह जाए। पूरे गाँव के सामने यह तथ्य उपस्थित होता है कि सारे-के-सारे भूदानी सादगी के नाम पर ऐसे भोजन की मांग करते हैं, जोकि इतने कम समय में गाँव वालों के लिए पूरा कर पाना असंभव है। इसी विषय को लेकर भूदानी अतिथियों एवं गाँववालों के बीच वाद-विवाद हो जाता है। एक भूदानी उग्र होकर बोलता है- "गाँव के लोग हमें ज़हर खिलाएँगे, तब हम जहर तो नहीं खाएँगे ना ।"[6] भूदानी द्वारा यह कहे जाने पर मिस्त्री जी का क्रोध और तीखा हो गया । प्रति उत्तर में मिस्त्री जी कहते हैं- "भले आदमी, यही आप लोग गाँवों की सेवा कर रहे हैं, मत कीजिए गाँव की सेवा; इतना खराब ख्याल है गाँव के लोगों के बारे में तब सेवा क्या कीजिएगा। कौन किसको जहर खिला रहा है ? जहर खाने की कूबत है आपकी? ज़हर खाते हैं शिव। आप लोग क्या है, यह नहीं जानता लेकिन शिव नहीं है इतना जानता हूँ ।"[7]

रामधारी सिंह दिवाकर 'अकालसंध्या' में विनोबा भावे के भूदान आंदोलन का वर्णन करते हैं। यह घटना उपन्यास में 'फ्लैश बैंक' में आती है। इस उपन्यास में एक कोना ऐसा भी है, जो विनोबा भावे को कोई महान व्यक्ति या क्रांतिकारी नहीं मानता। "हर राग में बेसुरा कहे जाने वाले मरकसवा गाँव के लिए भूदान यज्ञ महज एक मज़ाक था। मरकसवा के करमलाल गुरु जी ही नहीं, दूसरे कई लोग कह रहे थे कि क्रांति को भटकाने का यह भयानक प्रतिक्रियावादी रास्ता है ।"[8] विनोबा भावे द्वारा चलाए गए भूदान आंदोलन में जिन लोगों ने भूमि दी, उनका कोई ह्रदय परिवर्तन नहीं हुआ था, बल्कि उन्होंने यश कमाने के लिए अपनी उन जमीनों को दिया जिसका उनके पास कोई इस्तेमाल नहीं था। बहुत बड़े स्तर पे तो नहीं, लेकिन कुछ भूमिहीन मजदूरों का इससे फायदा अवश्य हुआ। जब इन मजदूरों ने जी-तोड़ मेहनत करके जमीन को खेती के लिए उपयोगी बनाया, तो चन्द्रानन बाबू जैसे भूस्वामियों को अपनी दान की हुई जमीन आँखों में चुभने लगी। "पचीस- तीस साल बाद यही दान में दी गई जमीन अद्योगति को प्राप्त बूढ़े चन्द्रानन बाबू की छाती पर मूंग दलने लगी। इधर पांच- छह सालों से हर फसल- कटाई के समय मार- पीट का जो सिलसिला चल रहा है और जिस तरह भूदान के पुराने यज्ञ-कुण्ड में घी डाला जा रहा है, उससे लगता है भूदनियाँ जमीन खून से लाल होगी। गलत नहीं कहते लोग । भूदनियाँ जमीन नहीं, खूनिया जमीन ।"[9]

भारत में कृषि संबंधों में लगातार चला आ रहा असंतुलन आज़ादी के बाद के भूमि सुधारों के उपायों से भी नहीं दूर हो पाया। भूमि संबंधों की इस विषमता ने नक्सलवादी आन्दोलन को जन्म दिया। इसकी शुरुआत 23 मार्च सन् 1967 ई. में पश्चिम बंगाल के नक्सलबाड़ी क्षेत्र में कृषकों के सशस्त्र विद्रोह से हुई। यह आंदोलन आज़ादी के बाद किसानों की उपेक्षा एवं भूमि सुधारों के अपेक्षित परिणाम ना निकलने से जो मोहभंग पैदा हुआ उसकी अभिव्यक्ति है। भारतीय समाज में 'अन्नदाता' कहे जाने वाले किसानों द्वारा अपनाया गया हिंसक संघर्ष, और उसके कारणों को किसी भी तरह सही नहीं ठहराया जा सकता,

और ना ही हिंसक संघर्ष कृषि से जुड़ी समस्याओं का अंतिम समाधान देने में सक्षम है, फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि नक्सलबाड़ी आंदोलन ने कृषि और उससे जुड़े किसान एवं उसकी समस्याओं को मुख्यधारा के विचार-विमर्श के केंद्र में ला दिया। आखिर सवाल यह पैदा होता है कि किसानों ने हिंसक संघर्ष का सहारा क्यों लिया ? लम्बे विदेशी शासन के बाद आज़ाद भारत की सरकार ने किसान जीवन में बदलाव के लिए एवं भूमि संबंधों में सुधार के लिए जो कानून बनाए वह पहले तो स्वयं आधे- अधूरे थे, उनके क्रियान्वयन में भी काफी ढीला- ढाला रवैया रहा। कानूनों को लागू करने के बाद सरकार ने इसे अपनी उपलब्धियों में तो गिन लिया, परन्तु वास्तविक धरातल पर शोषणवादी व्यवस्था में कोई खास बदलाव नहीं हुआ। किसानों द्वारा शुरू किया गया यह नक्सलबाड़ी आंदोलन बहुत तेज़ी से पूरे देश में फैला। इस आन्दोलन के समर्थन में बंगाल राज्य के छात्रों, बुद्धिजीवियों तथा समाज के अन्य वर्गों ने अपना सहयोग दिया। इस आंदोलन ने चली आ रही सामंतवादी व्यवस्था को कड़ी चुनौती दिया। "1970 के मध्य और 1971 के बीच कुल 4000 हिंसक घटनाएँ हुई जिनमें 3500 पश्चिम बंगाल में, 220 बिहार तथा 70 आंध्र प्रदेश में हुई।"[10] इस आन्दोलन को आज़ाद भारत का सबसे बड़ा जन विद्रोह कहा जा सकता है; क्योंकि "भारत सरकार के गृह मंत्रालय ने माना है कि 9 राज्यों के 6 जिलों में नक्सलवाद फैला है। इन राज्यों के नाम हैं आंध्रप्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, उड़ीसा, छत्तीसगढ़, झारखंड, उत्तरप्रदेश और पश्चिम बंगाल। मंत्रालय ने यह भी स्वीकार किया है कि पीपुल्सवार और एमसीसीआई अपना प्रभाव तमिलनाडु, कर्नाटक और केरल में भी फैलाने की कोशिश कर रहे हैं और कई नये इलाकों में इसका विस्तार हुआ है ।"[11] इसकी वजह है आज़ादी के बाद भी इन इलाकों में मौजूद आर्थिक विषमता एवं जीवन की न्यूनतम: सुविधाएँ भी सरकार द्वारा ना मुहैय्या कराना। इस दशा में अत्याचारों व शोषणों से मुक्ति के लिए गरीबों ने खुद ही बंदूक उठा कर संघर्ष किया। गरीबों के इस संघर्ष को हमारी शासन व्यवस्था ने समस्या मानकर इनके दमन का प्रयास किया। 'ऑपरेशन थंडर' और 'ऑपरेशन ग्रीन हंट' शासन के दमन के प्रयास के उदाहारण हैं ।

इस आन्दोलन ने भारतीय समाज पर जो प्रभाव डाला, उसका यथार्थ चित्रण नब्बे के बाद के उपन्यासों में भी देखने को मिलता है। इस आंदोलन से गाँव की तस्वीर बदल गयी, जिसके प्रभाव को कथा-साहित्य में देखा जा सकता है। रामधारी सिंह दिवाकर ने 'अकालसंध्या' में कृषि संबंधी संघर्ष- भूमिहीन किसानों एवं जमींदारों का सजीव चित्रण किया है। मरकसवा गाँव अपने आप में सामंतवाद विरोधी चेतना को लिए हुए है। "बड़ी मेहनत से शिवराज बाबू ने चार- पांच गाँव के भूमिहीनों को एकजुट किया। लगातार डेढ़- दो साल वे इसी संगठन के काम में लगे रहे। आखिर एक रात बाबू हरिवंश सिंह के गैरमजरुआ जमीन पर भूमिहीनों ने कब्ज़ा जमा लिया। सैकड़ों झोपड़ियाँ खड़ी हो गयीं रातों- रात।"[12] सामंतवाद के खिलाफ गरीब मजदूरों की यह सफलता इस गाँव की पहली सफलता थी। जमींदारों ने जमीनों पर अपने कब्ज़े को बनाए रखने के लिए सवर्ण सुरक्षा दल व रणवीर सेना जैसे सशस्त्र सेनाओं की स्थापना की, ताकि संघर्ष की स्थिति में लोहा लिया जा सके। भूमिहीनों ने अपनी सुरक्षा एवं अधिकारों के लिए 'लाल सेना' का सहयोग लिया । रामधारी सिंह दिवाकर ने 'अकालसंध्या' में रणवीर सेना व सवर्ण सुरक्षा दल के संबंधों एवं क्रिया-कलापों को कुछ इस प्रकार चित्रित किया है, "फतेपुर-पीठौरा में भूमिहारों की रणवीर सेना से सवर्ण सुरक्षा संगठन का सीधा तालमेल है । बड़े किसानों की सुरक्षा के लिए गया-जहानाबाद की रणवीर सेना की शाखा के रूप में काम करता है सवर्ण सुरक्षा संघ । इस संघ को तमाम सवर्ण जातियों का समर्थन प्राप्त है ।"[13] यदि सवर्ण जातियाँ सशस्त्र संगठन बना कर भूमिहीनों, गरीब किसानों, मजदूरों के अधिकारों का हनन करेंगी तो शोषित वर्ग के पास सशस्त्र विद्रोह के अलावा कौन सा रास्ता बचता है।

वर्चस्व की संस्कृति और कृषि संबंधी संघर्ष का दूसरा मामला बिदेसर और बाबू सुरवंश शर्मा के बीच का है । इस संघर्ष का इतिहास बाबू सुरवंश शर्मा के विवाह से जुड़ता है । विवाह में 'बड़ी मालकिन' के साथ पांच दासियाँ आयीं थी, उनमें से बाबू सुरवंश शर्मा की सबसे चहेती थी रतनी । रतनी को इन्होंने दान में तीन एकड़ जमीन दी थी । अपनी आदतों और एय्याशियों के कारण जमीन बिकती रही, तो एक दिन बाबू सुरवंश शर्मा को, "उस तीन एकड़ जमीन में फसलों की हरियाली उनकी आँखों में गड़ने लगी । यह जमीन पचीस- तीस साल पहले वे अपनी रखैल रतनी को दे चुके थे । जमीन की रजिस्ट्री नहीं हुई थी, लेकिन रतनी और उसका पति रामटहल और बाद में उसकी बेटी रमपतिया और दमाद बिदेसर जमीन को जोत रहे थे ।"[14] इस जमीन को हथियाने की बाबू सुरवंश शर्मा ने हर मुमकिन कोशिश

की । लठैतों को भेजकर सुरवंश बाबू ने अगहनी फसल लूट ली । इस घटना के बाद बिदेसर 'लाल सेना' में शामिल हो गया । जवाबी कार्यवाही में 'लाल सेना' बाबू सुरवंश शर्मा के खलिहान से पन्द्रह- सोलह बोरे गेहूँ उठा लायी । यह घटना बाबू साहब के लिए काफी अपमानजनक थी । मारे जाने के डर के कारण जहर का घूँट पी गए, लेकिन अंदर गुस्सा उबलता रहा । रमपतिया और बिदेसर के लहलहाते धान की फसल देखकर पुराना जख्म फिर ताजा हो गया । सुरवंश बाबू ने हवेली में बिदेसर को बुलवाकर लठैतों से खूब पिटवाया । हाथ-पैर टूट जाने के बाद गाँव वाले उसे अस्पताल ले गए । बड़ी मालकिन अस्पताल पहुँच कर दुख व्यक्त करती हैं, और इलाज का पूरा खर्च भी उठाती हैं । अस्पताल से रमपतिया और बिदेसर को अपने हवेली में लाकर रख लेती हैं । रमपतिया बड़ी मालकिन की इस सहृदयता पर मुग्ध होती है, तभी उसे सहदेव समझाता है, "भौजी, तुम नहीं जानती बड़ी मालकिन को! उस वर्ग के चरित्र को तुम नहीं जानती जिस वर्ग की है बड़ी मालकिन । साँप का बच्चा साँप ही होता है भौजी । तुमको बड़ी मालकिन ने मोह लिया है । दांव-पेच तुम समझ नहीं रही हो ।"[15] दरअसल बड़ी मालकिन रमपतिया की मदद नहीं कर रहीं थीं, बल्कि उस तीन एकड़ जमीन पर कब्ज़ा करने के लिए यह एक कूटनीति थी । गाँव के कमजोर वर्गों का साथ 'लाल सेना' दे रही थी, तो सुरवंश बाबू की सुरक्षा कवच बड़ी मालकिन बनी हुई थीं । कजरी के समझाने पर रमपतिया बड़ी मालकिन की इस चाल को समझ पाती है, और एक दिन रात में मौका देखकर वह अपने पति के साथ हवेली से निकल भागती है। अपनी जमीन पर हक और दावे के लिए रमपतिया, कजरी, सहदेव और 'लाल सेना' की मदद से, "पचीस- तीस लोगों के साथ सुरजमुखी के सूखे पौधे काटने के लिए रमपतिया अपने खेत की मेड़ पर खड़ी थी । कजरी के हाथ में तेज धार वाला हसुँआ था। कजरी और रमपतिया उगते सूरज की ओर मुहँ किए हवेली के परकोटे को देख रही थीं।.... दो आकृतियाँ साफ- साफ दिख रही थीं । एक आकृति पुरुष की थी, दूसरी स्त्री की । थोड़ी देर बाद दोनों आकृतियाँ एक- दूसरे से जुड़ी हुई प्रतीत होने लगीं ।"[16] इस उपन्यास में उपन्यासकार ने सामंती वर्ग चरित्र को बड़े यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया है, साथ ही सर्वहारा की शक्ति को भी पहचाना है । संघर्ष के कारणों एवं प्रभावों का सफल विश्लेषण प्रस्तुत किया है ।

मिथिलेश्वर ने 'माटी कहे कुम्हार से' में कृषि में वर्चस्व एवं उसके संघर्ष को यथार्थ रूप में चित्रित किया है । बजरंगपुर गाँव बड़े खेतिहरों का है । इस गाँव में यह खेतीहर सवर्ण जाति के वर्चस्वशाली लोग हैं । ज्यादातर लोग शहरों में रहते हैं, और अपनी खेती 'मनी' पर दे रखा है । मनीदार खेती करता है और उपज का तय हिस्सा भू-स्वामियों के पास चला जाता है ; परन्तु खेत पर वर्षों से मेहनत करने के बावजूद भी मनीदारों का कोई अधिकार नहीं है । शुरू- शुरू में तो यह सब शांतिपूर्वक चलता रहा; परन्तु बाद के दिनों में कृषि भूमि को लेकर आर्थिक असंतुलन ने असंतोष को जन्म दिया । पहली घटना मुकुट सहाय के साथ होती है । उनके खेत पर मनीदर के रूप में काम करने वाले लोग उनकी हत्या उस वक्त कर देते हैं, जब वह गाँव से खेती का हिसाब-किताब करके शहर जा रहे थे। दूसरी घटना बजरंगपुर के नन्दकिशोर सिंह के साथ घटी। नन्दकिशोर सिंह जमीन से जुड़ी और जमीन अर्जित करने वाली दबंग जाति के थे । नन्दकिशोर का पूरा परिवार शहर में रहता है । परिवार के लगभग सभी पुरुष सरकारी नौकरी से जुड़े हैं । सालों से नन्दकिशोर सिंह गाँव आकर 'मनी' ले जाया करते थे । इनका मनीदारों से विवाद जमीन को बेचने को लेकर खड़ा हुआ । जब नन्दकिशोर बाबू ने जमीन बेचने का आग्रह किया और उन्होंने कहा, "जब तक हमने तुम्हें दिया था, तुमने खेती की । अब हम स्वयं खेती करेंगे । बस, यही बताने तुम्हारे पास आए थे ।"[17] जगतराम ने उन्हें रोकते हुए कहा, "खेती बेचने की बात छोड़ दीजिए प्रोफेसर साहेब! जइसे अब तक चलता आ रहा है चलने दीजिए ।"[18] जगतराम की यह बात सुनकर प्रोफेसर साहब तैश में आ जाते हैं । मनीदार का खेत मालिक के प्रति यह व्यवहार उन्हें अपमानजनक मालूम पड़ता है । जगतराम खेत छोड़ने से साफ इंकार कर देता है । जगतराम के इस तेवर के पीछे का राज उनको पता चलता है कि, "वे पिछड़ों के लीडर बने हैं । रात में उनके यहाँ जमावड़ा लगता है । इलाके के सभी लड़ाकू पिछड़े जुटते हैं । हथियार भी उन सबों ने जुटा रखा है । वे अइसे ही नहीं फौक रहे हैं । लड़ने की तैयारी कर चुके हैं.....।"[19] सरकार द्वारा बनाए गए कानून के मुताबिक यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे के खेत पर मनीदार, बटाईदार या अन्य किसी तरीके से लम्बे समय तक खेती करता है, तो खेती के कुछ हिस्से पर उसका भी अधिकार बनता है ; परन्तु गाँव की दबंग जातियों ने इस कानून को भी अपने तरीके से निबटा दिया । वे खेती किसी

से भी कराते हैं; परन्तु मालगुजारी की रसीद स्वयं कटवाते हैं, ताकि भविष्य में क़ानूनी रूप से मनीदार कभी दावा ना पेश कर सके । "यह ठीक है कि सीधे जगतराम के नाम पर रसीद नहीं कटती, खेत मालिक के नाम से ही कटती । लेकिन पैसा जमा करवाने की जगह 'वास्ते जगतराम' करके रसीद तो वह कटवा ही लेता । इस तरह खेत जोतने का उसका दावा बन जाता । लेकिन प्रोफेसर साहेब ने चतुराई की है अब सवाल कानूनी लड़ाई का नहीं, जमीन पर की लड़ाई का है।"[20] गाँव में बाबू नन्दकिशोर की जाति के लोग खड़ी फसल काट लेने की सलाह देते हैं; परंतु नन्दकिशोर सिंह पुलिस बल की सहायता से अपनी जमीन पर कब्जा करने का प्रयास करते हैं । गाँव में पुलिस की मौजूदगी एवं तनावपूर्ण स्थिति ने पूरे गाँव को अगड़े- पिछड़े के हिसाब से गोलबंद कर दिया। उधर नन्हटोली ने अपने राजनैतिक व बढ़ते हुए प्रशासनिक दब- दबे से पुलिस दल को गाँव से वापिस करवा दिया । पुलिस के एक बड़े अफसर ने बजरंगपुर में आयी पुलिस को वापिस बुला लिया । पुलिस दल के वापिस जाने के बाद जमीन की रक्षा के लिए सवर्ण ने जो भू सेनाएँ बनायी थीं, नन्दकिशोर सिंह उसकी मदद लेते हैं । परंतु उनका यह प्रयास भी असफल हो जाता है ; क्योंकि, "दूसरे दिन बड़ टोली में कई पर्चे मिले । शायद नन्हटोली वाले रात में आकर छींट गए थे । सेना के आगमन से वे अवगत हो चुके थे और उनकी सम्भावित कार्यवायी की भनक भी उन्हें लग गयी थी । उसी की प्रतिक्रिया में उन्होंने यह विस्फोट किया था । पर्चे में मोटे-मोटे अक्षरों में साफ-साफ लिखा था- इस पर्चे से हम आप लोगों को आगाह कर रहे हैं कि नन्हटोली पर हमले की बात आप भूल जाए । हम सिर्फ नन्हटोली तक सीमित नहीं है । ईंट का जवाब पत्थर से देंगे । हम यह बता देना चाहते हैं कि नन्हटोली पर हमला होते ही पूरी बड़टोली को बमों से उड़ा देंगे...हमारी भी सेना तैयार है....अंजाम भोगने के लिए तैयार रहें । भूमिहीन सेना, बजरंगपुर ।"[21]

उपन्यासों में चित्रित वर्चस्व और उसके खिलाफ संघर्ष की कहानी काफी लम्बी है। संघर्ष एक तरफ अपने मान- मर्यादा के साथ जीने- खाने के अधिकार का है, तो दूसरी तरफ अपनी शक्ति व प्रभुत्त्व को बनाये रखने का। मनीदारों का परिवार खेती में मेहनत करके अपना खून और पसीना उगाता है। शहरों में बैठे भूस्वामी जो कभी खेत में कदम तक नहीं रखते वे हिस्सा बाँट कर ले जाते हैं। ग्रामीण परिवेश का दलित, भूमिहीन, खेतिहर मजदूर जब संगठित होकर अपने अधिकार के लिए उठ खड़ा होता है, तो वर्चस्वशाली वर्ग उसको दबाने के लिए और अधिक ताकत जुटा कर आक्रमण करता है। कृषि व्यवस्था में सुधार एवं कृषक समाज के जीवन में न्यायपूर्ण संतुलन स्थापित करने के लिए सरकार प्रयत्नशील है, परन्तु कृषि संबंधी समस्याएँ एवं उस पर टिका हुआ सामाजिक जीवन जटिल ताने- बाने में उलझा हुआ है। इन समस्याओं का समाधान सरकार द्वारा प्रगतिशील कानूनों एवं कृषि में आधुनिक तकनीकों के समावेश से ही सम्भव है।

संदर्भ:

1. यादव, रामजी,(2005) *भारत में ग्रामीण विकास,* अर्जुन पब्लिशिंग हॉउस, पृष्ठ संख्या- 188
2. चंद्र, बिपन, (2000), *आज़ादी के बाद का भारत (1947-2000),* हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, पृष्ठ संख्या- 496
3. वही , पृष्ठ संख्या – 497
4. मिथिलेश्वर, (2006), *माटी कहे कुम्हार से,* भारतीय ज्ञानपीठ, पृष्ठ संख्या– 273
5. चंद्र, बिपन, (2000), *आज़ादी के बाद का भारत (1947-2000),* हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, पृष्ठ संख्या- 517
6. मणि, प्रेमकुमार, (2000), ढलान, वाणी प्रकाशन, पृष्ठ संख्या– 83
7. वही, पृष्ठ संख्या – 83
8. दिवाकर, रामधारी सिंह, (2007), *अकालसंध्या,* भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या-64
9. वही, पृष्ठ संख्या– 65
10. *भारत में नक्सलबाड़ी आन्दोलन,* योजना, फरवरी, 2007, पृष्ठ संख्या– 12
11. वही, पृष्ठ संख्या– 14
12. दिवाकर, रामधारी सिंह, (2007), *अकालसंध्या,* भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या- 62
13. वही, पृष्ठ संख्या– 72
14. वही, पृष्ठ संख्या– 185
15. वही, पृष्ठ संख्या- 194
16. वही, पृष्ठ संख्या- 231
17. मिथिलेश्वर, (2006), *माटी कहे कुम्हार से,* भारतीय ज्ञानपीठ, पृष्ठ संख्या-267
18. वही, पृष्ठ संख्या- 267
19. वही, पृष्ठ संख्या– 270
20. वही, पृष्ठ संख्या– 270-71
21. वही, पृष्ठ संख्या– 281-82

बोड़ो की समाज-संस्कृति और उसमें हुए परिवर्तन

सुर्जलेखा ब्रह्म
पीएच.डी. शोधार्थी, हिंदी विभाग
सिक्किम विश्वविद्यालय, गंगटोक

शोध सारांश :
संस्कृति किसी भी जाति-जनजाति की विशेषताएँ बतलाने का कार्य करती है। भाषा, धार्मिक आस्था, पर्व-त्योहार, रहन- सहन के तौर-तरीके, खान-पान, परंपरागत आचार-विचार एवं मान्यताएँ यह विश्व समुदाय में अपनी एक अलग पहचान प्रस्तुत करती है। बोड़ो असम में रहनेवाली प्रमुख जनजाति है। यह असम के ब्रह्मपुत्र घाटी के आसपास, बंगाल के कुछ क्षेत्रों से होते हुए नेपाल के झापा तक फैले हुए हैं। जंगलों, नदियों के आसपास रहनेवाले प्रकृति प्रेमी बोड़ो जनजातियों के पास अपनी एक समृद्ध संस्कृति है। इनकी रंगीन पोशाक, गायन, वादन, लोकगीत, लोकनृत्य पूर्वोत्तर भारत की सांस्कृतिक विविधता को दर्शाती है। वहीं आज हमें बोड़ो समाज में कई बदलाव भी देखने को मिलते हैं। आधुनिकता के इस युग में बदलाव शब्द कोई नयी नहीं है। बोड़ो समाज ने भी आज कई पुरानी मान्यताओं को तोड़कर नयी मान्यताओं को आत्मसात कर लिया है।

बीज शब्द :
बोड़ो, समाज, संस्कृति, जनजाति, पारंपरिक चिह्न, बाथौ पूजा, खेराई पूजा

भारत एक ऐसा देश है जहाँ कई जाति-जनजाति के लोग निवास करते हैं। अलग-अलग रूप-रंग, संस्कृति के लोग होने के बावजूद भी यह एक दूसरे से मिलते-जुलते हैं तभी तो भारत को अनेकता में एकता का देश कहा जाता है। बोड़ो भारोपीय भाषा परिवार के अंतर्गत 'चीनी तिब्बती भाषा परिवार' के अंतर्गत आती है। ग्रियर्सन ने भी अपनी पुस्तक 'लिंगुइसिटिक सर्वे ऑफ इंडिया' में बोड़ो जनजाति को चीनी-तिब्बती भाषा परिवार के अंतर्गत बताया है। कई और भी विद्वानों का मानना है कि इस जनजाति के लोग चीन, तिब्बत से होते हुए भारत में प्रवेश किया था, जबकि स्वामी विवेकानंद का कहना है "इंडो यूरोपियन आर्य बाहर से आकर बसे हुए नहीं है। किसी भी लोककथा, वेद-वेदान्त और शास्त्रों में भी आर्यों का किसी दूसरे स्थान से आकर बसने का कोई उल्लेख नहीं है।"[1]

ब'ड शब्द का अर्थ है 'ज्ञान या होश'। बोड़ो जनजातियों के लिए 'बोड़ो कोछारी' शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। पंडितों के अनुसार ति-बद् के बद् शब्द से बड और बड़ शब्द का आगमन हुआ और संस्कृत के कक्षवाट से कक्षात, कच्छत, कच्छर होता हुआ कछारी शब्द आया।

बोड़ो समाज एवं बोड़ो संस्कृति की विशेषताएँ :

1. **धर्म -** धर्म किसी भी समाज, जाति-जनजाति विशेष का एक अभिन्न अंग है। जैसा कि हम जानते हैं कि धर्म लोगों के विश्वास और आस्था का एक स्वरूप है। बोड़ो जनजाति के परंपरागत धर्म 'बाथौ' है। बाथौ धर्म में बाथौ का जहां पूजा किया जाता है वहाँ 'सिजौ' पेड़ का होना अत्यंत आवश्यक है। बाथौ धर्म में किसी मूर्ति की पूजा नहीं की जाती बल्कि अपने पूर्वजों की पूजा की जाती है। जिनमें से प्रमुख है बाथौ बोराइ, आइलें, खाजि, आबरा खुंगुर, आग्रां, खैला, राज फुथुर, राज खान्द्रा, सालि जोमोन, मोसा राजा, आइ मानासो, आइ बावली, खुबीर, माव थानश्री, संराजा, बुली बुरि। परंतु आज बदलते आधुनिकता के साथ बोड़ो समाज में धर्म कई विभागों में बंट चुका है जैसे किसी ने ब्रह्म धर्म का आत्मसात कर लिया है तो किसी ने ईसाई धर्म। कहा जाता है कि ब्रह्म धर्म का प्रचार सर्वप्रथम 'गुरुदेव कालीचरण ब्रह्म' ने किया था।

आ रही परंपरा है। जिसे 'जौ' या 'जुमाई' कहा जाता है। इस जनजाति में अधिकतर उबले हुए हरी साग-सब्जियों का प्रयोग करते हैं। यह अधिकतर सादा कम मशाला वाला खाना ही पसंद करते हैं। इनकी मुख्य पसंदीदा खाद्य में सूअर का माँस प्रमुख है। अधिकतर घरों में सूअर का पालन-पोषण भी किया जाता है। शाकाहारी जैसे सुखी हुई जूट की पत्तियाँ, सुखी हुई मुली, मांसाहारी जैसे सूखी मछली, सूखी मांस का सेवन प्रायः बोड़ो परिवारों में देखने को मिलता है। सूखी मछलियों को 'ना गोरान' और सूखी मांस को 'बेदर गोरान' कहा जाता है। सूखे मछलियों को कच्चू के पत्ते, नींबू के पत्ते से कूटकर एक-दो महीने के बाद खाना भी इनका एक मुख्य खाद्य है जिसे 'नाफाम' कहा जाता है। साथ ही घरेलू सोडा बनाने में यह काफी माहिर है जो केले के पेड़ के राख से बनाया जाता है जिसे 'खारोई' कहा जाता है। पिसे हुए चावल के साथ कोमल बाँस का सेवन भी इनका प्रधान खाद्य है जिसे ओनला 'खारोई' कहा जाता है।

3. **पहनावा और आभूषण –** साज सज्जा किसी भी व्यक्ति को एक दूसरे से अलगाती है। इनके पारंपरिक पोशाक अकसर घर पर ही हाथों से बुने हुए होते हैं। जिसे बोड़ो महिलाएँ स्वयं घर पर बनाया करती है। जो बोड़ो महिलाओं की प्रतिभा का प्रमाण देती है।

इनकी पारंपरिक चिह्न की बात करे तो 'आरोनाई' इनका पहचान है। जिसे सम्मानित अतिथि के सम्मान के प्रतीक के रूप में व्यवहार किया जाता है। दूसरी और स्त्रियों के लिए 'दोखोना' और 'फासरा' का प्रयोग किया जाता है तो पुरुषों के लिए गामसा, फालि का प्रयोग होता है। 'आगोर दोखोना' (हाथों से बना डिज़ाइन) जिसे स्त्रियाँ कई रंगो और डिज़ाइनों में बनाती है उनके दोखोनाओं को काफी आकर्षक बनाती है। ये आगोर कई प्रकार के होते हैं जैसे आगोर गिदीर (बड़ी कढ़ाई), फारौ मेगोन (कबूतर की आँख), दावराय मोक्रेब (मोर का पलक झपकाना), दावसा मोक्रेब (मुर्गी का पलक झपकाना), मावजी आगान (बिल्ली के पेड़ के निशान), गान्दोला आगोर (तितली कढ़ाई), हाजो आगोर (पहाड़ की कढ़ाई), डिंगकिया आगोर (ढेकिया साग)।

परंपरागत रूप से बोड़ो विभिन्न प्रकार के गहनों का प्रयोग करते हैं जैसे फुलकुरी सोना (एक प्रकार का कान में पहननेवाला झुमका), आसान (चूरियां), नाफाखुल (नथ या नथुनी)।

4. **पर्व-त्योहार –** पर्व-त्योहार किसी भी समाज के सांस्कृतिक जीवन को दर्शाने का एक आवश्यक आयाम है। बाथौ पुजा, खेराई पुजा इनके त्योहारों में सबसे महत्वपूर्ण है जहां वह अपने सांस्कृतिक वाद्य यंत्रों के सहारे पूर्व-पुरुषों को पुकारते हैं और उनकी पुजा-अर्चना करते हैं। इस पुजा के अंतर्गत बली का भी प्रयोग किया जाता है। यह पुजा करवाने वाले पंडित को 'दउदिनी' कहा जाता है। साथ ही जैसा कि हम जानते हैं कि बोड़ो अधिकतर कृषि से संबन्धित है। वह कृषि से संबन्धित बैसागू (बीहू) के तीनों रूपों का पालन भी बड़ी ही धूमधाम से करते हैं।

5. **वाद्य यंत्र -** बोड़ो समाज में एक अनोखे तरह की वाद्य यंत्रो का प्रयोग किया जाता है। 'खाम', 'सिफुंग', 'सेरजा', 'जोथा', 'जाबखुंग' यह बोड़ो जनजाति की सबसे महत्वपूर्ण वाद्य यंत्रों में से है। जिसे वह 'बैसागू नृत्य', 'खेराई पूजा', 'गारजा पूजा' 'शादी-विवाह' आदि सभी में प्रयोग करते हैं।

6. **हस्तशिल्प एवं कला-** हस्तशिल्प एवं कला वर्षों से चली आ परंपरागत संस्कृति है। बाँस एक ऐसी सामग्री है जिसे बोड़ो जनजाति आय-दिन व्यवहार करते हैं। कई लोगों के घर, घरेलू वस्तु छलनी, पंखा, ओखली या ओखल और मछली पकड़ने के अधिकतर उपकरण (सेन, जेखाई, खोबाई) बांस से ही निर्मित किए जाते हैं। कृषि उपकरण हल (नांगोल), जुगल भी बाँस से ही तैयार किए जाते हैं। बोड़ो महिलाएं कपड़े बुनने में काफी माहिर होती हैं। बुनाई की सामाग्री जैसे बुनाई के लिए जिन चार खुटिया की जरूरत पड़ती है (साल खूनतिया), कपड़े लपेटनेवाला (गानडोई), चरखा (जोतोर), सुता लपेटनेवाला (मुसुरा), गोनशी आदि कई वस्तुए बाँस से निर्मित किए जाते हैं।

समाज और संस्कृति में हुए परिवर्तन :

1. **धर्म -** आज बोड़ो समाज में धर्म कई भागों में बंट चुका है। किसी ने ईसाई तो किसी ने ब्रह्म धर्म ग्रहण किया है। कहा जाता है कि ब्रह्म धर्म का प्रचार गुरुदेव कालीचरण ब्रह्म ने किया था। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आधुनिकता की चपेट से बोड़ो समाज में काफी परिवर्तन हुआ है।
2. **पर्व-त्योहार -** भागमभाग के इस दौर में समय की कमी आज बहुत बड़ी समस्या है। न तो आज किसी के पास अपनों से चैन से बात करने को समय है और न ही वक़्त बिताने को। ऐसे में पर्व-त्योहारों का आयोजन काफी संख्या में कम होने लगा। आधुनिकता के चलते लोगों में ईश्वर की आस्था और विश्वास भी काफी मात्रा में कम होने लगा है। लोग कम से कम अपने घरों तक सीमित रहकर ही पूजा-पाठ का समापन करते हैं। बैसागू (बीहू) आज आधुनिक तरीके से मनाई जाने लगी है।
3. **खान-पान -** खाद्य सामग्री किसी भी व्यक्ति के लिए जरूरी है। समय के साथ-साथ आज बोड़ो जनजातियों में भी मसालेदार खाने की आदत पड़ गयी है। घी, बटर, तेलीय खाद्य आज कई घरों में आम बात हो गयी है। घरेलू सोडे के बदले लोग आज बाज़ारों में उपलब्ध सोडा का प्रयोग करने लगे हैं।
4. **पहनावा-आभूषण -** बदलते समय के साथ हर चीज का बदलाव जरूर आता है। बोड़ो महिलाएं जहां स्वयं अपने लिए बुनाई किया करती थी। वह आज धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही है। आज कपड़े मशीनों में बुनी जा रही है। मशीनों में बनी रंग-बिरंगी फूलों वाली रंगीन कपड़े को अधिक पसंद किया जाने लगा है। जिसके चलते ग्रामीण स्त्रियों के हाथों से बुने हुए पोषाकों की कीमत बाज़ारों में कम होती जा रही है।
5. **वाद्य-यंत्र** –आज पहले की तरह लकड़ी से बनी वाद्य-यंत्र उपलब्ध नहीं होता। सिफुंग (बांसुरी), सेरजा जैसी वाद्य यंत्र आज प्लास्टिक से बना हुआ का इस्तेमाल किया जा रहा है। शादी विवाहों में परंपरागत लोकगीत का प्रयोग न कर डीजे, डिस्को, बॉलीवुड के गानों को शौक से बजाया जाने लगा है।
6. **हस्तशिल्प एवं कला** - हस्तशिल्प की बात करें तो हम वाकिफ है कि मशीनों के आने के बाद हाथों की मेहनत भारी मात्रा में कम हो चुकी है। बोड़ो समाज में भी आज जैसे बाज़ारों में बनी-बनाई सामाग्री का ही उपयोग अधिक मात्रा में देखने को मिलता है। झारू, पंखा आज बाज़ारों में ही उपलब्ध है। कपड़ों की बुनाई से पहले का कार्य भी आज मशीन में कर लेने के बाद घर पर बुना करते हैं।

निष्कर्ष - संस्कृति हमें एक अलग पहचान देती है इसीलिए हमारा कर्तव्य बनता है कि हम अपनी संस्कृति की रक्षा करें। उसे फलने और फूलने का अवसर प्रदान करें। हालांकि बोड़ो समाज अपनी परंपरागत संस्कृति के लिए जाना-जाता है लेकिन बदलते समय के साथ काफी कुछ परिवर्तन भी जरूर हुए हैं। हमने देखा कि कई धार्मिक उत्सव, तौर-तरीके काफी बदल चुके हैं। अतः बदलते समय के साथ पुरानी मान्यताओं को सहेजना भी हमारा धर्म है।

संदर्भ :

1. नार्जारी, भबेन, (संपा) (2005), *बोड़ो कछारीर समाज आरू संस्कृति*, चिरांग पब्लिकेशन बोर्ड, काजलगाँव, पृष्ठ संख्या- 6

ऋतु सम्बन्धी लोक-गीतों में स्त्री

डॉ. मुन्नी चौधरी
सहायक प्रोफसर, हिंदी विभाग
दयालसिंह इवनिंग कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

शोध सारांश:
लोक, गीत और स्त्री – तीनों संपूरक हैं। इनमें से किसी एक का भी अभाव नहीं हो सकता। ये तीनों मिलकर जो मिथक गढ़ते हैं, वही लोक है। लोक बिना गीतों का नहीं हो सकता और गीत बिना स्त्री का नहीं हो सकता। लोक को नियम-कानून नहीं चाहिए होता है। वह किताबों और पोथियों पर आश्रित नहीं है। वह अपनी स्वतंत्रता और आधुनिकता में वास्तविक लोकतंत्र है। उसे तथाकथित सभ्य समाजों की जरूरत नहीं है। गीतों की आत्मा व कलेवर स्त्रीत्व से सम्पृक्त है। लोक और गीतों का अस्तित्व स्त्री से है। स्त्री से लोक है, जो स्वाधीन है। इसीलिए स्वाधीनता और परिपूर्णता उसका प्राण है। जीवन वहीं है, जिसमें उल्लास, राग, तृप्ति, आवेग और सुकून का सागर है।

बीज शब्द :
लोक, गीत, स्त्री, राग, दुख, मुक्ति और जीवन

'लोक' आम या जन-साधारण व्यक्तियों या जन-समूह का द्योतक है। विश्व ग्लोबल गांव नहीं बन पाया था तब यह देश, विश्व या संसार या जगत का पर्याय था। जब से मनुष्य ने इसकी एक-एक सीमाओं को लांघ गया है या पता लगा लिया है तब से यह ग्लोबल बन गया है। लोक जनपद का भी पर्याय है। मेरा मतलब यहां इसी जनपद विशेष से है। हर जनपद एक विश्व या जगत की सारी विशेषताओं को समेटे हुए होता है। यहां वे सारी विशेषताएं मिल जाती हैं, जिसकी परिकल्पना में एक सम्पूर्ण विश्व होता है, जो अपने-आप में परिपूर्ण होता है। वहां लोगों का जीवन गतिशील बना रहता है और जिसे किसी दूसरी दुनिया की कोई जरूरत नहीं रह जाती। वहां के निवासियों की उत्तरजीविता सतत बनी रहती है। वह योग्यतम की उत्तरजीविता (Survival of the Fittest) के सिद्धांत को बनाये रखता है या उस पर खरा उतरता है। यह लोक मूल या आदि वासी-निवासी या नेटिव्स का द्योतक है। भारत की पचासी प्रतिशत जनता मूल निवासी है, जो अपने वंशों को उत्तरोत्तर बढ़ाने में हजारों सालों से अपनी परिपूर्णता या दक्षता का परिचय दिया है और देता आ रहा है। यहां के दलित, आदिवासी व पिछड़े जन-समूह उत्तरजीविता के सशक्त उदाहरण हैं, जो अपने-आप में स्वतंत्र हैं और जिसे किसी खास समुदाय की कभी आवश्यकता नहीं रही और न अब है। इन वर्गों के लोगों ने प्राचीन इंडिया में अपनी अत्याधुनिकता का परिचय दे दिया है। सिंधुघाटी व बौद्धकालीन सभ्यताएं इस बात की पुष्टि कर देती हैं तथा जो दुनिया के गिनी-चुनी सभ्यताओं की समकालीन रही हैं। उत्तरजीविता ही वह नींव है, जिस पर इनका महल खड़ा है। यही कारण है कि दुनिया के तमाम आततायियों ने इनकी हस्ती मिटाने की पुरजोर कोशिशें कीं लेकिन मिटा न सकीं। लाखों बर्बरों के झंझावात भी इन्हें न मिटा सकेंगे। इस लोक की कुछ विशेष वजहें हैं, जिनके कारण इनकी हस्ती नहीं मिटती और न मिटायी जा सकती है।

लोक इतना विशाल होता है कि इसका सम्पूर्ण साहित्य में समा नहीं पाता। इसीलिए इनका प्रतिनिधित्व जितना इनका लिखित साहित्य नहीं करता उससे ज्यादा इनका मौखिक साहित्य करता है। सांकेतिक भाषा-भाव-ज्ञान जितना कमतर का बोध कराता है, मौखिक उतनी ही विपरीतता में विशालता को प्रदर्शित करता है। यही कारण है कि यहां मौखिक साहित्य-ज्ञान इनकी सभ्यता-कल्चर का प्रतिनिधि है और यह भी उत्तरजीवी है ठीक उनके वंशों की तरह। लोक साहित्य मौखिक रूप में हजारों सालों तक जिंदा रहता है और इस रूप में उनका धरोहर सतत प्रवहमान बना होता है। लोक साहित्य में पारम्परिक व आनुभाविक ज्ञान, कल्चर और जीवन-शैली सुरक्षित कुछ घिसती-जुड़ती चलती चली जाती है। इसमें उनके मिथक, नयी-पुरानी परम्परायें, रीति-रिवाज, आस्था-विश्वास, गीत-संगीत, नाटक, कथा, दर्शन, विचार आदि सब कुछ जिंदा सततता में गतिशील रहते हैं, जो आज गद्य और पद्य दोनों रूपों में उपलब्ध हैं।

जो आज के लोक-साहित्य का मूल स्रोत है[1]। लोकमानस सहज प्रकृत होने के कारण सरल और बोधगम्य होता है, जो उसके वास्तविक अनुभव से उपजा होता है।

साहित्य के विविध रूपों में मूल निवासियों की भावनाएं या कल्चर अभिव्यक्त होती हैं। ये सामाजिक परम्पराओं, रीति-रिवाजों, आस्था-विश्वासों, मानव-मूल्यों और व्यवहारों की संवाहक होती हैं। इसका सम्बन्ध मानव जीवन के संघर्षों और उपलब्धियों से होता है। इसमें उनका सुख-दुख या कहें सब कुछ व्यक्त होता है, जिसमें जीवन के पूर्व से लेकर मौत के बाद तक की क्रिया-कलापों-विश्वासों का भी अंकन होता है। लोक-साहित्य में लोक का सम्पूर्ण अभिव्यक्त होता है और सुरक्षित भी रहता है। वह अपनी सहजता, सरलता, स्वच्छंदता और स्वाभाविकता के लिए जाना जाता है। उसमें जटिलता का गुण नहीं पाया जाता। उसकी भाषा सरल-सहज-सुबोध होती है ठीक उसी तरह जैसे लोक का जीवन होता है। देश की सारी क्षेत्रीय भाषाएं इस बात की पुष्टि करती हैं। हिंदी लोक की भाषा है, लोक से निकली है और लोक द्वारा सृजित है। इसकी प्रकृति इसीलिए सरल, सुगम और सुबोध है। लेकिन हिंदी अब अपनी प्रकृति से दूर बनावटी के रंग में रंगती दुरूह होती चली जा रही है। खैर, लोक साहित्य अपनी सहजावस्था में उपस्थित रहता है। इसमें लोक जीवन की आशा-निराशा, हर्ष-विषाद, जीवन-मृत्यु, लाभ-हानि, सुख-दुख आदि भावानुभावों की अभिव्यंजना साफ दिखती है। अब्राहम लिंकन के तर्ज पर कहें तो यह जनता का साहित्य है, जो जनता द्वारा जनता के लिए है। यहां 'जनता' व 'लोक' से तात्पर्य उन लोगों से है, जिसे तथाकथित सभ्य व शहरी लोग 'गंवार', 'गंवई' या 'तुच्छ' या 'नगण्य' समझते हैं।

गीत लोक साहित्य का सर्वाधिक सशक्त रूप है, जिसमें जन-जीवन के गूढ़तम गांठों और पेंचों को बड़ी सहजता से व्यक्त कर दिया जाता है, जिसे नअक्ल व्यक्ति भी समझ लेता है। यह विशेषकर स्त्री के कोमल-करूण सुख-दुखात्मक भावानुभावों की अभिव्यक्ति का सर्वाधिक सशक्त रूप है। गीतों में अधिकतर वही होती है। मेरी दृष्टि में, वह नहीं होगी तो गीत नहीं होगा। गीत है तो स्त्री है। गीत गोपन का सर्वाधिक सभ्य व शालीन अभिव्यक्त माध्यम है। उल्लेखनीय है कि गोपन स्त्री का ही होता है, पुरुष का नहीं (भारतीय संदर्भ में)। इसलिए गोपन है तो वह स्त्री का ही है। उल्लेखनीय बात यह भी है कि गूढ़तम रहस्यों को सरलतापूर्वक समझाने का लयबद्ध तरीका सर्वाधिक पुराना और लोक का प्राण है। गीत लोक का सर्वाधिक सफल-सशक्त आविष्कार है। गेयता स्त्रैण गुण है वहीं वाद्यता पुरुषवाही है। गीत से मन-मानस व देह की गूढ़तम तंतुओं को झंकृत किया जाता है। यह गेय है इसीलिए क्योंकि गेयता मन-मानस की तंत्रिकाओँ को जगाता है, सहलाता है तथा उसे सक्रिय बनाता है। कुल मिलाकर, गीत का लक्ष्य और सिद्धि शांति व सुकून है। यही गीत है।

गीत दुखी लोगों का अमर रस है। जहां दुख है वहां गीत है। भारत दुखी लोगों का देश है। इसीलिए बुद्ध दुख से द्रविभूत थे। दुख ने ही उन्हें आकर्षित किया था। इसी दुख ने उन्हें मानवता का महान अध्येता बनाया था। वे दुनिया के पहले ऐसे अध्येता थे, जिन्होंने दुनिया को दुख से मुक्ति दिलाने का संकल्प लिया था। उन्होंने इसमें सफलता भी हासिल की थी और लगभग पंद्रह सौ वर्षों तक भारत को दुखों से मुक्ति दिलाने में उनके सूत्र कारगर साबित हुए। यही दुखवाद बौद्ध धर्म का मूल है। भारत की जनता अंतहीन दुखों से घिरी हुई है, जिसे कुछ हद तक अंग्रेजों ने मुक्ति दिलाने में सफलता हासिल की। यही कुछ महान काम डा. बाबा साहब भीमराव आंबेडकर ने किया। उन्होंने कुल जनसंख्या के संतानबे प्रतिशत जनता को तीन प्रतिशत लोगों के साथ शान से खड़ा करने का गुरूत्तर कार्य किया है।

यहां दुख है तो दुख से मुक्ति के हजारों प्रकार के साधन जैसे गीत-संगीत और वाद्य-यंत्र हैं। इनसे मनोरंजन करके भारतीय दुखों से मुक्त होते हैं। सत्ता, धर्म व समाज-संचालकों की अंतहीन व मर्मांतक शोषण-दुख-अपमान-बर्बरता से भारतीय जनता आपाद पीड़ित है। यहां शोषण के इतने स्तर हैं कि कोई भी इससे अछूता नहीं है। वैसे, मातम मनाने का सारा जिम्मा भारतीय स्त्रियों के ऊपर छोड़ दिया गया है। इसीलिए मौत के मातम में सर्वाधिक दुखी स्त्रियां ही होती हैं, इसलिए भी कि वे जन्म देने की पीड़ा की भुक्तभोगी होती हैं। मौत किसी की भी हो - उन्हें जिस हुलिये और स्थितियों में रहना पड़ता है वह सर्वाधिक पीड़ादायी होती है। इसीलिए इस दुखदायी स्थिति को स्त्रिंयों के माथे सौंप दिया गया है। वे मातम मनाती हैं और दुख की गहरी व घनी पीड़ा का अनुभव करती हैं तथा जीवित रहते हुए भी वे इसी में जीती हैं। गौरतलब बात है कि जन्म और मौत – दोनों ही परिस्थितियों में दुखी केवल स्त्री ही होती है। पुरुष दोनों ही स्थितियों में खुद को दुख से पल्ला झाड़ लेता है। यहां दुख भी एकांगी है।

लोक गीत मूल रूप से वाचिक रूप में ही मिलते हैं। महिलाएं बात-बात में गीत बना लेती हैं। एक तरह से गीत के बोल उनकी जबान पर होते हैं। दूसरी बात कि पीढ़ी-दर-पीढ़ी स्वीकार की जाने की वजह से गीत स्त्रियों की जुबान पर होते हैं। दूसरी, प्रिंटिंग की सुविधा न होने और सजग अध्येताओं की कमी होने की वजह से इसके संग्रह की प्रवृत्ति का अभाव है। तीसरी, समाज और देश से शिक्षा-संस्थाओं के उन्मूलन, अशिक्षित बनाये रखने की मानसिकता, बौद्ध विश्वविद्यालयों और उनकी किताबों को नष्ट करने की प्रवृत्ति, बौद्ध-ज्ञान के श्रोतों को संग्रहित न रखने की प्रवृत्ति और यथार्थ-तार्किक-विज्ञान-ज्ञान विरोधियों द्वारा इसे नष्ट करने की मानसिकता, मूल निवासी अध्येताओं की हत्या, ज्ञान-विरोधियों द्वारा शिक्षितों-बौद्धों- अध्येताओं- वैज्ञानिकों- आलोचकों व प्रगतिशील सोच के लोगों की हत्या व ऐसा करने हेतु पुरष्कार की घोषणा आदि वजहों से कलाओं को जीवित न रखा गया. समाज के ठेकेदारों द्वारा भाग्य-भगवान को बढ़ावा देना तथा शिक्षा पर प्रतिबंध लगा दिये जाने की वजह से ज्ञान को संग्रहित न रखने की प्रवृत्ति बढ़ी और प्रतिभा घर-परिवार-जबान में ही सिमट कर रह गई। यहां तक कि सत्ता व जिम्मेदार लोगों द्वारा आमजन पर विभिन्न प्रकार से प्रतिबंध लगाये जाने की वजह से जनता

की प्रतिभाएं मरती गईं। कुल मिलाकर, देश व समाज का अंधकार के गह्वर में समा जाना भी बड़ा कारण रहा है। बाहरी आतंकियों व बर्बरों द्वारा मूल निवासी भारतीयों का अंतहीन शोषण-अत्याचार-अपमान-लूट-आगजनी-हिंसा-बलात्कार तथा मनुजों को जानवर में तब्दील करने की प्रवृत्ति के कारण कला-ज्ञान समाप्त होता रहा और यह केवल हाथ व जबान से पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरण में ही बना रहा। श्रमजीवियों में ज्ञान, कला-विज्ञान अनायास ही मिल जाता है। बावजूद इन सबके आज मूल निवासी अपनी ही मिट्टी के खर-पतवार व तलछट बन गये हैं। उल्लेखनीय है कि लोक मूल निवासियों का है। लोकगीत लोक के गीत हैं, जिन्हें कोई एक व्यक्ति नहीं बल्कि पूरा लोक समाज अपनाता है। सामान्यतः लोक में प्रचलित, लोक द्वारा रचित एवं लोक के लिए लिखे गए गीतों को लोकगीत कहा जा सकता है। लोकगीतों का रचनाकार अपने व्यक्तित्व को लोक को समर्पित कर देता है। शास्त्रीय नियमों की परवाह न करके सामान्य लोक-व्यवहार को उपयोग में लाने के लिए मानव अपने आनन्द की तरंग में जो छन्दोबद्ध वाणी सहज उद्भूत करता है, वही लोकगीत है।[2] लोक गीत तीन रूपों में मिलते हैं - लोक में प्रचलित गीत, लोक-रचित गीत और लोक विषयक गीत। लोकगीत सीधे जनता के संगीत हैं[3]। इनके गीतों के विषय रोजमर्रा के बहते जीवन के होते हैं, जो सीधे मर्म को छू लेते हैं।

लोक की स्त्रियां सबल हैं। उनसे संघर्ष करके पुरुष हार गया है। उन पर पुरुषों का जोर नहीं चलता। इसीलिए वे नियम, शास्त्र व रीति-नीतियों को नहीं मानतीं। यही कारण है कि वे स्वतंत्र हैं। उनकी स्वतंत्रता का ही द्योतक है कि उनके अपने रीति-नीति हैं, जो शास्त्रों से अलग हैं। 'आपस्तम्बधर्मसूत्र' भी यही कहता है, 'यत् स्त्रिय आहुस्तत्कुर्युः' मतलब जो स्त्रियां कहें, सो करें[4]। दरअसल, यह लौकिक रीति-नीतियों के सम्बन्ध में ही कहा गया है। लौकिक रीति-नीतियों का दारोमदार स्त्रियों पर होता है। लौकिक रीति-नीतियां जटिल, प्रभावशाली व व्यापक हैं....इनके आधार धर्मग्रंथ नहीं हैं, न इन्हें पुरोहित ही सम्पन्न करते हैं। इनकी मुख्य कर्तृ रमणियां हैं। गीतों की रचयिता मूल रूप से स्त्रियां ही होती हैं। लेकिन उन्हें समाज में महत्व न दिये जाने के कारण भी उनके गीत लिखित रूप में नहीं मिलते। उन्हें शिक्षित भी नहीं किया गया। वैसे, वे व्यक्तिवाद में विश्वास नहीं करतीं। वे तो समष्टि में खुद को मिटा देती हैं। वे खुद को सबमें घुलाकर जीवित रहती हैं। इस कारण भी उनके गीत किसी एक के नाम नहीं मिलते। वहां सिर्फ गीत होता है, गीतकार नहीं होता। अब जबसे मुद्रण कला की शुरुआत हुई है – गीत मुद्रित रूप में मिलने लगे हैं, लेकिन बहुत ही कम मात्रा में। बहुत-से लोक समाजों के लोक गीतों का संग्रह अभी भी नहीं किया गया है। लोक को महत्व न दिये जाने के कारण लोक में पाये जाने वाले ज्ञान-विज्ञान-कला व सभ्य जीवन-शैली का दस्तावेजीकरण आज भी नहीं हो रहा है। बावजूद इन सबके, कुछ जनपदीय या क्षेत्रीय या मूल इंडियन भाषाओं में लोक गीत अवश्य मिल जाते हैं।

भारत में छः ऋतुएं पाई जाती हैं। सभी ऋतुओं में अलग-अलग भाव और सौंदर्य देखने को मिलते हैं। इन ऋतुओं में प्रकृति के अनेक रूप मिलते हैं। ऋतु सम्बन्धी गीतों में मनुष्य और प्रकृति के विविध-रंगी झलक देखने को मिलते हैं। ये ऋतुएं मानव जीवन को गहरे प्रभावित करती हैं। साल के बारह महीने छः ऋतुओं में बंटे हैं और सभी ऋतुओं की अलग पहचान है। सभी ऋतुओं में गायन की परम्परा है। बारहमासा, फाग, चइती, बइसाखी, कजरी आदि गीत विभिन्न ऋतुओं में गाये जाते हैं। इनमें पुरुष और महिला दोनों के गीत मिलते हैं। बारहमासा, फाग, चइती और बइसाखी पुरुषों द्वारा गाये जाने वाले गीत हैं, वहीं कजरी महिलाओं द्वारा गाया जाने वाला गीत है। कुछ गीत भले ही पुरुषों द्वारा गाये जाते हैं, पर भाव के केंद्र में स्त्री ही होती है। वही पुरुषों के जीवन की धुरी है। इसीलिए सभी गीतों में स्त्री होती है। मैं यहां कुछ ऋतु गीतों की चर्चा करुंगा और उनमें स्त्रियों की उपस्थिति का वर्णन करूंगा। मेरे इस अध्ययन के केंद्र में मगध और मगही है।

फाग – फाग हिंदी प्रदेशों का बड़ा ही लोकप्रिय लोक-राग है। इस राग के गीतों की शुरुआत बसंत पंचमी के दिन से ही हो जाती है और होली-त्योहार के बाद बुढ़वा मंगर तक गायन-वादन-नाचन चलता रहता है। इन गीतों को कई लोग फगुआ भी कहते हैं। इसे फागुन महीने के उत्सव के तौर पर भी जानते हैं। इसे फागुन में गाया जाना वाला गीत से भी जानते हैं। फगुआ उत्सव में लोग एक-दूसरे पर कीचड़-रंग-गुलाल डालते हैं, पूए-पकवान व वेज-नानवेज की तली-भुनी चीजों के साथ नशीले पदार्थों का सेवन भी करते हैं। इस मौके पर नशा करना एक आम चलन है, जिसमें न केवल पुरुष बल्कि स्त्रियां भी भाग लेती हैं। इस त्योहार को स्त्री-मर्दन के नाम से भी जानते हैं। इस गम व खुशी के मौके पर स्त्रियों पर पुरुष आधिपत्य जमाने की प्रवृत्ति दिखती है। खुशी मनाने का चरमोत्कर्ष स्त्री-मर्दन पर जाकर सम्पन्न होता है। जिनके पास इसकी उपलब्धता नहीं होती वे नशे में गम गलत करते हैं। इस त्योहार को मनाने के लिए नौकरी-पेशा या दूसरे देश-राज्य में रहने वाला परिवार अपने मूल निवास को पहुंचता है और अपने सगे-सम्बन्धियों के साथ मिलकर इसे सम्पन्न करता है। इस त्योहार की समाप्ति से ही नये साल की शुरुआत मानी जाती है। इस होली के भी अनेक रूप हैं, जैसे रंडुओं की होली, ब्रज की लठ्ठमार होली, बनारस की अट्टहास होली, बुढ़वा मंगर होली आदि। यह त्योहार फागुन महीने की पूनम को मनाया जाता है। यह दो दिन मनाया जानेवाला त्योहार है। पहले दिन होलिका (स्त्री) को पुरुषों का दल-बल मिल-जुलकर जलाता है। इसे होलिका दहन कहा जाता है। यही दल दूसरे दिन की सुबह जली हुई राख को एक-दूसरे के माथे पर मलता है तथा शाम को नहा-धो नये कपड़े पहनकर रंग-गुलाल लगाता-उड़ाता है। दूसरे दिन को ढुढ़ेरी या धुरखेल के नाम से जानते हैं। इसके अगले मंगलवार को बुढ़वा मंगर की होली कहते हैं। इस दिन तक होली का त्योहार मनाया जाता है। घर में स्त्रियां भी पहले तो पुरुषों के साथ रंग-गुलाल लगाती-उड़ाती-खेलती हैं और पूए-पकवान, मास-मछली

बनाती हैं, पुरुषों के संग वे भी खाती-पीती हैं। इस मौके पर स्त्री-पुरुष दोनों नशे का इस्तेमाल करते हैं। इसी माहौल में ढोलक-झाल-मजीरे की टोली गाती-बजाती हुई गलियों में निकलती है। इस वक्त शोहदों की टोली देखने लायक होती है। यह लोक-राग लगभग एक से सवा महीने तक चलता है। होली के मौके पर मनुज तो मदमस्त होता ही है, प्रकृति की जवानी भी पूरे सबाब पर होती है। इस मौसम में न तो गरमी अधिक होती है और न ही सरदी। मौसम का तापमान बीस-पच्चीस डिग्री का होता है। धरती पर रब्बी फसलों की बहार-ही-बहार दिखती है। लगभग सभी फसलें फूल-फलों से गदरा चुकी होती हैं। खेसारी, गेहूं, मसूर, मटर, चना आदि की फसलें अपने सबाब पर होती हैं। ये गदराकर खाने के लायक हो जाती हैं। सरसों के पीले फूलों से धरती पीली-पीली चुनर में लिपटी दिखती है। तीसी के नीले फूल गजब की चटख नजारे पेश करते हैं। विभिन्न प्रकार की सब्जियों से धरती पटी पड़ी होती है। इस वक्त आलू की फसल कट रही होती है। इसलिए आलू इफरात में उपलब्ध हो जाता है। यही कारण है कि इस वक्त आलू का अउंधा खूब खाया जाता है। गोइठे की आग में रखे मिट्टी के बर्तन में पके आलू को जब नमक-मिर्च के साथ समूह में खाया जाता है तो देह में गरमी दौड़ जाती है। उसकी सोंधी गंध से कोई भी खाने को ललचा जाता है। गंवई फलों की बहार भी धमक चुकी होती है। बेर खाने लायक हो जाता है। आम की मंजरी तो मानो इत्र छिड़क रहा होता है और वातावरण मादक हो उठता है। इस माहौल में कौन ऐसा दिल होगा, जो न तड़पेगा और न झूमेगा!

होली एक बड़ा लोक त्योहार है। यह काम का त्योहार है, जहां उन्मत्त जवानी मद-मस्त मौसम में प्रिय के साथ रंग-रलियां मनाने की इजाजत लेती-देती है। इस मौके पर स्त्री-पुरुष मौसम के साथ-साथ ताल मिलाकर जीवन की रंगीनियों में डूबते हैं। आशीकाना मौसम, नये फसलों से पटी-पड़ी धरती, फूल-फलों से लदी डालियां व भूरे रंग में रंगी धरती जो वातावरण पेश करती है, वह अलमस्त जवानी की अंगड़ाइयां लेती-सी दिखती है। किसान-मजदूर परिवार मस्ती की उद्दाम लहरियों में खो जाता है। इस मौके पर लोग रसपूर्ण गीत गाते हैं। वैसे, इसमें पुरुष ही गाता-बजाता है। स्त्री चिरंतन सुख की मौन-मधी पुकार समझी जाती है। इसीलिए कई जगहों पर इसे स्त्री-मर्दन का त्योहार भी कहा जाता है।

यह मगही होली गीत स्त्री-केंद्रित है, जिसमें नसेड़ी पुरुष सो गया है। स्त्री के साथ कोई और मजे लेकर उड़ जाता है। इसी बात को स्त्री कितनी साफगोई और रूमानियत से कहती है – लाजवाब है। हालांकि पुरुष की दृष्टि में वह महज भोग की वस्तु है। यहां भी वह इसी रूप में पेश की गई है। गीत देखिये –

नकबेसर कागा ले भागा
अरे मोरा सइयां अभागा, ना जागा।
उड़ि-उड़ि कागा मोर बिंदिया पे बइठा, मोर बिंदिया पे बइठा
अरे मोरे माथे का सब रस ले भागा। नकबेसर कागा......
उड़ि-उड़ि कागा मोर नथुनी पे बइठा, अरे नथुनी पे बइठा
मोरे होठवा का सब रस ले भागा। नकबेसर कागा.........
उड़ि-उड़ि कागा मोर चोलिया पे बइठा, अरे चोलिया पे बइठा
अरे जोबना का सब रस ले भागा। नकबेसर कागा............
उडि-उड़ि कागा मोर करधन पे बइठा, अरे करधन पे बइठा
अरे मोर कमरियो का सब रस ले भागा। नकबेसर कागा.....[5]

इस दूसरे होली गीत में परकीया-प्रेम की व्यंजना है। नायिका के कुराह चलने के कारण उसके पैर में केतकी के कांटे चुभ गये। उल्लेखनीय है कि केतकी में सौरभ के साथ कांटे भी होते हैं। परकीया-प्रेम सुखद भी है और उलझनपूर्ण भी। इस प्रेम में एक उद्दाम वेग है तो वहीं बड़े खतरे व अपमान का भयंकर डर भी होता है। इसमें साहस, अतीव तृप्ति, मौत को चुनौती देने की ताकत, सारे रस्मों-रिवाज व बंधनों को तोड़ने की गजब की हिम्मत और अपमान का भयंकर डर भी होता है – बावजूद यह इतना आकर्षक है कि दुनिया का हर इंसान इसमें प्रवेश कर ही जाता है। यह गीत द्विअर्थी है। नायिका भी इस प्रेम में पड़कर उलझन में पड़ गई है। अब उसे अपनों से ही बचाव की आशा है –

चले के तो रहिया, चलली कुरहिया,
से गड़ी गेलइ ना।
केओरवा के कंटवा से गड़ि गेलइ ना।
देवरा मोरा कांटा निकालतइ ननदिया
से पिया मोरा ना
से हरतइ दरदिया, से पिया मोरा ना[6]

इस तीसरे गीत में होली के अवसर पर नायिका पर अनुराग की वर्षा हो रही है। फागुन के आते ही उसे कई तरह से गिफ्ट और प्यार दोनों मिलेंगे। उसके लिए यह महीना सुदिन बनकर आया है। गीत देखिये –

फागुन महिनवां, आयल सुदिनवां
देवरवा भिंगावइ चुनरिया।
पटना सहरवा से आवइ रंगरेजवा
रंगवा डुबावइ जोबनवां।
टिकवा गढ़ावे सइयां, झुमका गढ़ावे
देवरा गढ़ावइ बेसरिया।
कंगनवां गढ़ावे पिया, पहुंची गढ़ावे
देवरवा गढ़ावइ करधनियां।
रंग नहीं डार देवरा, अबीर नहीं डार
भींजि गेलइ गदराएल जवनियां[7]

चइती/चैती – चइती गीत चइत के महीने में गायी जाती है। इस महीने में धरती फूलों की खुशबू से तर रहती है वहीं फसलों से किसानों का हृदय गदगद हो रहा होता है। इस महीने में आम में मंजरियां आ जाती हैं, जिसकी मादक गंध से हर जीव मादकता का अहसास करता है। वातावरण भी सुखद होता है, जिसमें न तो सर्दी होती है, न गर्मी और न बरसात। कुल मिलाकर, यह महीना मौज-मस्ती का भरपूर साधन लेकर आता है। प्रकृति प्यार के लिए उद्दीपन बनकर

आती है। युवा स्त्रियां प्यार पाने को लालायित हो जाती हैं। इस महीने में प्रकृति ही नहीं, जीव-जंतु और हर मनुष्य रस के भार से भर जाता है तथा उन्मत्त महसूस करता है। विरहिणी नायिका के हृदय में प्यार की कसक और टीस उठती है, वहीं संयोग सुख में जीने वाली नायिका बल्लियों उछलती है। चैती गीत रोमांचक होते हैं।

इस चइती गीत में नायिका बगीचे में गई थी। उसकी अंगुली में कांटा चुभ गया है। अब वह परेशान है कि कौन उसकी अंगुली में चुभे कांटे को निकालेगा और कौन उसके इस दर्द को दूर करेगा। खुद ही उत्तर देती हुई कहती है कि उसका देवर अंगुली के कांटे को निकालेगा और पति उसके टीस-दर्द को दूर करेगा। दरअसल, इस गीत में द्विअर्थी बातें की गई हैं। लोक की बड़ी खासियत होती है कि वह गूढ़-से-गूढ़ और जटिल बातों को बड़ी सरलता से रहस्य और द्विअर्थी शब्दावलियों में समझा देता है। इसी बात को सीधे नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सीधी बातों से सभी समझ लेंगे। इसीलिए प्यार चाहने वाला या वाली अपनी बात को द्विअर्थों या रहस्य में लपेटकर प्रस्तुत करता है। इसे समझने वाला समझ भी ले और शालीनता भी बनी रहे। लोक के गीत रचने या गढ़ने वालों को किसी शिक्षा की कोई जरूरत नहीं है। वे इतने प्रकृति-प्रदत्त प्रतिभा के धनी होते हैं कि उनके सामने बड़े-से-बड़े डिग्रीधारी भी पस्त हो जाते हैं -

कंटवा गड़ेला जिआ साले हो रामा
ना जइबो बगिया।
के हो निकाले मोरा अंगुरी के कंटवा
के हर लीहें मोर दरदिया हो रामा
ना जइबो बगिया।
देवरा निकाले मोरा अंगुरी से कंटवा
सइयां हर लीहें मोर दरदिया हो रामा
ना जइबो बगिया।
देवरा निकाले मोरा अंगुरी से कंटवा
सइयां हर लीहें मोर दरदिया हो रामा
ना जइबो बगिया[8]

इस दूसरे चइती गीत में नायिका अपने गोरे रंग पर गोदना नहीं गोदवाती। उसे डर है कि कहीं गोदना के काले रंग को देखकर उसका प्रेमी उसे पहचानने से इंकार न कर दे। गालों की गोराई उसके प्रेम की पहचान है। वह कल ही आनेवाला है। इस मदमस्त मौसम में उसका अंग-अंग फड़क रहा है और दूसरी खुशहाल सहेलियों को देखकर मन हाहाकार कर रहा है। ऐसे में, उसकी आस पूरी नहीं हो सकेगी। वह लाख कसम खायेगी और समझाएगी कि उसके गाल का काला धब्बा गोदने का है – कुछ और दाग नहीं है, तब भी वह प्रतीत नहीं करेगा। मुन्नी चौधरी लिखित इस गीत को देखिये -

गोर-गोर गालों पे गोदनवां हो मामा
हम ना गोदइबे।
काल्हे हईं राजा के अवनिआं से
एही हवे पीआ के निसनियां हो मामा
हम ना गोदइबे।
अंग-अंग फरके हीआ मोर हहरे से
कइसे खेलब हम चिकनिआं हो मामा
हम ना गोदइबे।
गोदना के रंग भूच-भूच करिआ से
ना पतिअइहें खाई कतनो कसमिआं हो मामा
हम ना गोदइबे।

बइसाखी/बैसाखी – बइसाखी बैसाख के महीने में गाया जानेवाला गीत है। इस वक्त तेज गरम हवा चल रही होती है। मगही इलाके में ताड़ की ताड़ी पेय के रूप में पी जाती है। वहां ताड़ के पेड़ों की अधिकता होने की वजह से ताड़ी एक बहुत ही प्रसिद्ध पेय है। यह एक ऐसा पेय है, जिसका कोई नुकसान नहीं है, बल्कि फायदे-ही-फायदे हैं। किसान गरमी के इन (अप्रैल-मई) महीनों में सारे काम-धाम निपटाकर खाली पड़ा होता है। शादी-ब्याह अपने चरम पर होता है। चिलचिलाती धूप और गरमी में शादी-ब्याह जैसे जरूरी काम निपटाये जाते हैं। ऐसे में, ताड़ या आम के बगीचे में या रोड के किनारे बनी टेम्पोरेरी खघड़े से बनी झोंपड़ी में ताड़ी मिलती है। पैदल चल रहा गरीब-गुरबा इस पेय को पीकर मदमस्त हो जाता है और सारा काम निपटा लेता है। गरीब तो गरीब अमीर स्त्री-पुरुष भी इसे खूब पीते हैं। इसका लगातार सेवन करनेवाला आदमी अनेक भयंकर बीमारियों से मुक्त रहता है। यह गरीब-गुरबों का गीत है, जिसे ताड़ी पीकर गाया जाता है या अगर न भी पी जाती है तब भी इसे खरिहान या दोपहरी में आम के बगीचे में मेहनत-मजूरी करने वाले लोग इकट्ठा हो जाते हैं और गाते रहते हैं। इस गीत में इतनी मिठास और उल्लास होता है कि तपती धरती, आग बरसाती पछुआ हवा और जानलेवा लू भी गरीब-गुरबों को कुछ बिगाड़ नहीं पाती। इस प्राकृतिक आपदा के दौर में लोगों को स्वस्थ रखता है ताड़ की ताड़ी, सत्तू, फूला चना, प्याज और कुएं या हैंड पम्प का ताजा-शीतल पानी। इतना ही नहीं, इस वक्त ककड़ी, फूट, तरबूज, जेठुआ सब्जियां, आम के टिकोरे व उससे बना कूचा सारे दुख-दर्दों से इंसान को मुक्ति दिलाने में कारगर साबित होते हैं। बइसाखी गाने वाले मजदूर, बनिहार, बाजे-गाजेवाले, नट-गुलगुलिया या बंजारे, अहीर लोग इसे खूब गाते हैं। इसी महीने में पासी के ताड़ी की मुंहजूठी होती है। मुंहजूठी के दिन पासी पहली बार अपनी ताड़ी का स्वाद चखता है और मौत को मात देती कठिन परिश्रम से ताड़ी उतारता रहता है। पूरे बइसाख के महीने में वह खाली बदन रहता है। यही ताड़ी उसे सभी प्रकार के रोग-दुखों से मुक्त रखता है। हालांकि अब ताड़ी पर टैक्स न लगने के कारण कुछ आमदनी भी हो जाती है। लेकिन यह मौत का झूला साबित होता है। हर साल सैकड़ों पासी ताड़ी उतारते वक्त गिरकर मर जाते हैं। यह इतना दुश्कर धंधा है कि हमेशा जान जोखिम में पड़ी होती है। बइसाखी के गीतों में गरीब-दीन-दुखियों की आहें व दर्द भुलाने के भाव होते हैं। वह अपने

दुखों को भुलाने के लिए ताड़ी, ढोल-सिंघा-तरसा पर नाचते चमारों के नाच, नंगे बदन दंउरी व दूसरे सारे काम करता मजदूर बइसाखी गाता वक्त काट लेता है। गांव में नेटुआ का नाच भी इन्हीं महीनों में दिखता है। बइसाखी तड़बन में गाया जानेवाला गीत है। दरअसल, बइसाखी ताड़ी और गीत का पूरक है. ताड़ी श्रमिक व निम्न-मध्य वर्ग के लोगों का प्राण है। यही वर्ग तड़बन में ताड़ी पीने पहुंचता है और फिर ताड़ी पीकर गीत गाते हैं, जिसे बइसाखी गीत कहते हैं। ताड़ी पीने वाले-गाने वाले तो पुरुष होते हैं पर उनके दिलों की तृप्ति तो स्त्री ही करती है। इसलिए गीत के केंद्रीय भाव में स्त्री होती है। तड़पीवे ताड़ी पीकर अपनी प्रिये को याद करते हैं, उन्हीं के आगोश में समा जाते हैं तथा उनके ही विरह में तड़पते हैं। यही ताड़ी उन्हें सारे गमों से मुक्ति की राह दिखाती है। वे जहां भी होते हैं ताड़ी पीकर मस्ती में गाते हैं और सुकून की नींद सोते हैं चाहे भूखे पेट क्यों न हों। यहां बइसाखी का एक गीत देखिये -

हउआ बहे रसे-रसे घुमई नजरिआ,
जिआ कहे चलअ-चलअ पिआ के नगरिआ।
जहिया से सइआं मोरा गेलन बिदेसवा,
आवे न अपने न भेजे कोई सनेसवा।
लिलचा के रह जाहे ललकल नजरिआ।
जिआ कहे चलअ-चलअ पिआ के नगरिआ।
जाड़ा जड़ाई गेलई सउँसे ई देहिआ,
गरमी में सब जरई सबरे सनेहिआ।
जिअरा डेराए रामा छाए घअटा करिआ
जिआ कहे चलअ-चलअ पिआ के नगरिआ[9]

कजरी – इसे बरसाती, कजली और मल्हार भी कहते हैं। यह गीत सावन-भादो के महीने में गाया जाता है विशेषकर बिहार और उत्तर प्रदेश में। तीन महीने की भीषण गरमी के बाद सावन की फुहार पड़ते ही धरती मादक सोंधी गंध से भर जाती है। धरती पर चारों तरफ यह मादक गंध फैल जाती है और पूरा जड़-चेतन एक नयी उमंग और जोश से भरा दिखता है। मानव शरीर गदराया हुआ महसूस करता है। तपती देह पर पानी की शीतल फुहार मानों इत्र छिड़क देता है, तेज झोंका देह को नहला कर धो देता है और जवानी निखर उठती है। दिल प्यार करने को मचल उठता है। धरती पर चारों तरफ हरियाली-ही-हरियाली दिखाई पड़ती है। तपी धरती के गर्भ से नये बिरवों के अंकुर फूट पड़ते हैं और अपनी सजीवता व मस्ती प्रकट करते हैं। उमड़-घुमड़कर काले बादलों का आना और फिर गरज-गरज कर फुहार के साथ मूसलाधार बारिश जड़-चेतन को तृप्त कर देती है। इन्हीं काले बादलों के बीच कजरी गाई जाती है, क्योंकि धूप नहीं होती और मौसम खुशगवार होता है। इसी बीच बारिश की हल्की फुहार तेज झोकों के साथ आती रहती है। लोग भीगते रहते हैं और कजरी गाते रहते हैं। महिलाएं अमराइयों में झूला लगाकर झूलती रहती हैं और कजरी गाती रहती हैं। कजरी गीतों में समाज की अच्छाई-बुराई, स्त्री की इच्छा-आकांक्षा, गोपन रहस्य आदि बयां होता है। मिर्जापुर, काशी व बिहार के दाउदनगर (औरंगाबाद) की कजरी सर्वाधिक प्रसिद्ध है, एक कजरी गीत देखिये –

कइसे खेले जाइब सावन में कजरिया
बदरिया घीरी आइल ननदी।
घर से निकसी अकेली, संग में एको ना सहेली
गुंडा रोकि लेले बीचहिं डगरिया। बदरिया ......
केतना जना फांसी जइहें
केतना गोली खाके मुइहें
केतना पीसत होइहें जेहल में चकरिया। बदरिया .....[10]

नई-नवेली भौजाई की इच्छा है कि वह कजरी गाने जाना चाहती है, तभी काले बादल व बादल रूपी गुंडे आ धमकते हैं। वह यह बात अपनी ननद को बताती है। घर से अकेली निकलती है और गुंडे उसे रोक लेते हैं। इस छेड़ने के अपराध में कितने तो मारे गये और कितने तो जेल की चक्की पीस रहे हैं। यह भारत के सामंती व पुरुष प्रधान समाज की कड़वी सच्चाई है, जहां अकेली स्त्री कभी सुरक्षित नहीं रही है। वह आज भी इसकी शिकार है। यह बात भी वह स्त्री अपनी ननद को बताती है, क्योंकि वही उसे समझ सकती है कोई और नहीं। एक और गीत में ननद-भौजाई के बीच सम्वाद है. ननद आग्रह करती है कि वह कदम्ब के पेड़ पर लगे झूले पर झूलने चले। भौजाई प्रोषितपतिका है। उसका पति बिदेस में है, इसलिए उसका मन झूला झूलने को नहीं करता। उसे सब कुछ व सारी चीजें दुखदायी ही दिखाई देती हैं, क्योंकि दुख में सुखकर चीजें चौगुनी दुख देती हैं। यहां दोनों के सम्वादों वाली कजरी गीत देखिये –

हिंडोलवा लागल हइ कदमवां, भउजो चलहू झूले ना।
पिअवा सावन में बिदेसवा ननदो, हिंडोलवा भावे ना।
आवइ पानी के झिंकोरा, भउजो जिअरा हुलसइ ना।
मनवां कुहुंके हे ननदिया, सइयां पतिया भेजे ना।
लागल सावन के फुहरवा भउजो, पपिहा बोलइ ना।
बुंदवा लागइ मोर बदनवां, जिआ मोरा झुलसइ ना[11]

बरसाती – इसे बारहमासा (बारह महीने की कथा), छौमासा (छौ महीने की कथा), चौमासा (चार महीने की कथा) भी कहते हैं। यह बरसा-ऋतु में गाया जानेवाला गीत है. इसमें बारहों महीने के सुख-दुख, हर्ष-विषाद, गरीबी, अभाव व घर में रह रही अकेली विरही स्त्री की स्थिति का वर्णन किया जाता है। पति परदेस चला गया है, लेकिन महीने-दो-महीने बाद आने का वादा करके वह वर्षों तक नहीं लौटता और इस बीच घर में बैठी अकेली स्त्री का जीवन बद से बदतर होता चला जाता है। बारहमासा एक तरह से गरीबी, विरह और दर्द का गीत है। यह विप्रलम्भ श्रृंगार का एक अन्यतम उदाहरण भी है। यह लगभग हर राज्य में पाया जाता है। समाज पुरुष प्रधान होने के कारण स्त्रियों का दर्द पुरुषों द्वारा व्यक्त किया जाता है। स्त्रियों को पुरुषों की तरह बाहर निकलकर बाजे-गाजे के साथ गीत गाने की इजाजत नहीं दी जाती। दूसरे, उन्हें घर-परिवार के कामों से वक्त ही नहीं मिलता कि वे पुरुषों की तरह गीत गाकर अपना मनोरंजन

करें। इसीलिए भाव स्त्री-केंद्रित होते हुए भी गीत पुरुषों द्वारा गाये जाते हैं। हां, कुछेक मौकों पर गाये जाने वाले गीत केवल स्त्रियों द्वारा ही गाये जाते हैं, जिसे पुरुषों ने केवल उन्हीं के लिए छोड़ दिया है। लेकिन यहां भी अपवाद है। मगध व मगही इलाके में गीत गाने वाले लौंडे भी होते हैं, जो पुरुषों व स्त्रियों के गीत गाते हैं। अपवादस्वरूप, विशुद्ध स्त्रियों के गीत गानेवाले भी कुछ पुरुष पाये गये हैं। तेलडीहा गांव का एक भाट (तेवारी) स्त्रियों के गीत गाते-गाते खुद भी व्यवहार में स्त्री ही बन गया था। इसे बरसाती इसलिए कहा गया है कि किसान-मजदूरों को धान रोप लेने के बाद काफी वक्त मिल जाता है, जहां रात में पुरुष इकट्ठा होतें हैं और पूरी रात बरसाती गाते-गाते सुबह हो जाती है। इस गान का आनन्द लगभग महीने भर लिया जाता है।

इस मगही बरसाती गीत की शुरुआत असाढ़ महीने से की गई है। बादल जलधार साजकर चल पड़े हैं। ऐसे समय में, सीता को पाने के लिए राम ने समुद्र में भी बांध बांधा था, पर इस नायिका का प्रियतम नहीं आया। सावन की रिमझिम भी व्यर्थ चली गई। भादो की भयावनी रात में भी प्रिय को प्रियतमा का ध्यान नहीं आता। आसिन में स्वकीया प्रिय को परकीया में अनुरक्त रहने का मधुर उपालम्भ देती हुई याद करती है। इसी तरह कातिक का पुन्य मास चला जाता है। अगहन की हरियाली और प्रकृति के जीव-जंतुओं से विलास का दृश्य समाप्त हो जाता है। पूस का कंपानेवाला ठंढ निरर्थक बीत जाता है। माघ का बसन्ती बयार शरीर को चुभोकर लौट जाती है। फागुन का रंग-गुलाल विरहिणी के चित्त को उदास कर चला जाता है। चैत के फूलों की बहार समाप्त हो जाती है, लेकिन इतने पर भी उसका प्रिय नहीं लौटता। बैसाख की झुलसानेवाली लहर में विरहिणी की ज्वाला बढ़ जाती है। इस पर भी प्रिय को घर लौटने का ध्यान नहीं आता। अंत में, जेठ मास आता है। विरहिणी का भाग्योदय होता है। उसका प्रियतम लौट आता है। कुल मिलाकर, सम्पूर्ण गीत में हरेक मास के प्राकृतिक सौंदर्य-वर्णन के साथ विरहिणी की वियोगजन्य वेदना का भी चित्रण हुआ है -

पहिल मास असाढ़ हे सखि साजी चलल जलधार हे
एही पिरीत कारन सेतु बंधौलन, सीअ उदेस सिरी राम हे
सावन हे सखि, सबद सोहावन रिमझिम बरसइ बूंद हे
सबके बलमुआं रामा घर-घर होइहें, हमरो बलमूं परदेस हे
भादो हे सखि रइनी भयावन, दूजे अंधेरिआ के रात हे
ठनका जे ठनकइ रामा, बिजुरी जे चमकइ, सेइ देखि जिअरा डेराए हे
आसिन हे सखि आस लगौली, आस न पूरल हमार हे
आस जे पूरइ रामा कुबरी सौतिनिआं के, जे कंत रखलक लोभाए हे
कातिक हे सखि, आयो देवारी सब सखि दिअना जराए हे
सखिआ सलेहर रामा पेन्हि पटम्बर चलि भेले गंगा असनान हे
अगहन हे सखि, अगरे महीना चहुंदिसि पीअर धान हे
चकवा-चकइया रामा केलि करतु हैं से देखि जिअरा झुराए हे
पूस मास सखि जाड़ा पड़तु हैं थरथर कांपअ हेअ करेज हे
माघ हे सखि पाला पड़ेला सब सखि रुइआ भराए हे
हमहूं अकेली धानी सून सेजरिआ पिआ बिनु जड़वो न जाए हे
फागुन हे सखि मस्त महीना सब सखि खेलई अबीर हे
ओहि देख-देख जिअरा जे तरसई कापर डारूं रंग हे
चइत हे सखि सब बन फूलई फूलले बेलि-गुलाब हे
सखि सब फूलई रामा पिआ के संग में हमरो फुलवा मलीन हे
बइसाख हे सखि पिआ नहिं आएल बिरहे कुहकइ मोर जीउ हे
दिन जे बीतइ रामा रोवत-रोवत कुहकत बीते सारि रात हे
जेठ हे सखि आएल बलमुआं, पूरल मनवां के आस हे
संउसे दिन रामा मंगल गैली, रात बितौली पिआ संग हे[12]

निष्कर्ष :

लोक स्वतंत्र, स्त्री-केंद्रित, सबल, वास्तविक और सर्वाधिक पुराना या नेटिव है. यही लोक गाँव है, गंवई है और बेईमानों की नजर में गंवार है. यह मेहनतकश अवाम की दुनिया है. यहां हरामखोरी नहीं चलती। हालांकि आज वहां भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है। बावजूद इसके, धरती-पुतों को शरण वहीं मिलता है। कोविड-19 महामारी इसका सबल प्रमाण है। आदिम जनतंत्र के सुराग वहीं मिलते हैं। वहां पोथियां और ग्रंथ नहीं चलते। वहां मानव की इच्छा, आकांक्षा, जिज्जीविषा, उद्दाम साहस, प्रेम, बर्बरता और बेबसी चलती है। एक ऐसा सातत्य, जिसे दुनिया की कोई भी हस्ती मिटा न सकी। तंत्र, सूत्र और दर्शन मिट गये, पर लोक अपनी निरंतरता में आज भी जीवित है और खरा है। लोक बनावटी नहीं है, बल्कि प्राकृतिक है। लोक किसी बेद को नहीं मानता – यही उसकी हस्ती का प्रमाण है। वह अनगढ़ है। कुल मिलाकर, जीवन लोक में ही है। इसीलिए वरेण्य है।

संदर्भ :

1. अर्याणी, *सम्पत्ति:* (1976), *मगही भाषा और साहित्य,* बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, पृ.सं. -151
2. https://hi.wikipedia.org/wiki/
3. उपाध्याय, भगवतशरण, (2006), *पाठ 'लोकगीत', 'वसंत - भाग 1'* एनसीईआरटी पाठ्यक्रम प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.सं -97
4. अर्याणी, सम्पत्ति, (1976), *मगही भाषा और साहित्य,* बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, पृ.सं. -152
5. वही, पृ.सं. -243
6. वही, पृ.सं. 241-42
7. वही, पृ.सं.- 242
8. यादव, रामकिशोर, (2018), *जनपदीय साहित्य,* के. एल. पचौरी प्रकाशन, गाजियाबाद, पृ.सं. -25-26
9. http://kavitakosh.org/kk
10. यादव, रामकिशोर: (2018), *जनपदीय साहित्य,* के. एल. पचौरी प्रकाशन, गाजियाबाद, पृ.सं. -26
11. अर्याणी, सम्पत्ति, (1976), *मगही भाषा और साहित्य,* बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, पृ.सं. -253
12. सिंह, राम प्रसाद, (1999), *मगही लोक गीत के वृहद संग्रह,* मगही अकादमी, पटना, पृ.सं. -379-80

डिजिटल अर्थव्यवस्था
(भारत के विशेष संदर्भ में)

डॉ. राजेश मौर्य
सहायक प्रोफेसर, अर्थशास्त्र विभाग
शासकीय नेहरू महाविद्यालय. सबलगढ़, मुरैना
प्रो. जे. पी. मित्तल
प्राचार्य
शासकीय नेहरू महाविद्यालय. सबलगढ, मुरैना

शोध-सारः
सामान्य शब्दों में डिजिटलीकरण वह प्रक्रिया है, जिसके अन्तर्गत एक इलैक्ट्रोनिक्स पद्धति के माध्यम से 0 से लेकर 1 तक की संख्याओं या सूचनाओं को भेजने का कार्य किया जाता है। यह एक सरल व आसान प्रक्रिया है, जो लोगों के कार्यो को तीव्रगति से कम से कम समय में पूर्ण करने की क्षमता रखती है। विश्व में इस प्रक्रिया को तब पहचाना गया था, जब सन 1995 में डॉन टेपसस्कॉट की प्रसिद्ध पुस्तक- द डिजिटल इकोनॉमी- प्रोमिस एण्ड पेरिल इन द ऐज ऑफ नेटवर्क इंटेलिजेस में इस शब्द को पढ़ा गया था। इसके बाद डिजिटल अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में एक क्रांति का उदभव हुआ और विश्व के अधिकाँश देशों ने इसे अपनाना प्रारंभ किया था। भारत के संदर्भ में इस अर्थव्यवस्था की शुरूआत सन 1990-91 के दशक में आर्थिक सुधार कार्यक्रम के परिणामस्वरूप हुयी थी, जिसके तहत सर्वप्रथम बैकिंग क्षेत्र में ए.टी.एम. (ATM) मशीनों के माध्यम से लोगों की नगद लेनदेन प्रक्रिया का शुभारंभ हुआ था। इस अवधारणा ने न केवल लोगों के व्यवहार व बातचीत की पद्धति में बदलाव उत्पन्न किया, बल्कि देश की अर्थव्यवस्था में तेजी से सूचना व संचार प्रौद्योगिकी से संबंधित उपकरणों के उपयोग में वृद्धि हुयी थी और समय के साथ-साथ भारतीय अर्थव्यवस्था नवीन उत्पादों, तकनीकी, डिजिटल उत्पादों व सेवाओं पर केन्द्रित हो गयी थी। आज भारतीय अर्थव्यवस्था ने डिजिटल क्षेत्र में इतनी अधिक प्रगति हासिल कर ली है कि विश्व के चीन तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के बाद तीसरी सबसे बड़ी डिजिटल अर्थव्यवस्था का दर्जा दिया जा रहा है। भारतीय अर्थव्यवस्था को डिजिटल अर्थव्यवस्था में परिवर्तित करने में न केवल निजी कंपंनियों व व्यवसायों का योगदान रहा है, बल्कि भारत सरकार ने भी अपना भरपूर सहयोग दिया है। वर्ष 2015 में आरंभ किया गया डिजिटल इंडिया कार्यक्रम इसका प्रमाण है, जिसके तहत हमने विश्व का सबसे बड़ा डिजिटल पहचान कार्यक्रम आयोजित करके देश के लगभग सभी नागरिकों को एक विशिष्ट पहचान प्रदान की है। डिजिटल पहचान कार्यक्रम के अन्तर्गत अब तक कुल 1.2 बिलियन से अधिक भारतीयों को जोड़ा जा चुका है, जबकि निजी क्षेत्र में रिलायंस तथा इन्टरनेट का सर्च इंजन गूगल (Google) है, जिन्होंने इन्टरनेट के क्षेत्र में एक प्रकार की क्रांति उत्पन्न कररके अधिक से अधिक लोगों को इन्टरनेट का उपयोग करने के लिये प्रेरित किया है। वर्ष 2018 के आँकड़े बताते है कि लगभग 560 मिलियन भारतीय लोगों ने इन्टरनेट का उपयोग किया था। इन सभी आँकड़ो के आधार पर कहा जा सकता है कि डिजिटल अर्थव्यवस्था में भारत का भविष्य अति उत्तम है और इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि आने वाले समय में भारतीय अर्थव्यवस्था डिजिटल रूप से विश्व की सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था होगी।

बीज शब्द :
मोबाईल फोन, इन्टरनेट, सोशल मीडिया के उपकरण, डिजिटल पहचान कार्यक्रम

अर्थव्यवस्था के ऐतिहासिक स्रोतों से यह पता चलता है कि सम्पूर्ण दुनिया में भिन्न-भिन्न प्रकार की अर्थव्यवस्थाएं जैसेः- समाजवादी, साम्यवादी, पूँजीवादी, मिश्रित आदि संचालित रही है, जिनका अध्ययन हमने अर्थशास्त्र जैसे विषय के अन्तर्गत किया है, लेकिन जैसे-जैसे मानव विकास या प्रगति के पथ पर अग्रसर होता गया, वैसे-वैसे नयी-नयी विचारधाराएं, सभ्यताएं तथा देशों की अर्थव्यवस्था के स्वरूप में परिवर्तन होता गया और इसी परिवर्तन के परिणामस्वरूप एक नयी अर्थव्यवस्था का प्रार्दुभाव हुआ, जिसे डिजिटल या वेब या मंच अर्थव्यवस्था के नाम से जाना जाता है।

21वीं सदी में संचालित डिजिटल अर्थव्यवस्था सूचना व संचार प्रौद्योगिकी पर आधारित है, जिसमें कम्प्यूटर एवं इंटरनेट के सहयोग से इस प्रकार की अर्थव्यवस्था का संचालन होता है। इन्टरनेट के सर्वाधिक इस्तेमाल के कारण ही इसे वर्ल्ड वाईब वेब या इन्टरनेट अर्थव्यवस्था भी कहा जाता है। यह एक ऐसी अर्थव्यवस्था है, जिसमें सभी प्रकार की व्यावसायिक, सामाजिक-आर्थिक एवं साँस्कृतिक गतिविधियों को शामिल किया गया है। आज कल जैसे-जैसे सम्पूर्ण विश्व की अर्थव्यवस्थाएं एकीकृत होकर वैश्विक अर्थव्यवस्था में परिवर्तित हो रही है, वैसे-वैसे आर्थिक एवं वाणिज्य लेनदेन और आधुनिक तकनीकी युक्त पेशेवर (लोगों) का व्यवहार या बातचीत का तरीका एक डिजिटल युक्त विश्वव्यापी नेटवर्क के रूप में हमारे सामने प्रकट हुआ है।

विश्व में पहली बार डिजिटल अर्थव्यवस्था को उस समय पहचाना गया था, जब सन 1995 में डॉन टेपस्कॉट की प्रसिद्ध पुस्तक - ''द डिजिटल इकॉनोमी- प्रोमिस एण्ड पेरिल इन द ऐज ऑफ नेटवर्क इंटेलिजेस'' में इस शब्द को पढ़ा गया था।[1] इसके बाद यह सम्पूर्ण विश्व में अपने-अपने देशों की आर्थिक विकास दर को शीर्ष पर पहुँचाने के लिये उपयोग किया जाने लगा था, क्योंकि वर्तमान में न केवल लोग बल्कि देश की अर्थव्यवस्थाऐं भी डिजिटलाइजेशन की प्रक्रिया पर पूर्ण रूप से निर्भर हो गयी है।

डिजिटलीकरण की प्रक्रिया को अपनाने के क्षेत्र में न केवल विकसित देश शामिल है, बल्कि कई विकासशील देशों ने भी स्वीकार किया है। इसी विकासशील देशों की श्रृंखला में हमारा देश भारत भी शामिल है, जिसने भारत के संदर्भ में डिजिटल अर्थव्यवस्था को सन 1990 के दशक से अपनाया था।2 तब से यह (देश) बदलती हुयी प्रौद्योगिकी के साथ-साथ अपने देश के आर्थिक विकास हेतु विभिन्न व्यावसायिक संगठनों एवं वाणिज्य क्षेत्रों में सतत रूप से उपयोग किये जा रहा है। हाल के वर्षो में इसमें (डिजिटल अर्थव्यवस्था) कुछ परिवर्तन हुये हैं अर्थात यह डिजिटल अर्थव्यवस्था की अवधारणा प्रौद्योगिकी, तकनीकी, नवीन उत्पादों एवं सेवाओं पर केन्द्रित हो गयी है और भारत ने भी इसे स्वीकार किया है तथा इस क्षेत्र में धीरे-धीरे प्रगति की ओर अग्रसर हो रहा है। आँकड़े बताते हैं कि किस प्रकार भारत डिजिटल अर्थव्यवस्था में तेजी से आगे बढ़ रहा है। वर्ष 2021 की चैथी तिमाई में 82.5 मिलियन भारतीय उपभोक्ता इन्टरनेट के क्षेत्र में अग्रणी है।[3] इससे यह स्पष्ट होता है कि सम्पूर्ण दुनिया में भारत डिजिटल अर्थव्यवस्था को अपनाने के क्षेत्र में सर्वाधिक अग्रणी है।

अध्ययन के उद्देश्यः- डिजिटल अर्थव्यवस्था (भारत के संदर्भ में) नामक शोध पत्र के लिये निम्नलिखित उद्देश्यों का चयन किया गया है।

1-डिजिटल अर्थव्यवस्था की अवधारणा को समझना।

2-भारत में डिजिटल अर्थव्यवस्था को समझना।

3-भारत में डिजिटल अर्थव्यवस्था के भविष्य को समझना।

अध्ययन की सामग्रीः- यह शोध पत्र पूर्णरूप से द्वितीयक समंको पर आधारित है। इसे पूर्ण करने के लिये मैने विभिन्न समाचार पत्रों, पत्र-पत्रिकाओं, शोध जर्नलों, पुस्तकों तथा इन्टरनेट पर उपलब्ध विभिन्न प्रकार की वेबसाइटों से सम्पर्क एकत्रित करके किया है।

उपलब्ध साहित्य का अध्ययनः- किसी भी विषय क्षेत्र में शोध कार्य आरंभ करने से पूर्व उपलब्ध साहित्य का अध्ययन करना अति महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह न केवल शोधकर्ता के शोध को आकार, निर्दशन प्रणाली का चयन, परिकल्पनाओं का निर्माण तथा साक्षात्कार अनुसूची का निर्माण करने में सहयोग प्रदान करता है, बल्कि उसे (शोधकर्ता) अपने शोध क्षेत्र में भटकने से भी राहत प्रदान करता है, इसीलिये उपलब्ध साहित्य का अध्ययन महत्वपूर्ण है।

मोइंक मैती और पार्थजीत कायल (2017) ने अपने लेख - ''डिजिटाइजेशनः- आर्थिक विकास तथा व्यापार पर उसका प्रभाव'' में उल्लेख किया है कि किसी भी देश में डिजिटाईजेशन की प्रक्रिया आई. टी (IT) तथा आई. टी. ई. एस (ITES) जैसे क्षेत्रों में व्यवसाय विकास की पद्धति को स्वचालित एवं संशोधित करती है, जिसका परिणाम यह हुआ है कि सम्पूर्ण उत्पादन एवं सेवा क्षेत्र में समग्र सुधार हुआ। इसी कारण भारत के सूक्ष्म, मध्यम व लघु उद्योगों तथा सेवा क्षेत्र में डिजिटलीकरण की प्रक्रिया से भविष्य में उच्च विकास की संभावनायें उत्पन्न हुयी है।''[4]

साईमा खान, डॉ. साईना और अफताब मोहसिना (2015) ने अपने लेख - ''डिजिटलाईजेशन और अर्थव्यवस्था पर प्रभाव'' में यह प्रस्तुत किया है कि पिछले कुछ वर्षों से डिजिटल रूपांतरण की दृष्टि से तेजी से सुधार हुआ है। यह रूपांतरण डिजिटल जानकारी को साझा एवं संसाधित करने तथा प्रबोधित करने हेतु बड़े पैमाने पर उपयोग करने से आरंभ हुआ है। इस प्रकार डिजिटलीकरण की प्रक्रिया सामाजिक परिवर्तन, रूपांतरण संरक्षण तथा पहुँच की एक व्यापक तकनीक है, जिसके द्वारा व्यावसायिक संगठनों की समस्त सम्पत्तियों को डिजिटल रूप से पुनः तैयार किया जाता है और उच्च गुणवत्ता वाली डिजिटल तकनीक को अपनाया जाता है।''[5]

डॉ. मानसी शुक्ला तथा शिल्पी बोस (2017) ने अपने डिजिटल अर्थव्यवस्था संबंधी लेख - ''अर्थव्यवस्था तथा विमुद्रीकरण पर डिजिटलाईजेशन का प्रभाव'' में उल्लेख किया है कि किसी भी वस्तु एवं सेवा के विक्रय के संबंध में डिजिटलीकरण का मतलब क्रेता एवं विक्रेता के बीच केवल आमने-सामने से ऑनलाईन कारोबार करने से संबंधित नहीं है, बल्कि यह (डिजिटलीकरण) व्यापार से संबंधित अनेक पक्षो या पहलुओं में परिवर्तन करने से भी

संबंधित है। डिजिटलीकरण व्यापार के क्षेत्र में नवाचारों को स्वीकार करते हुए लोगों (उद्योगपतियों, क्रेता, विक्रेता, निवेशक) के व्यवहारों एवं बातचीत करने के तरीकों को प्रभावित करता है और औद्योगिक तथा वाणिज्य गतिविधियों के विकास में तेजी से सुधार कर शीर्ष पर पहुँचाने का कार्य करता है।''[6]

उपरोक्त उपलब्ध साहित्य के अध्ययन से यह पता चलता है कि डिजिटलाईजेशन से संबंधित साहित्य में अर्थव्यवस्था, व्यापार व व्यवसाय को प्रभावित करने वाले विशेष पहलू और विशेष व्यक्तियों जैसे- क्रेता, विक्रेता तथा उद्योगपतियों के व्यवहार आदि पर जोर दिया गया है। भारत में डिजिटल अर्थव्यवस्था का भविष्य कैसा है \ आदि पर कोई भी ध्यान नहीं दिया है, इसलिये मैंने अपने शोध पत्र में इन कारकों पर दृष्टि डाली है।

डिजिटल अर्थव्यवस्था क्या हैः- सामान्य शब्दों में डिजिटल अर्थव्यवस्था वह है, जिसके अन्तर्गत किसी भी अर्थव्यवस्था के विभिन्न घटकों का संचालन नवीनतम तकनीक अर्थात सूचना व संचार प्रौद्योगिक से संबंधित उपकरणों (कम्प्यूटर, इन्टरनेट) के माध्यम से किया जाता है। यदि हम इसे यह कहें कि यह अर्थव्यवस्था इन्टरनेट या वेब प्रौद्योगिकी के आधार पर संचालित होती है, तो इसमें कोई आतिश्योक्ति नहीं होगी, क्योंकि सूचना व संचार प्रौद्योगिकी के ये सभी उपकरण इन्टरनेट के द्वारा ही संचालित होते हैं। यही कारण है कि डिजिटल अर्थव्यवस्था को वेब इकोनोमी या इंटरनेट इकोनोमी के नाम से भी जाना जाता है।

प्रारंभिक अवस्था में डिजिटल अर्थव्यवस्था को वेब या इंटरनेट अर्थव्यवस्था कहा जाता था, जो कि उचित नहीं है अर्थात अर्थव्यवस्था के संदर्भ में सटीक प्रतीत नहीं होती है। अर्थशास्त्रियों एवं पेशेवर लोगों (व्यापार विशेषज्ञ, निवेशक, उद्योगपति) का कहना है कि डिजिटल अर्थव्यवस्था इन्टरनेट अर्थव्यवस्था की तुलना में कही अधिक जटिल व उन्नत है, क्योंकि अर्थव्यवस्था में अनेक घटक या चरण (आय, रोजगार, उपभोग, उत्पादन, निवेश, व्यापार व व्यवसाय) है, जिन्हें एक साथ एक ही समय पर इन्टरनेट के माध्यम से संचालित करना संभव नहीं है, इसीलिये डिजिटल अर्थव्यवस्था जटिल है।

परिभाषाएँ-

विश्व के अनेक अर्थशास्त्रियों तथा सामाजिक-आर्थिक, दार्शनिकों ने डिजिटल अर्थव्यवस्था को इस प्रकार परिभाषित किया है।

मेरी के प्रात (Mery k. pratt) के अनुसार - ''आर्थिक दृष्टि से डिजिटल अर्थव्यवस्था वाणिज्यिक एवं आर्थिक गतिविधियों, वित्तीय संबंधी लेनदेनों और पेशेवरों के बीच बातचीत एवं व्यवहार का एक विश्वव्यापी नेटवर्क है, जिसका संचालन संचार व सूचना प्रौद्योगिकी द्वारा किया जाता है।''[7]

रमीजा बी (Ramija, B, 2018) के अनुसार - ''डिजिटल अर्थव्यवस्था एक ऐसी अर्थव्यवस्था है, जो पारम्परिक अर्थव्यवस्था से जुड़ी हुई है और डिजिटल कम्प्युटिंग प्रौद्योगिकी पर आधारित है, चूँकि इसके अन्तर्गत व्यापक पैमाने पर इन्टरनेट का उपयोग किया जाता है, इसीलिये इसे इन्टरनेट या वेब अर्थव्यवस्था कहा जाता है।''[8]

बेयरफुट बी (Barefoot, B, 2018) के अनुसार - ''जब से अर्थात 1990 के दशक से डिजिटल अर्थव्यवस्था का स्वरूप उभरकर आया, वैसे ही डिजिटल अर्थव्यवस्था की परिभाषा विकसित हुयी, जो प्रौद्योगिकी को तेजी से परिवर्तित स्थिति या प्रकृति, उद्यमों तथा उपभोक्ताओं द्वारा इसके उपयोग को दर्शाती है।''[9]

ब्रेयनजोल्फसन तथा कहीन (Brynjolfsson and Kahin, 2002) के अनुसार - ''डिजिटल अर्थव्यवस्था इन्टरनेट को अपनाने तथा इसके प्रारंभिक आर्थिक प्रभावों के बारे में सोच से संबंधित है।''[10]

डी. एस. ईवांस (D. S. Evans, 2003) ने अपनी डिजिटल अर्थव्यवस्था की परिभाषा के अन्तर्गत इसे प्लेटफ़ॉर्म अर्थव्यवस्था कहा है, उनके अनुसार - ''पारम्परिक बाजार अर्थव्यवस्था में विशिष्ट रूप से दो तरफा बाजारों की अनूठी आर्थिक घटनाओं के अध्ययन के रूप में इसे (डिजिटल अर्थव्यवस्था) परिभाषित करते हैं।''[11]

अंतरराष्ट्रीय वित्तीय संगठन ''विश्व बैंक' ने अपनी डिजिटल अर्थव्यवस्था संबंधी परिभाषा के अन्तर्गत विकासशील देशों द्वारा अपनायी जा रही डिजिटल अर्थव्यवस्था को शामिल करते हुए कहा है कि - ''आज जिस प्रकार से इन देशों में इसे स्वीकार किया जा रहा है, उसे ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि यहाँ या इन देशों में इन्टरनेट कनेक्टिविटी की बेहत्तर सुविधाओं के साथ-साथ उत्पादों तथा सेवाओं की श्रेणी में सुधार हुआ है और तेजी से इसका उपयोग बढ़ता जा रहा है।''[12]

एस ब्रेनन और क्रर्सि डी (S. Brennen and Kreiss. D 2014) उन्होंने अपनी डिजिटल अर्थव्यवस्था संबंधी परिभाषा के अन्तर्गत डिजिटल प्रौद्योगिकियों, तकनीक, उत्पाद व सेवाओं को ध्यान में रखते हुए कहा है कि - ''पिछले कुछ वर्षों में देशों की अर्थव्यवस्थों में सूचना व संचार प्रौद्योगिकी, डिजिटल सेवाओं (उत्पाद व सेवायें), तकनीकी व इससे संबंधित कौशल का जिस गति से प्रसार हुआ है, उसकी वजह से यह डिजिटलीकरण की प्रक्रिया में परिवर्तित हो गयी है। यही कारण है कि डिजिटल प्रौद्योगिकी, सेवाओं व उत्पादों के माध्यम से संचालित किये जा रहे विभिन्न उद्योगों व व्यवसायों के रूप में इसे परिभाषित किया जा रहा है।''[13]

डिजिटल अर्थव्यवस्था को पूर्ण रूप से समझने के लिये इसकी परिभाषाओं के साथ-साथ इसके उपकरण या घटकों को भी समझना महत्वपूर्ण है। इससे हमें यह पता चलेगा कि डिजिटल अर्थव्यवस्था के कौन-कौन से उपकरण है तथा यह कैसे काम करते हैं।

ii. डिजिटल अर्थव्यवस्था के उपकरण या कार्य प्रक्रियाः- इसके अन्तर्गत डिजिटल अर्थव्यवस्था के यंत्रों या कार्य प्रक्रिया के तहत इसे तीन भागों (घटकों) में विभाजित किया गया है।

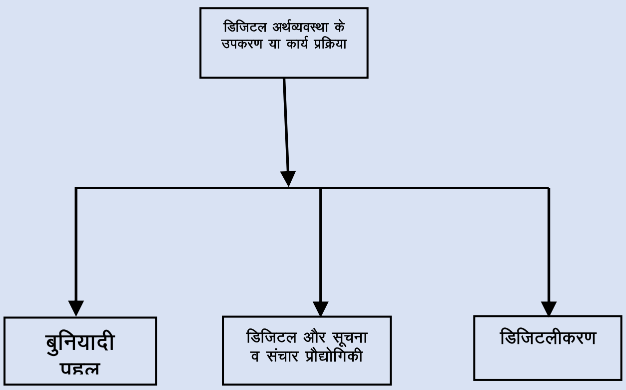

a) बुनियादी पहलूः- किसी भी क्षेत्र या विषय या उत्पाद के संबंध में बुनियादी पहलू का मतलब एक आधार या वह जिस पर खड़ा है या बना है, से होता है। यह उसी प्रकार से होता है, जिस तरह एक मकान उसकी नींव के खम्बों पर खड़ा होता है। इस दृष्टि से डिजिटल अर्थव्यवस्था को बुनियादी पहलुओं से भौतिक (नवाचार), दूरसंचार उपकरण, कम्प्यूटर और वह कमरा या कक्ष जहाँ पर इन सभी उपकरणों को रखा जायेगा इत्यादि शामिल है।

b)डिजिटल और सूचना व संचार प्रौद्योगिकीः- डिजिटल एक इलैक्ट्रोनिक्स पद्धति है, जो 0 से 1 तक की संख्याओं या सूचनाओं को एकत्रित कर प्रदर्शित करने का काम करती है, जबकि सूचना व संचार प्रौद्योगिकी अपने यंत्रों के माध्यम से संख्याओं तथा सूचनाओं को एक स्थान से दूसरे स्थान तक या एक आदमी से दूसरे आदमी तक संगठन तक संख्याओं व सूचनाओं को पहुँचाने का कार्य करती है, जिसमें दूरसंचार के उपकरण, इन्टरनेट कनेंक्टिविटी, मोबाइल आदि शामिल है। ये दोनों घटक नवोन्मेषी सेवाओं, उत्पादों व सेवाओं के माध्यम से डिजिटल अर्थव्यवस्था को प्रभावित कर संचालित करने का कार्य करते हैं। इस दृष्टि से यह डिजिटल अर्थव्यवस्था का एक अहम घटक है।

c) डिजिटलीकरण का क्षेत्रः- जब ये सभी उपकरण या घटक एक साथ मिलकर कार्य करते हैं, तो वह एक समूह बन जाता है। इसमें वे सभी क्षेत्र या घटक शामिल है, जहाँ देशों की अर्थव्यवस्थाओं में व्यापक स्तर पर डिजिटल उत्पादों, सेवाओं का तेजी से उपयोग किया जा रहा है। आज कल ये समूह इतना अधिक महत्वपूर्ण हो गया है कि नयी आर्थिक गतिविधियों या व्यावसाय के नये-नये मॉडल हमारे सामने दृष्टिगोचर हो रहे हैं, चाहे वह व्यावसायिक या औद्योगिक क्षेत्र हो या फिर अर्थव्यवस्था के मुख्य कारक जैसेः- मीडिया, वित्तीय क्षेत्र, वाणिज्यिक सेवाऐं, पर्यटन, परिवहन आदि। सभी में डिजिटलीकरण प्रक्रिया का इस्तेमाल किया जा रहा है।

d) वर्तमान में डिजिटल अर्थव्यवस्था की सीमा व प्रभाव को मापने के लिये इन घटकों का अनेक प्रकार से उपयोग किया जा रहा है और इस कार्य हेतु आई. टी. (IT) क्षेत्रों के उपयोग पर पर्याप्त मात्रा में ध्यान केन्द्रित किया जा रहा है। एक अंतरराष्ट्रीय आर्थिक संगठन (OECD, 2017) तथा पहला व्यापार एवं विकास का एक संयुक्त राष्ट्र संघ (UNCTAD, 2017) के अनुसार - ''डिजिटल अर्थव्यवस्थाओं में आई टी क्षेत्र के अन्तर्गत निवेश तथा डिजिटल अर्थव्यवस्था से संबंधित नीतियों एवं विकास से जुड़े मुद्दों का विशेष रूप से इस्तेमाल किया जा रहा है, ताकि रोजगार एवं आई टी के सक्षम क्षेत्रों का पर्याप्त विकास हो सके।''[14,-15]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि अर्थव्यवस्था में निवेश एवं विकास नीतियों को दिशा प्रदान करने तथा उपभोक्ताओं, श्रमिकों व फर्मो पर क्या प्रभाव पड़ रहा है, के संबंध में डिजिटलीकरण की प्रक्रिया अहम कारक है।

भारत में डिजिटल अर्थव्यवस्थाः- भारत में डिजिटल अर्थव्यवस्था की शुरूआत सन 1990-91 में भारतीय प्रधानमंत्री श्री पी. व्ही. नरसिंहराव सरकार द्वारा संचालित किया गया, आर्थिक सुधार कार्यक्रम (वैश्वीकरण, उदारीकरण, निजीकरण) से मानी जाती है। इसके तहत सर्वप्रथम आर्थिक क्षेत्र को ध्यान में रखते हुए बैंकिंग क्षेत्र ने अपने ग्राहकों की नगद लेनदेन प्रक्रिया को आसान बनाने के लिये ए.टी.एम. (ATM) जैसी मशीनों की प्रक्रिया शुभारंभ की थी। तब से भारत ने डिजिटल क्षेत्र में धीरे-धीरे विकास प्रक्रिया को जारी रखा और 2010 तक पहुँचने के बाद डिजिटल क्षेत्र में विस्फोट किया था, जो आज भी जारी है।

भारत ने अपनी डिजिटलीकरण की प्रक्रिया के तहत न केवल आर्थिक दृष्टि से वित्तीय या पूँजी (मुद्रा) क्षेत्र को शामिल किया है, बल्कि ई-कॉमर्स, ई-गर्वनेस, विनिर्माण, इलैक्ट्रोनिक्स क्षेत्र, उपभोक्ता बाजार व इन्टरनेट का सर्वाधिक उपयोग करने वाले लोगों को भी शामिल किया है। देश में दिन-प्रतिदिन लोगों (इन्टरनेट उपयोगकर्ताओं) की बढ़ती हुई संख्या इस बात की ओर इशारा करती है कि विश्व में यह देश सर्वाधिक इन्टरनेट उपयोगकर्ताओं के उच्चतम प्रतिशत वाले देशों में से एक बन गया है। भारतीय सूचना व संचार प्रौद्योगिकी मंत्री श्री रविशंकर प्रसाद ने कहा है कि - ''वर्तमान में भारत अपनी डिजिटल अर्थव्यवस्था के तहत प्रतिवर्ष 200 मिलियन डॉलर का आर्थिक मूल्य उत्पन्न करती है। वर्ष 2017-18 में इसका कुल मूल्य भारत के सकल

घरेलू उत्पाद का 8% था, जिसमें अन्य कार्यो के साथ-साथ व्यवसाय प्रक्रिया प्रबंधन भी शामिल था।"[16] वर्तमानकालीन सरकार द्वारा न्यू इंडिया मिशन के तहत भारत का शीर्ष बैंक भारतीय रिजर्व बैंक ने एक रिपोर्ट जारी की थी। जिसमें बैंक ने उल्लेख किया है कि - "भारतीय (लोग) प्रतिदिन लगभग 67 बिलियन डॉलर के करीब 100 मिलियन लेनदेन करते है, जो कि वर्ष 2016 की तुलना में लगभग 5 गुना अधिक है।"[17] इन आँकड़ो से यह साबित होता है कि किस प्रकार भारत सरकार तथा नागरिक डिजिटलीकरण की प्रक्रिया की ओर अग्रसर हो रहे हैं। यही कारण है कि लोगों की इस बढ़ती हुई प्रवृत्ति के कारण भारतीय वित्त मंत्री श्रीमती निर्मला सीतारमण ने वर्ष 2020 का पूरा बजट देश के डिजिटलाईजेशन की प्रक्रिया के लिये समर्पित कर दिया है। उनके अनुसार (निर्मला सीतारमण) - "डिजिटलीकरण की प्रक्रिया न केवल ऐसे लोगों, जिन्हें सरल, तेज व सुरक्षित लेनदेन करने का मौका मिलता है, के लिये आवश्यक है, बल्कि सम्पूर्ण वित्तीय प्रवाह की प्रक्रिया के लिये भी जरूरी है,"[18] ताकि तीव्रगति से लोगों के नगद लेनदेन संबंधी कार्य पूर्ण होने के साथ-साथ बैकों का पैसा बैकों में ही जमा रहे, क्योंकि इसी संचित पूँजी के सहयोग से ही सरकार अपने विकास कार्यो को गति प्रदान करती है और लोगों के लिये एक संरचनात्मक ढाँचा का निर्माण करने में सक्षम होती है।

ई-कॉमर्स (वाणिज्य), जिसे वस्तुओं तथा सेवाओं की खरीद के मामलें में डिजिटल अर्थव्यवस्था का एक अहम अंग माना जाता है, देश में काफी तीव्र गति से प्रगति के पथ पर अग्रसर हो रहा है। यह एक ऐसा अंश है, जिसे वस्तुओं व सेवाओं की बिक्री हेतु आदेश प्रदान करने के लिये कम्प्यूटर आधारित नेटवर्क का सहारा लिया जाता है, लेकिन इन वस्तुओं व सेवाओं और उनकी कीमतों का भुगतान ऑनलाईन नहीं किया जाता है। एक अंतरराष्ट्रीय आर्थिक संघ के अनुसार - "ई-कॉमर्स के अन्तर्गत वस्तुओं व सेवाओं का लेनदेन किसी एक व्यक्ति, घरों, उद्यमों, सरकारों और अन्य सभी निजी संगठनों के बीच हो सकता है।"[19] यह इन सेवाओं या वस्तुओं को ग्राहकों तक भेजने का कार्य ही नहीं करता बल्कि एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय तक उत्पाद व सेवाऐं बेचने का भी कार्य करता है। आज देश में इस क्षेत्र ने इतनी अधिक प्रगति अर्जित कर ली है कि देश में ई-कॉमर्स बाजार बढ़कर 35 अरब डॉलर तक पहुँच गया है।[20]

हालाँकि देश में डिजिटलीकरण की प्रक्रिया ने कोविड-19 महामारी की अवस्था में गति पकड़ी है। इस महामारी ने नवाचारों से लेकर व्यक्तियों के व्यवहारों में इस प्रकार का बदलाब उत्पन्न किया है कि अधिकांश लोग डिजिटल प्रक्रिया को अपना रहे हैं। केन्द्रीय आई टी एवं इलैक्ट्रोनिक्स राज्य मंत्री राजीव चंद्रशेखर जी का मानना है कि - "भले ही कोविड-19 महामारी ने मानव स्वास्थ्य को गंभीर रूप से प्रभावित किया हो, परन्तु इसके कारण देश के कुछ महत्वपूर्ण क्षेत्रों जैसे- इलैक्ट्रोनिक्स, विनिर्माण, इंजीनियरिंग, आदि में डिजिटल रूप से जो बदलाव उत्पन्न किये है, उसकी बजह से देश डिजिटल अर्थव्यवस्था की दृष्टि से अगले 5 वर्षों में 1 ट्रिलियन डालर तक पहुच सकती है।"[21]

भारत में जिस गति से डिजिटल अर्थव्यवस्था का प्रचार-प्रसार हो रहा है, उसके लिये भारत सरकार द्वारा वर्ष 2015 में से संचालित किया गया डिजिटल इंडिया कार्यक्रम की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही है, जिसके तहत ग्रामीण क्षेत्र तथा शहरी क्षेत्र के लोगों को एक साथ एक मंच पर लाने के लिये एक काल्पनिक हाइवे, जो कि इन्टरनेट के माध्यम से संचालित होगा, का निर्माण किया गया और व्यक्तियों से लेकर सरकारी कामकाज को ई-गर्वनेस की प्रक्रिया के माध्यम से करने की बात की गयी थी। इससे देश का प्रत्येक नागरिक घर बैठे इन्टरनेट के माध्यम से कोई भी सरकारी काम व उससे संबंधित सूचना आसानी से प्राप्त कर सकता है।

भारत उपभोक्ताओं की दृष्टि से डिजिटल क्षेत्र में विश्व के उक्त सभी देशों की तुलना में सबसे अग्रणी रहा है। वर्ष 2018 में कुल 560 मिलियन भारतीय लोगों ने इन्टरनेट का उपयोग किया था, जो कि चीन के बाद दूसरा सबसे बड़ा देश माना जा रहा है।[22] इसका कारण देश की बढ़ती हुई आबादी में डिजिटल क्षेत्र के प्रति बढ़ती हुई जागरूकता है, जिसमें सरकार का भी अहम योगदान (डिजिटल इंडिया कार्यक्रम) रहा है, क्योंकि इन्टरनेट की पहुँच को शहरी क्षेत्रों से ग्रामीण क्षेत्रों तक पहुँचाने में डिजिटल इंडिया कार्यक्रम की मुख्य भूमिका रही है। यही ऐसे कारण है कि वर्तमान अर्थात वर्ष 2021 में भी भारत दुनिया के अधिकांश देशों की तुलना में डिजिटल अर्थव्यवस्था की दृष्टि से सबसे आगे है। आँकड़े बताते हैं कि वर्ष 2021 की चौथी तिमाही में लगभग 82.5 मिलियन भारतीय उपभोक्ताओं ने इन्टरनेट का उपयोग किया है, जो कि वर्ष की शुरूआत में इसकी संख्या केवल 79.18 मिलियन थी अर्थात देश में यह अनुमानित वृद्धि 3.8% रही है।[23]

भारत न केवल इन्टरनेट के उपयोग में अग्रणी रहा है, बल्कि डिजिटल उत्पादों एवं सेवाओं के क्षेत्र में भी सबसे आगे है। एक वेबसाईट (इनवेस्ट इंडिया डॉट गर्वमेन्ट डॉट इन) के अनुसार - "भारत ने वर्ष 2020 में सम्पूर्ण दुनिया की तुलना में कुल 2018 बिलियन ऐप डाउनलोड किये थे, जो कि कुल वैश्विक उपयोग का लगभग 14% है।"[24] इससे यह स्पष्ट होता है कि भारत डिजिटल अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में सबसे आगे और सबसे अग्रणी डिजिटल बाजार के रूप में उभरकर आया है, जो दुनिया की विकसित अर्थव्यवस्थाओं की तुलना में सर्वाधिक है।

सोशल मीडिया, जिसे एक देश के सूचना तंत्र के क्षेत्र में अहम माना जाता है, ने भी डिजिटल अर्थव्यवस्था के

क्षेत्र में अपनी मुख्य भूमिका अदा की है। आँकड़ों से स्पष्ट होता है कि भारत का सोशल मीडिया क्षेत्र औसत रूप से डिजिटल मंच पर हर हफ्ते कुल 17 घण्टे बिताता है, जो कि संयुक्त राज्य अमेरिका तथा चीन जैसे देशों में संलग्न सोशल मीडिया से कही अधिक है।[25]

भारत को डिजिटल क्षेत्र में प्रवेश कराने में निजी संगठनों या व्यावसायिक उद्यमों के साथ-साथ सार्वजनिक (सरकारी) क्षेत्र की भी मुख्य भूमिका रही है। भारत सरकार ने देश के प्रत्येक नागरिक को उसकी पहचान दिलाने के लिये राष्ट्रीय बायोमैट्रिक डिजिटल पहचान कार्यक्रम आरंभ किया था, जिसके तहत कुल 1.2 बिलियन से अधिक भारतीय लोगों को एक डिजिटल पहचान प्रदान की है।[26] यह भारत सरकार का सबसे बड़ा डिजिटल आधार पहचान कार्यक्रम है, जिसमें 12 अंकों की संख्या दर्ज है, जो लोगों को उनकी आँखों की रोशनी, उंगलियों के निसान, तस्वीर, नाम, जन्म तिथि, उम्र, लिंग तथा पता आदि को दर्ज करने के बाद एक विशिष्ट आधार पहचान प्रदान करती है।[27] इसका सबसे बड़ा फायदा लोगों को वित्तीय क्षेत्र में मिला है, क्योंकि इस विशिष्ट आधार पहचान संख्या के माध्यम से लोगों के बैंक में स्थित खातों के साथ जोड़ दिया गया है। आधार कार्ड को लोगों के बैंक खातों से जोड़ने की पहल में वर्ष 2014 में 56 मिलियन, वर्ष 2017 में 399 मिलियन और वर्ष 2018 में कुल 870 मिलियन भारतीय लोगों को उनके बैंक खातों से जोड़ दिया गया है,[28] जबकि निजी क्षेत्रों में देश को डिजिटल अर्थव्यवस्था में पहचान दिलाने में रिलायंस कंपनी का सबसे बड़ा इन्टरनेट नेटवर्क, जिसका नाम ''जियो'' है, ने भारतीय लोगों को कुछ समय के लिये मुफ्त इन्टरनेट स्मार्टफोन सेवा प्रदान करके अपनी मुख्य भूमिका अदा की है और अधिक से अधिक लोगों को इन्टरनेट का उपयोग करने के लिये प्रेरित किया है। इसके अलावा इन्टरनेट क्षेत्र का सबसे बड़ा इन्टरनेट सर्च इंजन गूगल (Google) ने वर्ष 2020 में भारत में गूगल फॉर इंडिया डिजिटल जेशन फण्ड के लिये कुल 10 बिलियन डॉलर की धनराशि की घोषणा की है,[29] ताकि देश में तेजी से डिजिटल अर्थव्यवस्था का विकास हो सके और अधिक से अधिक लोग इन्टरनेट का उपयोग कर सके।

विश्व के 17 ऐसे विकसित देशों, जो डिजिटल या इन्टरनेट का उपयोग करने के क्षेत्र में अग्रणी है, का सर्वेक्षण किया गया, जिसका मूल्यांकन करने के बाद एक बात चौकाने वाली दृष्टिगोचर हुई और वह यह थी कि इन सब देशों की तुलना में भारत के नागरिक सबसे अधिक इन्टरनेट का उपयोग करते पाये गये थे। भारत में लोगों द्वारा जो सर्वाधिक संख्या में इन्टरनेट का उपयोग किया जा रहा है, उसके कारण है-इन्टरनेट कनैक्टिविटी की लागत, डिजिटल नींव की उचित व्यवस्था, मोबाईल उपकरणों की पर्याप्त संख्या तथा उसकी घटती लागत, इन्टरनेट की तीव्र गति एवं विश्वसनीयता डिजिटल खपत देश, ब्लागिंग एवं सूक्ष्म ब्लोगिंग, डिजिटल चैटिंग पर्याप्त मात्रा में डिजिटल ऐपों की डाउनलोडिंग करना आदि दृष्टिकोण से देश में लोगों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है, परन्तु यहाँ यह ध्यान देना अति-आवश्यक है कि भारत में यह वृद्धि (इन्टरनेट उपयोगकर्ताओं) एक देश अर्थात इण्डोनेशिया के बाद दर्ज हुई है अर्थात भारत इण्डोनेशिया के बाद दूसरा सबसे बड़ा देश है। वर्ष 2014 से 2017 तक इन्टरनेट उपयोगकर्ताओं की संख्या में जो 90% की वृद्धि हुई है, वह इण्डोनेशिया के बाद दूसरे स्थान पर दर्ज है।[30]

भारत में तेजी से जो इन्टरनेट उपयोगकर्ताओं की संख्या में वृद्धि हो रही है, उसे ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि भारत के अधिकांश लोग डिजिटलीकरण की प्रक्रिया को अपनाने के लिए तैयार है और इस प्रक्रिया में सरकार ने जो पहल की है, वह सराहना के पात्र है, लेकिन इन सब संभावना के बावजूद इस क्षेत्र में कुछ चुनौतियां भी है, जैसे- देश के संरचनात्मक ढाँचे में बिजली तथा पक्की सड़कों की व्यवस्था, हालाँकि आज काफी हद तक देश के कुछ ग्रामीण क्षेत्रों में पक्की सड़के उपलब्ध है तथा बिजली की भी व्यवस्था है, परन्तु फिर भी कुछ क्षेत्र है, यहाँ पर उक्त दोनों की उपलब्धतता नदारद है, इसीलिये संरचनात्मक ढाँचे में सुधार के बाद ही डिजिटल अर्थव्यवस्था में प्रगति की संभावना उत्पन्न होगी।

भविष्यः- भारत में डिजिटल अर्थव्यवस्था का भविष्य कैसा है ? क्या वह अच्छा होगा या फिर निम्न स्तर पर, आँकड़ो पर दृष्टि डालें तो यह साबित होता है कि देश में डिजिटल अर्थव्यवस्था का भविष्य अच्छा है और इसमें कोई शक नहीं है कि भविष्य में देश की अर्थव्यवस्था पूर्ण रूप से डिजिटल अर्थव्यवस्था में परिवर्तित हो जायेगी तथा इस दृष्टि से भारत विश्व का सबसे बड़ा अग्रणी देश होगा। आइये अब हम आँकड़ो के आधार पर तथा कुछ गैर-सरकारी संगठनों व हमारी सरकार के नेताओं के कथनों के आधार पर देश में डिजिटल अर्थव्यवस्था के भविष्य के बारे में समझने का प्रयास करेंगे।

हमारे देश के अर्थशास्त्रियों तथा नीति निर्माताओं का कहना है कि जब से सूचना व संचार प्रौद्योगिकी ने विश्व अर्थव्यवस्था में अपने पैर पसारने शुरू किये हैं, तब से भारत में भी अर्थव्यवस्था के स्वरूप में परिवर्तन आरंभ हो गया और भारतीय नीति-निर्माताओं ने डिजिटल अर्थव्यवस्था के सतत विकास हेतु वर्ष 2030 तक के लिये कुछ प्रमुख निहितार्थ भी निर्धारित कर दिये हैं, जो देश को डिजिटलीकरण की प्रक्रिया में आगे ले जाने के लिये महत्वपूर्ण सिद्ध होगे। भारत सरकार की आई.टी. मंत्रालय की एक रिपोर्ट के अनुसार - ''भारत ने डिजिटल क्राति में प्रवेश किया है, इसलिये वह (भारत) वर्ष 2025 तक 1 ट्रिलियन डालर की डिजिटल अर्थव्यवस्था बन जायेगा।''[31] मंत्रालय ने यह भी कहा है कि हम डिजिटल पारिस्थितिकी तंत्र के विकास हेतु मैकिन्से (एक डिजिटल अर्थव्यवस्था सलाहकार फर्म) के साथ साझेदारी कर रहे है तथा इसके विकास हेतु सतत रूप से सम्पर्क में है, परन्तु मैकिन्से का कहना है कि हम इस क्षेत्र में या 1 ट्रिलियन डॉलर की डिजिटल अर्थव्यवस्था तभी बन पायेगे, जब हम देश के कुछ क्षेत्रों जैसे - कृषि, शिक्षा, स्वास्थ्य ऊर्जा, वित्तीय सेवाओं, व्यापार, विनिर्माण तथा परिवहन आदि क्षेत्रों में डिजिटलीकरण की

प्रक्रियाओं को लागू करे, अभी हम कुछ क्षेत्रों में (सोशल मीडिया, व्यापार-व्यवसाय, उपभोक्ता बाजार) में ही इसका इस्तेमाल कर रहे हैं। भारतीय डिजिटल अर्थव्यवस्था के भविष्य के संकट में एक और डिजिटलीकरण सलाहकार फर्म रेडशीर (त्मकेममत) ने कहा है कि-''भारत वर्ष 2030 तक ऑनलाईन खुदरा बाजार की दृष्टि से तीसरा सबसे बड़ा ऑनलाईन बाजार होगा, जिसका वार्षिक सकल व्यापारिक मूल्य 350 बिलियन डॉलर का होगा।''[32]

इस प्रकार उक्त आँकड़ो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि डिजिटलीकरण की प्रक्रिया में भारत का भविष्य उच्च स्तर पर है और इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि हमारा देश सम्पूर्ण विश्व में डिजिटल अर्थव्यवस्था की दृष्टि से शीर्ष स्तर पर होगा।

निष्कर्षः- डिजिटल अर्थव्यवस्था, जिसे मानव के लिये अपने कार्यो हेतु (सामाजिक-आर्थिक) सबसे सरल व आसान, तीव्र गति से, समय की बचत आदि संदर्भ में देखा जाता है, आज के समय की एक महत्वपूर्ण अर्थव्यवस्था बन गयी है। पिछले 2 वर्षों में (कोविड-19) इस अर्थव्यवस्था ने भारतीयों से लेकर सरकार तक के लिये उल्लेखनीय योगदान दिया है और अधिक से अधिक भारतीय लोग भी डिजिटलीकरण प्रक्रिया का उपयोग कर रहे हैं। यही कारण है कि आज सम्पूर्ण विश्व में भारत का तीसरा स्थान है, यदि इसी प्रकार से यह अर्थव्यवस्था संचालित रही तो इसमें कोई शक नहीं है कि भविष्य में भारतीय अर्थव्यवस्था डिजिटलीकरण रूप से सबसे शीर्ष स्तर पर होगी।

संदर्भ :

1. Digital Economy:-Definition, Advantages, Disadvantages. (https://www.topper.com)
2. Sharma ,Radhika and Sharma ,Karishma (07 October 2021) "Harnessing India's Digital Economy :- Private Sector Championing the cause of Digitalization. (www.investindia.gov.in), 07 October 2021.
3. Ibid
4. Maiti, Moinak and Kayal, Parthajit (2017) Digitization :- Its Impact on Economic development and Trade. The Journal of AEFR.
5. Khan, Saima, Khan, Dr. Shazia and Aftab, Mohsina (2015) Digitization and its Impact on Economy. International Journal of Digital Library Services.
6. Shukla, Dr. Mansi and Bose, Ms. Shilpi (2017). Impact of Digitalization in Economy and the effects of Demonetization. ELK Asia Pacific Journal.
7. What is Digital Economy? Difination from Whatis.com_searchCIO. (https://searchcio.techtarget.com) By:- Mary K Partt
8. Ramija, B (2018) "Indian Digital Economy – Opportunities and Challenge, International Journal of Current Resarch, Vol. 10, Issue 10, pp. 77338-74344, October 2018.
9. Barefoot, K, Curtis D, Jolliff W, Nicholson JR and Omohundro R (2018) Defining and measuring the digital economy. Working paper. Bureau of Economic Analysis, United States Department of Commerce, Washington, DC. Available at: https://www.bea.gov/system/files/papers/wp2018-4.pdf
10. Brynjolfsson E and Kahin, B, eds(2002) Understanding the Digital economy massachusetts institute of Technology, Cambridge, MA.
11. D.S. Evans, "The antitrust economics of multi-sided platforms markets", Yale Journal on Regulation, Vol. 20, PP 325-382, 2003.
12. World bank (2016) World Development Report 2016: Digital Dividends. Washington, DC.
13. Brennen S and Kreiss D (2014) Digitalization and Digitazation. Culture Digitally, 8. Available at: https://culturedigitally.org/2014/09/digitalization-and-digitazation.
14. OECD (2017) OECD Digital Economy Outlook 2017. OECD Publishing, Paris.
15. UNCTAD (2017). information Economy Report 2017:- Digitalization, Trade and Development. (United Nations Publication, Sales No. Sales No. E. 17.11.D.8, New York and Geneva)
16. Digital economy a $ 1 trillion opportunity for India (https://www.thehindubusinessline.com) Feb. 20, 2019.
17. Indian Digital Economy in 2020, "Times of Malta" (www.timesof malta.com) 1 Feb. 2020.
18. Ibid
19. OECD (2011), OECD Guide to measuring the Information Society 2011, OECD Publishing, Paris, https://dx.doi.org/10.1787/9789264113541-en.
20. To see reference Number (16)
21. India can become $ 1 Trillion digital economy in 5 year:- Mosfor it, "The Economic Times" (News Paper) 07 October 2021.
22. Noshir, K, Madgavkar, A, Kshirsagar, A and Gupta, R (27 March 2019) Digital India:- Technology to transform a connected nation. (www.mckinsey.com) 27 March 2019.
23. Sharma, R and Sharma, K (07 October 2021) "Harnessing India's Digital Economy:- Private Sector Championing the cause of Digitalization (www.investindia.gov.in) 07 October 2021.
24. Ibid
25. We are social, Digital in 2018:- Southern Asia, January 2018.
26. Unique Identification Authority of India, April 2018.
27. About Aadhar, Unique Identification Authority of India, uidai.gov.in
28. UIDAI, Id insight.
29. To see the reference Number (23)
30. To see the reference Number (22)
31. To see the reference Number (16)
32. Neha Alawadhi (1 July 2021) India's Consumer digital economy to grow 10x to $ 800 bn by 2030:- Redseer. (www.business-standard.com) 1 July 2021

प्रेमचंदोत्तर हिन्दी कहानी में साम्प्रदायिक चेतना

सुचिस्मिता दास
सहायक शिक्षिका
बेनाचिटी भारतीय हिंदी हाई स्कूल, पश्चिम बंगाल

शोध सारांश:
राष्ट्रवाद को सामान्यतः देशभक्ति का पर्याय माना जाता है। परंतु यही राष्ट्रवाद जब उग्र रूप धारण कर लेता है, तो यह सांप्रदायिक वैमनस्य जैसी आपदा से हमें त्रस्त करता है। राजनीति की बुराइयाँ जब धर्म को प्रभावित करती हैं, तो इसका दुष्परिणाम समाज को झेलना पड़ता है। प्रेमचंदोत्तर हिंदी साहित्य, खासकर कहानी में इसी त्रासदी की चर्चा मिलती है। जहाँ, विभाजन जैसे भीषण परिणाम को दर्शाया गया है। साथ ही धार्मिक दंगे एवं आपसी मनमुटाव तथा हिंसा की वारदातों की भी चर्चा है। परंतु भारतवर्ष की जड़ें, जिसे सर्वधर्म सद्भाव के जल से सींचा गया है वह कभी सांप्रदायिक चेतना के आगे घुटने नहीं टेकेंगी। हम कभी आपसी प्रेम एवं सौहार्द को पूरी तरह भूल नहीं सकते। यही बात हमें कृष्णा सोबती, मोहन राकेश, कमलेश्वर, विष्णु प्रभाकर, राजी सेठ, नासिरा शर्मा, अमृतराय, अज्ञेय, महीप सिंह, बदिउज्जमाँ आदि की कहानियों में आश्वासन के रूप में नई राह दिखाती है। यहाँ हम मंटो एवं इस्मत चुगताई की मूल उर्दू कहानियों के हिंदी अनुवाद के प्रभाव को भी झुठला नहीं सकते, जो कि हिंदी साहित्य पर एवं समाज पर गहरी छाप छोड़ती है।

बीज शब्द :
राष्ट्रवाद, उग्र राष्ट्रवाद, सांप्रदायिक वैमनस्य, विभाजन, मानवीय संवेदना, साहित्य एवं सांप्रदायिक चेतना, आपसी, प्रेम सौहार्द, सम्मान, सहनशीलता

वर्तमान समाज में हम राट्रवाद के बढ़ते प्रभाव को देख सकते हैं। यह राजनीति के गलियारों से होकर आम जनता तक अपना प्रभाव विस्तार करता है। राष्ट्रवाद से सामान्य तौर पर देश, समाज या विश्व को कोई प्रत्यक्ष खतरे नहीं हैं। परन्तु यही राष्ट्रवाद जब उग्र रूप धारण कर लेता है तो उसका खामियाज़ा हर किसी को भरना पड़ता है। इसी उग्र राष्ट्रवाद से संबंधित एक सामाजिक कोढ़ है- साम्प्रदायिक वैमनस्य। साम्प्रदायिक भेद-भाव जब राष्ट्रीयता के साथ मिलकर विकराल रुप धारण कर लेता है तब उसके क्या परिणाम हो सकते हैं ये हम सभी भारत-पाकिस्तान विभाजन की त्रासदी के रुप में वर्षों से देख-सोच-समझ रहे हैं। देश-विभाजन के घाव इतने गहरे और पीड़ादायक हैं कि साम्प्रदायिकता के दुष्परिणाम देखने हेतु हमें और कहीं नहीं जाना पड़ेगा।

साहित्य सदा से समाज एवं मानवीय संवेदना से जुड़ा है अतः वह भी इस साम्प्रदायिकता के प्रभाव से अछूता नहीं है वहीं दूसरी ओर इस पीड़ा से बाहर आने के लिए आशा-आश्वासन तथा प्रेरणा देने का काम भी साहित्य ने बखूबी किया है। प्रेमचन्द के पश्चात् हिन्दी कहानी-जगत् में साम्प्रदायिक चेतना को लेकर लिखने वाले कई कथाकार हैं। प्रस्तुत आलेख में हम हिन्दी के कुछ चुनिंदा कथाकारों के माध्यम से साम्प्रदायिक चेतना के विविध पहलुओं पर चर्चा करेंगे।

साम्प्रदायिक चेतना को लेकर बुनी गयी कहानियों में कृष्णा सोबती की - 'मेरी माँ कहाँ', सिक्का बदल गया; मोहन राकेश की - 'मलबे का मालिक'; भीष्म साहनी की - 'अमृतसर आ गया है', विष्णु प्रभाकर की - 'मेरा वतन'; कमलेश्वर की - 'कितने पाकिस्तान'; राजी सेठ की 'किसका इतिहास'; नासिरा शर्मा की - 'सरहद के इस पार'; अमृत राय की 'व्यथा का सरगम'; अज्ञेय की 'शरणदाता' आदि उल्लेखनीय हैं। इसके अलावा - उपेन्द्रनाथ अश्क - 'चारा काटने की मशीन', द्रोणवीर कोहली - 'बेजबान', बदीउज्जमाँ - 'अंतिम इच्छा', श्रवण कुमार - 'मामूली लोग', मीरा सीकरी 'सच्चो सच', महीप सिंह - 'पानी और पुल', स्वंदेशी दीपक- 'रफूजी' आदि हैं।

जैसे कहानी एवं कहानीकार भी साम्प्रदायिक-चेतना को काफी संवेदनशील तरीके से व्यक्त करते हैं। इनके साथ हम उर्दू के लेखक सआदत हसन मंटो एवं इस्मत चुगताई को भी नहीं भूल सकते जो उर्दू के लेखक होते हुए भी अपनी अनुदित रचनाओं के माध्यम से हिन्दी पाठकों को प्रभावित करते हैं। साम्प्रदायिक कट्टरता एवं भेद-भाव समाज में विभाजन से काफी पूर्व भी वर्त्तमान था परन्तु विभाजन के ठीक पहले उग्र राष्ट्रवाद के झूठे आदर्शों ने इस आग को हवा दे दी। कृष्णा सोबती की कहानी मेरी माँ कहाँ में इसी राष्ट्रवाद की झलक मिलती है-

''वह तो अपने नए वतन की आजादी के लिए लड़ रहा था। वतन के आगे कोई सवाल नहीं, अपना कोई ख्याल नहीं ! ... यह सब किसके लिए ? वतन के लिए ? काम के लिए और.. ? और अपने लिए ! नहीं उसे अपने से इतनी मुहब्बत नहीं ! क्या लम्बी सड़क पर खड़े यूनस खाँ दूर-दूर गाँव में आग की लपटें देख रहा है ... वह देखकर घबराता थोड़े ही है घबराये क्यों आजादी बिना खून के नहीं मिलती, क्रान्ति बिना खून के नहीं आती, और, और इसी क्रान्ति से तो उसका नन्हा-सा-मुल्क पैदा हुआ है!''[1]

लेकिन इस आजादी के साथ जो तबाही आयी उससे किसी का भला न हुआ- ''सड़क के किनारे-किनारे मौत की गोदी में सिमटे हुए गाँव, लहलहाते खेतों के आस-पास लाशों के ढेर। कभी कभी दूर से आती हुई 'अल्ला-हो-अकबर' और हर-हर महादेव की आवाजें।''[2]

मोहन राकेश की कहानी 'मलबे का मालिक' में अब्दुल गनी जब साढ़े सात साल बाद लाहौर से अमृतसर अपना पुराना घर देखने आता है दो उसे निराशा ही हाथ लगती है- ''पूरे साढ़े सात साल के बाद लाहौर से अमृतसर आए थे। हाकी का मैच देखने का तो बहाना ही था, उन्हें ज्यादा चाव उन घरों बाजारों को फिर से देखने का था, जो साढ़े सात साल पहले उनके लिए पराए हो गये थे।''[3]

''मुसलमानों के एक-एक घर के साथ हिन्दुओं के भी चार-चार, छह-छह घर जलकर राख हो गए। अब साढ़े सात साल में उनमें कई इमारतें तो फिर से खड़ी हो गई थी, मगर जगह-जगह मलबे के ढेर अब भी मौजूद थे। नई इमारतों के बीच-बीच में मलबे के ढेर अजीब ही वातावरण प्रस्तुत करते थे।"[4]

गनी मियाँ को अपने घर के मलबे में बदल जाने का भी उतना दुःख नहीं हुआ जितना अपने ही मुहल्ले में छोटे बच्चों को प्यार न कर पाने का हुआ। जब वह एक बच्चे को प्यार से कुछ थमाने जा रहा था उसके साथ की बड़ी लड़की ने कहा- ''चुप कर, मेरा वीर! रोएगा तो तुझे मुसलमान पकड़ कर ले जाएगा।"[5]

यह सुनकर गनी मियाँ को बहुत दुःख हुआ कि अब वह अपने ही गली मुहल्ले के बच्चों को प्यार नहीं कर सकता।

विष्णु प्रभाकर की कहानी 'मेरा वतन' में विभाजन की त्रासदी भी है क्रोध भी है- ''अमृतसर में साढ़े तीन लाख मुसलमान रहते थे, पर आज एक भी नहीं हैं।"

'हाँ' उसने कहा, ''वहाँ आज एक भी मुसलमान नहीं है।" काफिरों ने सबको भगा दिया, पर हमने भी कसर नहीं छोड़ी। आज लाहौर में एक भी हिन्दू या सिक्ख नहीं है और कभी होगा भी नहीं।"[6]

पर इसके बावजूद भी अपने वतन, अपनी मिट्टी (अमृतसर) के प्रति मोह और प्रेम नहीं छूटता। एक तरफ जहाँ साम्प्रदायिक अलगाव और टकराव के विध्वंसक परिणाम हमारे सामने आते हैं वहीं इन्हीं कहानियों के जरिये साम्प्रदायिक सद्भाव, आपसी प्रेम एवं सहयोग की भावनाएँ भी सामने आती हैं- अज्ञेय की कहानी 'शरणदाता' में- ''हिन्दुस्तान पाकिस्तान की अनुमानित सीमा के पास के एक गाँव में कई सौ मुसलमानों ने सिक्खों के गाँव में शरण पायी।... दो ढाई-सौ आदमी किरपानें निकालकर उन्हें घेरे में लेकर स्टेशन पहुँचा आये। किसी को कोई क्षति नहीं पहुँची।...''[7]

'मलबे का मालिक' में अब्दुल गनी जब साढ़े सात साल बाद अपने घर को देखने आया तो उसे पता चला कि उसके बेटे, बहु और दोनों पोतियों को किसी ने मार डाला और घर को ढहा दिया। फिर भी उसके मन में कड़वाहट की जगह आशा ही है। जिस रक्खे पहलवान ने उसका घर उजाड़ा, उसी के पास अनजाने में जाकर गनी मियाँ कहते हैं- ''तुम लोग उसके पास थे, सब में भाई-भाई की सी मुहब्बत थी, अगर वह चाहता तो तुममें से किसी के घर में नहीं छिप सकता था ? ... रक्खे! डसे तेरा बहुत भरोसा था।"[8]

''जी हल्कान न कर, रक्खिया। जो होनी थी, सो हो गई। उसे कोई लौटा थोड़े ही सकता है।... मेरे लिए चिराग नहीं, तो तुम लोग तो हो।... मैंने तुमको देख लिया, तो चिराग को देख लिया। अल्लाह तुम लोगों को सेहतमंद रखे। जीते रहो और खुशियाँ देखो!''[9]

कुछ ऐसा ही विश्वास हमारे मन में जगता है जब 'मेरी माँ कहाँ' का यूनस खाँ एक काफिर बच्ची को बचाता है।

''यूनस खाँ के हाथों में बच्ची ... और उसकी हिंसक आँखें नहीं, उसकी आर्द्र आँखें देखती है दूर कोयटे में एक सर्द; बिल्कुल सर्द शाम में उसके हाथों में बारह साल की खूबसूरत बहिन नूरन का जिस्म...''[10]

''एक अपरिचित बच्ची के लिए क्यों घबराहट है उसे घ् वह लड़की मुसलमान नहीं हिन्दू है, हिन्दू है।"[11]

''काफिर... यूनस खाँ के कान झनझना रहे हैं, काफिर ... काफिर ... क्यों बचाया जाए इसे? काफिर?... कुछ नहीं ... मैं इसे अपने पास रखूँगा !'''[12]

मन में प्रेम और द्वेष की जंग में जीत मासूम प्यार की होती है।

कृष्णा सोबती की कहानी 'सिक्का बदल गया' में शाहजी और शाहनी दशकों से अपने इलाके में सर उठाकर जीते हैं। वे लोगों को पैसे उधार देते हैं और सुख-दुःख में उनका ध्यान भी रखते हैं। समय बदलता है अब काफी अरसे से शाहनी के सम्मान में कोई कभी नहीं आती। पर अब बँटवारे के साथ ही लोगों ने शाहनी को दूसरे मुल्क भेजने की बात तय कर ली। शेरा तो दोस्तों की बातों में आकर शाहनी को हटाकर हवेली की दौलत हड़पने की बात सोचने लगा था। पर शाहनी की शांत आवाज सुनकर- "शेरा शाहनी का स्वर पहचानता है। वह न पहचानेगा। अपनी माँ जैना के मरने के बाद वह शाहनी के पास ही पलकर बड़ा हुआ। उसने पास पड़ा गंडाशा शाटाले के ढेर के नीचे सरका दिया।"[13]

फिर "शाहनी उठ खड़ी हुई। किसी गहरी सोच में चलती हुई शाहनी के पीछे-पीछे मजबूत कदम उठाता शेरा चल रहा है। शंकित सा इधर-उधर देखता जा रहा है। अपने साथियों की बातें उसके कानों में गुंज रही हैं। पर क्या होगा शाहनी को मारकर?"[14]

गाँव से जाते समय शाहनी सोचती है- "कौन नहीं है आज वहाँ ? सारा गाँव है, जो उसके इशारे पर नाचता था कभी। उसकी असामियाँ हैं जिन्हें उसने अपने नाते-रिश्तों से कभी कम नहीं समझा। लेकिन नहीं, आज उसका कोई नहीं, आज वह अकेली है। यह भीड़ की भीड़, उनमें कुल्लूवाल के जाट। वह क्या सुबह ही न समझ गयी थी?"[15]

फिर भी उसके मन में किसी के लिए कड़वाहट नहीं। उसका प्रेम उसकी सहजता को देखते हुए गाँव वालों का दिल भी रो पड़ता है - "शाहनी ने उठती हुई हिचकी को रोककर रूँघे-रूंघे गले से कहा, रब्ब तहानू सलामत रक्खे बच्चा, खुशियाँ बरशे ...। वह छोटा-सा जनसमूह रो दिया। जरा भी दिल में मैल नहीं शाहनी के। और हम, हम शाहनी को नहीं रख सके।"[16]

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी कहानी में जहाँ साम्प्रदायिकता की जड़ों को टटोला है वहीं आपसी प्रेम एवं सौहार्द में इस समस्या का हल भी पाया है। हमारे देश में सर्वधर्मसद्भाव की जो प्राचीन परम्परा है वह इन तात्कालिक तूफान के झोंकों से मिट नहीं सकती।

परन्तु साम्प्रदायिक चेतना की बात केवल विभाजन तक ही सीमित नहीं है। वैमनस्य की यह आग रह रहकर भड़क उठती है। इसका एक कारण यह है कि साम्प्रदायिक विद्वेष का राजनीतिकरण किया जाता है। जिन्हें इससे लाभ लेना होता है, वे सदा लाभांवित रहते हैं- पीड़ित तो बेकसूर भोले-भाले लोग ही होते हैं। हानि उनकी भी होती है जो मार्ग भटक कर धर्मांध बनकर अपने ही घर में आग लगा देते हैं।

स्वदेशी दीपक की कहानी 'रफूजी' में विभाजन से लेकर 1984 के हिन्दु-सिक्ख दंगों की भी बात कही गयी है- "अंग्रेज जाते-जाते बँटवारा करा गये और विरासत में एक शब्द दे गये- रिफ्यूजी। जैसा कुछ वर्ष पहले हमारी महारानी मरी और विरासत में एक शब्द दे गयी-उग्रवादी।"[17]

"चौरासी में जब दिल्ली में दंगे हुए थे, तो इन्दर हिन्दुओं के खिलाफ सरेआम बोलता था न। तब भी हमने समझाया, लेकिन नहीं माना न। हिन्दुओं ने ही ईंट मारकर उसका सिर फोड़ दिया था।"[18]

प्रेमचंदोत्तर हिन्दी कहानियों के माध्यम से हम यह समझ पाते हैं कि एक दूसरे के प्रति सम्मान, सहनशीलता एवं संवेदना की भावना ही हमारे बीच सद्भाव बनाये रख सकती है। समय आ गया है कि साहित्य की इसी भावना को हम जीवन में उतारकर स्वस्थ साम्प्रदायिक चेतना का विकास करें।

संदर्भ :

1. सोबती, कृष्णा, http://gadyakosh.org/gk/ मेरी माँ कहाँ / retrieved on April 1st, 2017.
2. वही।
3. राकेश,मोहन, http:// gadyakosh.org/gk/मलबे माँ मालिक / retrieved on April 1st, 2017
4. वही।
5. वही।
6. http://hindisamay.com/kahani/Vibhajan_ki_kahaniya/mera20vatan.htm, retrieved on April2nd, 2017
7. http://hindisamay.com/kahani/Vibhajan_ki_kahaniya/mera20vatan.htm, retrieved on April2nd, 2017
8. राकेश, मोहन, http://gadyakosh.org/gk/ मलबे का मालिक/ retrieved on April 2nd, 2017.
9. वही।
10. सोबती, कृष्णा, http://gadyakosh.org/gk/ मेरी माँ कहाँ / retrieved on April 1st, 2017.
11. वही।
12. वही।
13. सोबती, कृष्णा, सिक्का बदल गया http://gadyakosh.org/gk retrieved on April 1st, 2017.
14. वही।
15. वही।
16. वही।
17. http://hindisamay.com/kahani/Vibhajan_ki_kahaniya/refugee.htm, retrieved on April 2nd, 2017.
18. वही।

राम कथा में स्त्री
विशेष सन्दर्भ: नरेन्द्र कोहली

घनश्याम राम
पीएच.डी. शोधार्थी, हिंदी विभाग
सिक्किम विश्वविद्यालय, गंगटोक

शोध सारांश:
रामकाव्य में राम का चरित्र सबसे प्रमुखता से उभरा है। राम यहाँ कभी मर्यादा पुरुषोत्तम, शील-गुण संपन्न, वीर और जागरण के अग्रदूत के रूप में उभरे हैं तो कहीं विष्णु-अवतार के रूप में परंतु राम की महानता के आगे अन्य पात्र गौण हो जाते हैं, मुख्यतः स्त्री पात्र। अतः अपनी कथा को समाज शास्त्रीय व्याख्या देने के लिए और समाज की नग्नता को समग्रता में उपस्थति करने के लिए नरेन्द्र कोहली जी ने वाल्मीकि रामायण को आधार स्वरुप ग्रहण किया है। राम कथा में वाल्मीकि से लेकर कोहली तक अगर कुछ नहीं बदला, तो वह है समाज और समाज में स्त्रियों का स्थान। वाल्मीकि का समाज भी स्त्रियों के प्रति उदार नहीं था और न ही संवेदनशील। स्त्रियाँ सदैव भोग की वास्तु ही समझी गई हैं। उनका स्वतंत्र अस्तित्त्व कभी स्वीकारा ही नहीं गया है। उन पर दोषारोपण किए गए, अत्याचार किए गए। सामाजिक नियम और बंधन का हवाला देकर उनका अनुचित लाभ उठाया गया। कभी बलात्कृता हुई तो कभी निष्कासित। 'अहल्या' बलात्कृता होती है और पाषाण बन जाती है। अज्ञात कुल-गोत्र में जन्मी सीता एक राजा के द्वारा पाली जाती है परन्तु उसके विवाह के लिए जनक द्वारा ऐसी शर्त रखना, सीता हरण, सबरी का घर घने वन में होना, बाली द्वारा रूमा का अपहरण और बलात्कार तथा मंदोदरी की स्थिति इत्यादि की समाज शास्त्रीय व्याख्या कोहली जी की कथा में देखने को मिलती है। यहाँ स्त्री के दोनों रूपों का चित्रण है- अबला और सबला परन्तु अबला भी समाज के नियमों के अनुसार अत्याचार स्वीकार नहीं करतीं बल्कि मौन विद्रोह व्यक्त करती हैं और यह जता देती है कि खोट इस समाज में ही है। दूसरी ओर स्त्री सशक्तिकरण और स्वतंत्रता के सूत्र भी सीता के द्वारा दिखाते हैं। कोहली जी ने रामकथा की स्त्रियों को आज की सामाजिक समस्याओं के रूप में देखा और अज के सन्दर्भ में उनका सटीक चित्रण किया।

बीज शब्द:
समाज शास्त्र, अस्तित्त्व, सनातन, पितृसत्तात्मक, वीर्य शुल्का, आदिवासी, महाकाव्यात्मक उपन्यास

राम कथा कोई नई कथा नहीं है और न ही यह पहली बार लिखी गई है। जितनी पुरानी सनातन संस्कृति है, राम भी उतने ही या उससे भी पुराने हैं। बहुत अधिक समय तक मौखिक अवस्था में रहने के कारण इसके रूप में स्थिरता नहीं रही। राम का उल्लेख वेदों में भी मिलता है परन्तु वह प्रचलित राम कथा के राम से भिन्न हैं। राम कथा का आधार विद्वानों द्वारा वाल्मीकि कृत रामायण को ही माना गया है। आज के समय सनातनियों के चित्त गंगा में स्नात राम गोस्वामी तुलसीदास के राम हैं, जो दशरथ नंदन, मर्यादा पुरुषोत्तम, अवतारी राम हैं जिन्होंने संसार के कल्याण के लिए अवतार लिया है जबकि परवर्ती रामायणों के आधारी वाल्मीकि के राम का चित्रण शील, धौर्य और असाधारण गुणों से संपन्न दिव्य महापुरुष के रूप में हुआ है। इसलिए तुलसी का 'रामायण' वाल्मीकि के 'रामायण' से इस प्रकार भिन्न है कि एक के राम महापुरुष हैं तो दूसरे के विष्णु के अवतार।

राम कथा का आधार लेकर आधुनिक कलेवर में लपेटकर उसे प्रस्तुत करने का कार्य नरेन्द्र कोहली ने किया है। इन्होंने अपने 'महाकाव्यात्मक उपन्यास' में पौराणिक एवं ऐतिहासिक चरित्रों की गुत्थियों को सुलझाते हुए उनके माध्यम से आधुनिक समाज की समस्याओं एवं उनके समाधान को समाज के समक्ष प्रस्तुत करना इनकी अन्यतम विशेषता है। कोहली जी लिखते हैं कि उनकी कथा का आधार तुलसीकृत रामायण नहीं वरन वाल्मीकि रामायण है।[1] कोहली जी अपनी कथा में राम को शील, गुण संपन्न योद्धा के रूप में दर्शाते हैं।

समय की मांग को परखते और चमत्कारों की वैज्ञानिक व्याख्या करते हुए इन्होंने जितना महत्त्व राम, हनुमान, लक्ष्मण और रावण को दिया है, उतना ही महत्त्व सीता, अहल्या, सबरी और मंदोदरी को भी दिया है। स्त्री अस्मिता, सुरक्षा और सशक्तिकरण इनकी कथा में सुलभ है। नरेन्द्र कोहली ने अपनी राम कथा पर आधारित उपन्यास का आधार तुलसी कृत रामचरितमानस को नहीं बनाया क्योंकि उनका मानना है कि तुलसी के समय और समाज में वह क्षमता नहीं थी जो हर बात को बेबाकीपन से कह दे, इसलिए उन्होंने वाल्मीकि रामायण का आधार लिया जिससे समाज की नग्नता को उसके नंगेपन के साथ उसकी समग्रता एवं कुरूपताओं के साथ चित्रित किया जा सके। अनादिकाल से स्त्रियों को दोयम दर्जे का समझा गया है। इस समाज में उसकी न तो अपनी पहचान बन पाई और न ही किसी ने उसके स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकारा। स्त्री सदा दूसरों के नाम से जानी जाती रहीं- कभी पिता, कभी पति और कभी पुत्र के नाम से- यथा- रतिनाथ की चाची, सुन्नर पाण्डेय की पतोहू[2] इत्यादि। स्त्री की पराधीनता का सबसे बड़ा कारण है आर्थिक रूप से पिछड़ा होना। पितृसत्तात्मक समाज में स्त्रियाँ बहुसंख्या में अर्थ के लिए पिता या पति पर निर्भर हैं। जब तक स्त्रियाँ आर्थिक रूप से स्वाबलंबी नहीं बन जातीं, तब तक समाज में उन्हें बराबरी का अधिकार नहीं मिल सकता। स्त्री पराधीनता से स्वाधीनता की यात्रा के सूत्र कोहली जी की कथा में मिलते हैं। कोहली जी की कथा में स्त्री जिस रूप में आई है, वह अन्यत्र कहीं नहीं है। इनके समस्त पात्र सदियों से अपनी लड़ाई लड़ते आ रहे हैं फिर भी आज तक उनकी स्थिति जस की तस बनी हुई है। स्त्रियों के पास जो चिंताएं पहले थीं, वे आज भी हैं। आज भी स्त्री पारिवारिक और सामाजिक स्समस्याओं से जूझ रही हैं। कोहली जी के यहाँ स्त्री पात्र दो रूपों में प्रकट हुई हैं- एक वह जो समाज का शोषण दर्शाती है तो दूसरी स्त्री स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त करती है। सीता जनक की पुत्री नहीं थी। वह वीर्य शुल्का थी।[3] इसलिए सीता को कोई अच्छा वर नहीं मिल रहा था जिसका कुल श्रेष्ठ हो अथवा को प्रेमवश सीता से विवाह करता। यह बात जनक भलीभांति जानते और समझते भी थे। कोहली के जनक को इस बात की चिंता अधिक थी कि सीता का विवाह किसी ऐसे पुरुष से न हो, जो उसे मात्र भोग्य बना कर रखे अथवा जिसके पास बीस-तीस रानियों की सेना हो। इसी समस्या के निराकरण के लिए जनक ने सीता स्वयंवर में शिवधनुष नामक यन्त्र के परिचालन की शर्त रखी जिससे भले ही सीता अविवाहित रह जाए परन्तु उसे किसी कुपात्र का वरण न करना पड़े। यही कारण है कि राम को देखने के पश्चात् सबसे अधिक आहत जनक ही हुए थे कि अपनी शर्त के कारण राम जैसे वर का वरण सीता न कर सकेगी।

रामकथा में कोहली जी ने समाज की एक गंभीर समस्या को 'अहल्या' के द्वारा उकेरा है। बलात्कार आज के समाज की भी एक गंभीर समस्या है जिसका समाधान वर्षों से नहीं हो पाया है परन्तु इससे भी जटिल समस्या है स्त्रियों के प्रति समाज का दृष्टिकोण। आज का यह प्रश्न है कि स्त्री की सुरक्षा का उत्तरदायित्व किसका है? इसका उत्तरदायित्व न तो स्त्री के कंधे पर है और न पुरुष के कंधे पर वरन यह समाज के कंधे पर है। इंद्र द्वारा बलात्कृता ऋषि गौतम की पत्नी अहल्या शिला हो गई परन्तु गौतम उसकी सहायता न कर पाने के लिए बाध्य हैं। जिस स्त्री के साथ बलात्कार हो और उसके बलात्कार का दोष उसी पर मढ़ दिया जाए, सत्य जानते हुए भी समाज और यहाँ तक कि उसका पति भी उसका परित्याग कर दे, ऐसे में स्त्री शिला नहीं होगी तो और क्या होगी ! अहल्या शिला नहीं 'शिलावत' हो गई थी क्योंकि वह समाज से दूर एकांत में उस पाप का पश्चाताप कर रही थी जिसका दोषी यह समाज है। "जिसे समाज ने त्याग दिया था, कोई उसके घर जाता नहीं था, उसके हाथ का पानी नहीं पीता था, जो जंगल में रहने को बाध्य है, उसके घर राम स्वयं जाकर उसके चरण छूते हैं और उसका सत्कार करते हैं। ये एक तरह से पूरे समाज को चुनौती है कि जिसको तुम दोषी मानते हो, उसका मैं चरण छूता हूँ।"[4] राम ने अहल्या को पाषाणयोनि से मुक्ति दिलाकर उसे समाज में पुनः वही सम्मान दिलाया जो एक स्त्री को मिलना चाहिए। राम अहल्या के दरवाजे पर राजा राम बनकर नहीं आए, वरन अगुआ बनकर आए थे जिन्होंने दलितों, पिछड़ों और शोषितों को सशक्त किया ताकि वे अपने अस्तित्व की लड़ाई स्वयं लड़ सके।

स्त्री होना एक चुनौती है और दलित होना तो अभिशाप। सबरी स्त्रियों के इसी स्वरुप में उभरी है। वह दलित स्त्री है निर्जन वन में रहती है, तथा कथित उच्च वर्णों के सभ्य नगरों से दूर। उसे समाज ने बाहर कर रखा है। ऐसी सबरी उस राम का राह देख रही है जो जागरण के अगुआ हैं। राम उसके दरवाजे पर जाते हैं और सबरी के जूठे बेर खाते हैं और यह सिद्ध करते हैं कि जाति व्यवस्था केवल प्रतारणा के लिए बनी है। जब तक सभ्य समाज स्वयं

को जाति-धर्म से ऊपर मानवता के धरातल पर स्थापित नहीं कर लेता तब तक इस समाज की मुक्ति संभव नहीं। राम जागरण के अग्रदूत रहे हैं। उन्होंने वन में जाकर उन समस्त लोगों को सशक्त करने का प्रयास किया, जिन्हें एक उचित मार्गदर्शन की आवश्यकता थी। उन्होंने वानरों (वन में रहने वाले नर/आदिवासी)[5] को शिक्षित किया, उन्हें आत्मगौरव प्रदान किया और उनके मध्य कुटीर उद्योग का विकास किया जिससे वे राक्षस रूपी इस धनाढ्य वर्ग से अपनी रक्षा कर सके। आदिवासी स्त्रियों को भी स्वनिर्भर बनाने के प्रयत्न किये गए जिससे वे पारिवारिक व् सामाजिक विषमताओं से ऊपर उठ सके और अपने आस्तित्व को पहचान और उसके लिए लड़ सके।

सीता का चित्रण करते हुए कोहली जी लिखते हैं कि वन में राम की सहचारिणी सीता अति सुन्दर है परन्तु कोमलांगी नहीं। वह राम के साथ शास्त्राभ्यास सीखती है और अन्य लोगों को भी सिखाती है। राम कहते हैं कि एक स्त्री को अपनी सुरक्षा के लिए स्वयं प्रयासरत रहना होगा और प्रत्येक अवसर पर अपने प्रक्रम द्वारा पुरुषों की सहायता करनी होगी। सीता समाज की उन दबी-कुचली स्त्रियों को प्रशिक्षित करती है, जिनका अपहरण किया गया, जो बलात्कृता हैं, जो अपने पतियों से पीड़ित हैं। सीता कुटीर उद्योग द्वारा उन्हें आत्मनिर्भर बनाती है क्योंकि सीता यह जानती है कि स्त्रियों का शोषण तब तक होगा, जब तक वे आत्मनिर्भर नहीं हो जातीं। इस प्रकार कोहली जी सामाजिक ढांचें के मूल को स्पर्श करते हैं। कोहली जी की सीता न केवल राम की सहचारिणी हैं बल्कि उनकी सहायिका भी है। युद्ध बेला में अपने ज्ञान और कौशल से सीता शल्यचिकित्सा के द्वारा सबका उपचार करती है और जरुरत पड़ने पर सबके साथ मिलकर शत्रुओं से लड़ती भी है।

समय और समाज में सदैव एक ऐसा वर्ग होता है जिसे स्त्री मात्र भोग्या के और कुछ सूझती ही नहीं जिसके प्रतिनिधि बाली और रावण हैं। जहाँ एक तरफ बाली ने अपने भाई सुग्रीव को राज्य से निष्कासित कर उसकी पत्नी रूमा को कैद कर उसे बलात्कृत करता है तो वहीं दूसरी तरफ रावण से सीता का अपहरण इसलिए किया क्योंकि वह अपार सुंदरी है और शूर्पणखा से सीता की रूप चर्चा सुन कर वह असक्त हो उसे अपने पास रखना चाहता था। राम कथा की ये दोनों घटनाएँ एक सी हैं और परिणाम भी एक से। राम ने प्रत्येक बार यह सिद्ध किया है कि स्त्री अपमान का मात्र एक ही दंड है। अपने तर्कों द्वारा वाल्मीकि,

समाज में सदैव एक ऐसा वर्ग होता है जिसे स्त्री मात्र भोग्या के और कुछ सूझती ही नहीं!

तुलसी और कोहली- तीनों ने ही स्त्री सम्मान को सर्वोपरि रखा। यह समय और समाज के लिए आज भी प्रासंगिक है कि ऐसे कृत्यों के लिए केवल मृत्युदंड ही एकमात्र उपाय है।

रावण द्वारा सीता-हरण के समय राम-राम पुकारने के साथ-साथ रावण से युद्ध कर बच निकलने की चेष्टा भी स्त्री सशक्तिकरण की ओर ध्यान आकर्षित करता है कि स्त्री को युद्धकला में भी पारंगत होना आवश्यक है जिससे वह स्वयं की रक्षा के साथ-साथ अपनों की भी रक्षा कर सके। लंका में मंदोदरी भी रावण की कामुकता से क्षुब्ध है और चिंतित भी कि रावण द्वारा सीता को ब्याह लेने पर उसकी दशा कैसी दयनीय होगी। स्त्री चाहे किसी प्रान्त की हो, सब की दशा एक सी ही है।

राम कथा में स्त्री की जिस छवि को वाल्मीकि ने उकेरा था, तुलसी ने उसे ममता, स्नेह और भीरुता के संग में रंग दिया। वाल्मीकि ने स्त्रियों की समस्या के साथ उनकी सामाजिक स्थिति, उनकी महत्ता, उनका सशक्तिकरण किया परन्तु तुलसी के राम के आगे सब छोटे पर पड़ गए। वाल्मीकि के समाज शास्त्रीय राम को पुनः लोकमानस में रमाने का कार्य नरेन्द्र कोहली ने किया, जिन्होंने स्त्री-पुरुष समता को महत्त्व दिया। सीता को राम के बराबर ला खड़ा किया। इनके यहाँ यदि राम शक्तिमान हैं तो सीता उनके कंधे से कन्धा मिला कर लड़ने वाली सहायिका और चिकित्सिका भी है। कोहली की सीता किसी भी रूप में राम से कम नहीं है जिससे 'सीता-राम' नाम चरितार्थ हुआ है।

सन्दर्भ :

1. https://www.aajtak.in/author/sushantjha#:~:text=
2. नागार्जुन, रतिनाथ की चाची, सुन्नर पाण्डेय की पतोहू,
3. कोहली, नरेन्द्र, राम-कथा- हिंदी पॉकेट बुक्स, एक पेंगुइन रैंडम हाउस कंपनी (1997 में प्रकाशित), पृष्ठ- 76
4. https://www.youtube.com/watch?v=eOYVEPrEv5A
5. https://www.youtube.com/watch?v=eOYVEPrEv5A

झारखंड की जनजातीय लोक कविता के प्रतिमान

प्रो. दिनेश्वर प्रसाद
भूतपूर्व विभागाध्यक्ष
हिंदी विभाग
रांची विश्वविद्यालय, रांची

शोध सारांश :
जनजातीय लोक कविता के प्रतिमान आलेख लोककविता की आधुनिक छंदोबद्ध कविता से भिन्नता एवं उसकी मूलभूत विशेषताओं को रेखांकित करता है| लोककविता के मूल स्वर को पहचान कर उसके सामाजिक, मनोवैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक पहलुओं को भी उद्‌घाटित करता है| लोककविता की विशेषताओं को रेखांकित करने के लिए विभिन्न प्रतिमानों- गीतबद्धता, काव्यानुभूति की सामूहिकता, सपाटबयानी-सरलता-आलंकारिता एवं आवृत्तिबद्धता के पहलुओं पर विचार करता हुआ यह आलेख कविता के मानदंडों को भी विश्लेषित करता एवं उन पर प्रश्न उठाता है ।

बीज शब्द : झारखण्ड, लोक कविता, लोकगीत, प्रतिमान

झारखंड अर्थात छोटानागपुर- संथालपरगना की जनजातीय भाषाओं की लोक कविता से मेरा अभिप्राय इनके लोकगीत से है। मैंने जानबूझकर, सप्रयोजन लोक गीत के बदले "लोक कविता" का प्रयोग इसलिए किया है कि इन भाषाओं में गीत इनकी काव्याभिव्यक्ति का सम्पूर्ण माध्यम है, यानी यही इनकी कविता है, जबकि गैर जनजातीय भाषाओं में गीत काव्याभिव्यक्ति का एक प्रकार भर है।

गैर जनजातीय भाषाओं की लिखित्त परम्परा की कविता पर शताब्दियों से कार्य होते रहे हैं। हमारे देश में संस्कृत के आचार्यों ने इसमें उपलब्ध काव्य को आधार बनाकर एक बड़े समुन्नत समीक्षा शास्त्र(काव्य शास्त्र) का विकास किया है। किन्तु, आज भी इस धारणा को व्यापक मान्यता नहीं मिल पाई है कि लिखित कविता की तरह लोक कविता भी महत्वपूर्ण और विचार योग्य कविता है। फ़लत: लोक कविता के प्रतिमानों और सिद्धातों की खोज उस रूप में नहीं की गई है जिस रूप में लिखित और शिष्ट कविता के प्रतिमानों और सिद्धांतों की। वस्तुस्थिति यह है कि अबतक मानव विज्ञान, जाति विज्ञान, समाज शास्त्र, इतिहास आदि समाज विज्ञानों के सीमान्त या पूरक उपयोग की दृष्टि से भी न केवल जनजातीय, बल्कि गैर जनजातीय लोक कविता का भी अध्ययन होता रहा है।लिखित या शिष्ट परम्परा में मान्य कविता के अर्थ में मौलिक या लोककविता के कविताशास्त्रीय अनुशीलन का कार्य बहुत कम किया गया है। यदि झारखंड ही नहीं, भारत की समस्त जनजातीय लोककविता के समालोचनात्मक अध्ययन पर विचार करें तो मेरी जानकारी में फ़ादर हाफ़मैन और एमेनो के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति ने इस विषय पर कोई बुनियादी महत्व का कार्य नहीं किया है।

फ़ादर हाफ़मैन(१८५७-१९२८) ने एशियाटिक सोसायटी आव बेंगाल की शोध पत्रिका में १९०७ ईसवी में "मुंडारी पोयेट्री, म्यूजिक एंड डांस" शीर्षक से एक निबंध माला प्रारम्भ की थी,जिसके प्रथम भाग " मुन्डारी पोयेट्री"(मुंडारी कविता) से सम्बन्धित सामग्री इसके पहले निबंध में मुद्रित है। यह निबंध लगभग साठ पृष्ठों का है। इस एक ही निबंध में उन्होंने मुंडारी लोककविता के विषय में जो कुछ लिखा है, वह आज भी अद्वितीय महत्व का है।यह मुण्डारी जनजातीय काव्य के निरूपण का पहला गम्भीर प्रयत्न है जिसकी बराबरी का कोई भी कार्य आज भी नहीं हुआ है। हाफ़मैन के मुण्डारी विश्वकोश(एनसाइक्लोपीडियामुण्डारिका)के चौथे खण्ड के "दुरंग" और तेरहवें खण्ड के "सुसुन' शीर्षक निबन्धों में भी इस विषय की कुछ नई सामग्री मिलती है। इस विश्वकोश में "पोईटिकवर्ड्स"(काव्यशब्द) अभिप्राय के अंतर्गत ऐसे सैकड़ों मुण्डारी शब्दों का उल्लेख और विवरण मिलता है, जिनका प्रयोग केवल गीतों में होता है, जो आज की मुण्डारी में प्रचलित नहीं हैं।फ़िर भी इतिहास और महत्व के विचार से एशियाटिक सोसायटी पत्रिका में प्रकाशित मुण्डारी कविता सम्बन्धी दीर्घ निबन्ध सर्वाधिक उल्लेख्य और विचारयोग्य है। इस निबन्ध में मुण्डारी की लोककविता के बुनियादी अभिलक्षणों का सुस्पष्ट निर्देश और आधार मिलता है।

यह कहना शायद गलत नहीं है कि आज तक इससे तुलनीय कोई कार्य किसी भी भारतीय जनजातीय लोक कविता के प्रसंग में नहीं हुआ है तथा इसकी उपयोगिता भारतीय कविता मात्र के अध्येताओं के लिए है। हॉफ़मैन प्रथम व्यक्ति हैं, जो मुण्डारी लोककविता की जाँच "आर्य" अर्थात ग्रीक - रोमन – गॉथिक काव्य की कसौटियों पर नहीं, बल्कि स्वयं इसमें मौजूद कसौटियों के आधार पर करने पर बल देते हैं।

भारत की जनजातीय लोक कविता के प्रतिमानों की खोज का दूसरा गम्भीर प्रयत्न एम. बी. एमेनो का है। १९५५-५६ ईसवी में कैलीफ़ोर्निया विश्वविद्यालय में दी गई उनकी व्याख्यानमाला "ओरल पोयेट्स ऑव साउथ इंडिया"- दी टोडाज(द्क्षिण भारत के मौखिक कवि- टोडा जनजाति) है। इसमें टोडा जनजाति की लोक कविता कि भाषिक संरचना का बड़ा उपयोगी विश्लेषण हुआ है। ऐमेनो- जो मानव वैज्ञानिक और वैदिक विद्वान हैं, इस लम्बे निबंध में जिस रूप में टोडा लोक कविता की भाषिक इकाइयों का विभाजन करने और उन्की आवृत्ति तथा बारम्बारता के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए वैदिक कविता की भाषिक इकाइयों की आवृत्ति तथा बारम्बारता से उनकी तुलना करते हैं, वह झारखण्ड की जनजातीय लोककविता के अभिलक्षण की समझ की दृष्टि से भी उपयोगी है।

हॉफ़मैन और ऐमेनो के सैद्धांतिक और व्यावहारिक कार्यों की उपयोगिता असंदिग्ध है, किन्तु झारखण्ड की जनजातीय लोककविता का स्वरूप निरूपण सभी जनजातीय भाषाओं में उपलब्ध लोक कविता सम्बन्धी सामग्री के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर ही सम्भव है। संयोग से भारत की बहुत- सी जनजातियों की तुलना में, यहाँ की जनजातियों के विषय में कहीं अधिक कार्य हुआ है, और पिछले छह – सात दशकों में मुण्डा, हो, खड़िया और कुड़ुख लोकगीतों के कई छोटे- बड़े संग्रह छपे हैं। हाल के वर्षों में इन पर अच्छा शोध कार्य हुआ है, जिनमें जानुम सिंह तोय, कैथराइन रानी होरो, और इग्नाशिया कुल्लू(टोप्पो) के क्रमशः हो, मुण्डारी और खड़िया लोकगीत – सम्बन्धी कार्यों का उल्लेख किया जा सकता है।

अभिप्राय यह कि आज यहाँ की जनजातीय लोककविता के तुलनात्मक अध्ययन की आधार सामग्री का अभाव नहीं है। फ़िर भी, इसमें संदेह नहीं कि उपर्युक्त सभी निबंध, संग्रह और शोधग्रन्थ हमारे विषय के विचार से आधार-सामग्री के ही काम आ सकते हैं। हमें एक बड़ी सीमा तक स्वतंत्र रूप में इसके निरुपण का प्रयत्न करना होगा, क्योंकि हमारा प्रयोजन झारखण्ड की लोककविता में सन्निहित आदर्शों या प्रतिमानों का निर्धारण करना ही नहीं, बल्कि उनके अन्त: सम्बंधों के निरूपण द्वारा एक ऐसा समीक्षात्मक मानचित्र भी बनाया है, जो शिष्ट या लिखित कविता के मानचित्र से इसकी भिन्नता और विशिष्टता की समझ पैदा करने में सहायक हो। मेरे विचार से यहाँ की जनजातीय लोककविता के बुनियादी प्रतिमान इस प्रकार हैं:

गीतबद्धता

यहाँ की जनजातीय कविता के कविता होने की प्रमुख कसौटी यह है कि वह गीत हो। केवल गेय होना इसकी कसौटी नहीं है, क्योंकि कोई भी ऐसी कविता जो छंदोबद्ध होती है, गेय होती है या हो सकती है। पिछली सदी तक विश्व भर की लिखित कविता सामान्यत: छंदोबद्ध कविता थी। यद्यपि वाल्ट व्हिट्मैन ने मुक्त छंद का प्रवर्तन पिछली सदी में ही किया था, किन्तु यह कविता की रचना-पद्धति का अंग वर्तमान सदी में ही बन सका है। मुक्त छंद की कविता या मात्र छंदोबद्ध कविता यहाँ की जनजातीय लोककविता नहीं हो सकती।

जैसा कि प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है, लिखित काव्य साहित्य में गीत उसकी विभिन्न रचना पद्धतियों में मात्र एक पद्धति है, सम्पूर्ण काव्य पद्धति नहीं। इसके विपरीत, यहाँ की जनजातीय लोककविता का प्रथम और अंतिम , अर्थात एकमात्र लक्ष्य गीत होना है। कारण यह कि यहाँ गीत पाठ या वाचन का विषय न होकर गायन का विषय है। यहाँ सामान्यतया ताल , नृत्य और गीत एक सम्मिलित इकाई हैं और गीत का सुर या ध्वनि-विधान माँदर या नगाड़े के बोलों तथा नृत्य की पारियों और लय का प्रभावइसके आकार पर पड़ता है- यह लिखित कविता की तुलना में इसके आकार को परिमित कर देता है। सामान्यत: इसका विस्तार चार से लेकर दस – बारह पंक्तियों का होता है, चौदह या सोलह पंक्तियों के गीतों की संख्या बहुत कम है। आकारगत लघुता के प्रतिमान के केवल दो ही अपवाद हैं-मुण्डारी का सोसोबोंगा और संताली का जाहेर गीत। जहाँ जाहेर गीत गेय है, वहाँ सोसोबोंगा का, जो एक लम्बा आनुष्ठानिक कथा काव्य है, सांगीतिक वाचन होता है।

विभिन्न मौसमी और अवसरोधित रागों में बद्ध होने के कारण मुण्डारी, संताली, कुड़ुख आदि लोकगीतों के अनेकानेक भेद हो जाते हैं, जैसे जदुर,मागे, जपि, करम, डमकच, बाहा, बूमर, रिंजा, भिनसार आदि। किन्तु यहाँ यह उल्लेख आवश्यक है कि कोई भी गीत किसी भी राग में गाया जा सकता है और उसका उपयोग किसी भी नृत्य के लिए किया जा सकता है,इसलिए यदि कोई गीत "जदुर गीत" कहा जाता है, तो इसका अर्थ यह नहीं कि इसकी राग से कोई विशेष अनुरूपता है , बल्कि यह प्राय: या वस्तुत: जदुर गीत के रूप में ही गाया जाता है।

काव्यानुभूति की सामूहिकता

यहाँ का जनजातीय लोक कवि अपनी रचनाओं में जिन अनुभूतियों की अभिव्यक्ति करता है वे अनुभूतियाँ उसके पूरे समूह या समाज की होती हैं। रचना में उसके व्यक्तित्व की पृथक पहचान सम्भव नहीं है। इसका कारण

यह नहीं है कि जनजातीय काव्य रचना मूलत: किसी व्यक्ति की रचना नहीं है, बल्कि जब यह रचनाकार के कंठ से लोक कंठ तक पहुँचती है तो उस पर से उसके हस्ताक्षर मिट जाते हैं- उसका रूप प्रभावित और परिवर्तित होने लगता है और वह बदल कर, संशोधित हो कर और जोड़ घटाकर योगफ़ल बनकर पूरे समूह की कृति हो जाती है। वस्तुत: जनजातीय लोक कवि जो कुछ कहता है, उसे सिर्फ़ वही कह सकता था- बात यह नहीं होती है, बल्कि वह जो कुछ कहता है और जिस प्रकार कहता है, वह उसके समाज का कोई भी दूसरा सम्वेदनशील व्यक्ति कह सकता था और उसी रूप में कह सकता था। उसका चित्त लोक चित्त होता है। वह अपनी रचनाओं के लिए अपने समाज के विभिन्न उत्सवों, त्योहारों , संस्कारों और जीवनयापन करने के कार्यों को विषय बनाता है। वह अपने समाज के सुख- दुख, हर्ष- विषाद, मूल्य- बोध और जीवन दर्शन को स्वर देता है। उसकी रचनाओं के माध्यम से उसके समाज के पूरे जीवन चक्र को जाना जा सकता है और यह जानकारी प्राप्त की जा सकती है कि विभिन्न विषयों के सम्बंध में वह क्या सोचता और अनुभव करता है। फ्रांज बोआज की एक उक्ति को थोडा बदल कर प्रस्तुत करें तो यह कहा जा सकता है कि जनजातीय कविता जनजाति की आत्मकथा होती है।

काव्यानुभूति की सामूहिकता से यहाँ की जनजातीय कविता की लयात्मकता का बड़ा घनिष्ठ सम्बंध है। क्रिस्टोफ़र कार्ड्वेल ने "भ्रान्ति और यथार्थ"(इल्यूजन एंड रियेलिटी) में आज की कविता में छंद के बढ़ते हुए अंत और मुक्तछंद की बढ़ती हुई लोकप्रियता पर विचार करते हुए कहा है कि यह हतोन्मुखी पूँजीवादी व्यवस्था में व्यक्ति और समाज के बढ़ते हुए सम्बंध विच्छेद का प्रतिफ़ल है। जिस समाज में व्यक्ति और समुदाय का सामंजस्य रहता है उस समाज की कविता छंदबद्ध होती है। अभिप्राय यह है कि जीवन की लय ही कविता की लय हुआ करती है। इस विचार- सूत्र को तार्किक परिणति तक ले जाकर विचार किया जाए, तो यह कहा जा सकता है कि जहाँ समाज और व्यक्ति के बीच अपेक्षाकृत पूर्ण सामंस्य होता है वहाँ कविता केवल गीत होती है और वहाँ सामंस्य घटने के बावजूद उनका संतुलन बना रहता है, वहाँ कविता कभी गीत होती है और कभी केवल छंद। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि यहाँ की जनजातीय लोक कविता की गीतबद्धता का अनुभूति की सामूहिकता से बड़ा प्रकृत सम्बंध है।

सपाटबयानी- सह- सरल आलंकारिता

यहाँ की लोक कविता पूरे समुदाय की है, यह न केवल सामूहिक या सामुदायिक अनुभूति की है,वरन पूरे समुदाय तक प्रेषित होने के प्रयोजन से रची गई है, इसलिये यह प्रत्यक्ष भावानिवेदन और सपाटबयानी की कविता है। भारतीय काव्यशास्त्र में किसी बात को सीधे-सीधे अनअलंकृत रूप में कहना "स्वभावोक्ति" कहा गया है। स्वभावोक्ति के प्रसंग में विभिन्न काव्य सम्प्रदायों की धारणा एक जैसी नहीं है। अलंकार शास्त्र में स्वभावोक्ति एक प्रकार का अलंकार है। अलंकार कथन की शैली या कहने का ढंग (वाग्विक) है। इसलिए स्वभावोक्ति, जो एक प्रकार की उक्ति या कथन है, अलंकार है। कविता में सबकुछ एक ही ढंग से नहीं कहा जाता। बहुत सी स्थितियों में बिना तुलना और विरोध के, बिना गोपन और अतिरंजना के, जो वस्तु जैसी है, उसे उसी रूप में निवेदित करने की आवश्यकता होती है। इसलिए स्वभावोक्ति को काव्योक्ति के दायरे में बहिष्कृत नहीं किया जा सकता। किंतु जैसा कि अलंकारशास्त्रियों के काव्यविवेचन से स्पष्ट है, यह काव्योक्ति का प्रधान रूप न होकर उसके अनेकानेक रूपों में से एक और वह भी गौण- रूप है। काव्यशास्त्र के वक्रोक्ति सम्प्रदाय ने तो इसे काव्य ही नहीं माना है। उसके अनुसार उक्ति के दो भेद हैं- स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति। कविता वक्रोक्ति है- उक्ति या कथन का वक्र (सामान्य से भिन्न) रूप है अत: स्वभावोक्ति काव्य नहीं हो सकती। किंतु आज हिंदी में जो कविता लिखी जा रही है, वह स्वभावोक्ति या सपाटबयानी को ही सबसे प्राभाविक और सच्ची कविता मान कर लिखी जा रही है। उसके अनुसार वक्रता और अलंकार कविता की बैसाखियाँ हैं। जो कवि इनका सहारा लिए बिना अपनी बात सीधे- सीधे कह सकता है, वही सच्चा और समर्थ कवि है। आज सपाटबयानी को न केवल हिंदी में, बल्कि अन्य भाषाओं में भी, काव्य लेखन के एक बड़े आदर्श के रूप में, महत्व दिया जा रहा है। किंतु प्रश्न है: जनजातीय कविता की तरह आज की लिखित परम्परा की कविता में समान रूप में सपाटबयानी को महत्व दिए जाने का कारण क्या है? मेरी समझ में जब कवि श्रोताओं या पाठकों के एक बड़े समुदाय से जुडना और उसे एक साथ सम्बोधित करना चाहता है, तब उसकी भाषा सीधी अभिव्यक्ति या सपाटबयानी की भाषा हो जाती है। उसकी स्थिति उस रचनाकार से भिन्न होती है, जिसका कवित्व प्रवीणों और पंडितों के आस्वाद के लिए होता है: "पंडित आर प्रवीनन को जोई चित्त हरै सो कवित्व कहावै।" यहाँ की जनजातीय लोककविता का श्रोता पंडित या प्रवीण न होकर उसका पूरा समाज है, इसलिए उसकी चिन्ता प्रत्यक्ष और तत्काल सम्प्रेषण की है। उसकी सपाटबयानी उसके सामाजिक और भाषिक दबावों की एकत्र और स्वाभाविक परिणति है।

सपाटबयानी के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं।

।१। संगकिय ल: ममति ना रे कोई
तेरे सिंगअ: मु:धि मुन्देरा ओखूबामि। (खड़िया)
(ओ मेरे ।मित्र। अगर तुमने मुझको पसंद किया तो अपनी उँगली की अँगूठी दे दो(उसका) कान का मुन्देरा बनवाऊँगी।)

।२। कोटा कुलीपिड़ि दुमङ तरिडो

जिगे लिटिबालिटिबा
रंगो डिगिरि नगड़ा सरिडो
कुड़ुम दोपोल दोपोला। (मुण्डारी)

(कोटा और कुलीपीड़ी में दुमंग बज रहा है
मेरा जी छटपटा रहा है
रंगो और डिगिरि में नगड़ा बज रहा है
मेरी छाती धक-धक कर रही है।)

किंतु यहाँ की जनजातीय कविता के प्रसंग में सपाटबयानी को मात्र तथ्यपरक और अभिधान्वक अभिव्यक्ति तक सीमित करना उचित नहीं होगा । यदि सपाटबयानी का अर्थ सीधी, सुनते ही समझ में आ जाने वाली अभिव्यक्ति है, तो इसमें सरल और अनायास ग्राह्य आलंकारिता भी सम्मिलित है। इसलिए यहाँ अभिमिश्रित या शुद्ध सपाटबयानी के उदाहरणों से कहीं अधिक संख्या उन उदाहरणों की है, जो सरल आलंकारिता, समानान्तरता और एक ही अर्थ को सम्प्रेषित करने वाली वैकल्पिक वाक्य- योजना का उपयोग करते हैं। यह बात कुछ उदाहरणों द्वारा स्पष्ट हो जाती है:

।१। राजा गोरोब दो
अलोरेम गोरोब
दिकू पलइ दो
अलोरेम पुलइन । (मुण्डारी)
राजा की तरह तुम गर्व न करो प्रिय।
दिकु की तरह तुम स्वांग न करो प्रिय।
।२। चेतन पुकुरी सलुक़ङ बाड़ा
लतर पुकुरि सलुक़ङ बाड़ा (हो)
ऊपर पोखर में कमल खिला है
नीचे पोखर में कमल खिला है

ये उदाहरण यह संकेत करते हैं कि जनजातीय कविता अपनी प्रत्यक्ष और अवरोधरहित सम्प्रेषणीयता के दायरे में भी पर्याप्त नमनीय और वैविध्यपूर्ण है , इसलिए इसकी एकरूपता या अतिसरलता की धारणा वस्तुस्थिति से भिन्न है।

आवृत्तिबहुलता

न केवल झारखंड की लोककविता, वरन लोक और मौखिक कविता मात्र की एक विशेषता आवृत्ति बहुलता है। यह बात प्राचीनकाल से लेकर आज तक की मौखिक कविता के आधार पर स्पष्ट की जा सकती है।

वैदिक कविता को "श्रुति" कहने की परम्परा ही यह बतलाती है कि यह कविता सुनकर याद करने और रखने की वस्तु थी। अत: इसमें पारम्परिक काव्य इकाइयों की बारम्बारता प्राप्त होती है। सुप्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक ब्लूमफ़ील्ड ने ऋग्वेदिक आवृत्तियाँ (ऋग्वेद रेपिटिशन्स) नामक पुस्तक के दो खण्डों में इस विषय की समस्त सामग्री प्रस्तुत की है और गणना के आधार पर यह बताया है कि ऋग्वेद की एक हजार ऋचाओं की कुल पंक्तियों का पाँचवा अर्थात बीस प्रतिशत भाग आवृत्तिमूलक इकाइयों का है। ब्लूम फ़ील्ड का ऋग्वेद सम्बन्धी यह निष्कर्ष अनुपात-भेद से समस्त मौखिक कविता पर लागू है। मॉरिस बोअरा की पुस्तक 'हिरोइक पोयेट्री" इसके एक मूल्यवान साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत की जा सकती है, जिसमें होमर के महाकाव्यों, प्राचीन रोमांस, दक्षिणी स्लाव, उजबेक आदि पुरातन और अधुनातन भाषाओं के लोककाव्यों के अध्ययन द्वारा इसे एक बड़े फ़लक पर सिद्ध किया गया है।

झारखंड की जनजातीय लोक कविता का कोई भी विश्लेषण उपर्युक्त स्थापना की पुष्टि कर सकता है।एक विशेष आख्यान तक ही और वह भी छोटे आकार की रचना के गाए जाते रहने और एक ही पंक्ति या पंक्तियों के, बारी- बारी से, गायक दल के सदस्यों द्वारा ध्वनि- प्रतिध्वनि रूप में बरते जाने के कारण आवृत्ति इसकी प्रकार्यात्मक और शिल्पगत अनिवार्यता हो जाती है। रचना की इकाइयों की आवृति उसकी भाव इकाइयों की भी आवृत्ति है, जो उसके गायकों और श्रोताओं, दोनों के मन में समान रूप से अर्थ और सम्वेदना का एक समग्र बिम्ब निर्मित करती है। यह कार्य उस कविता के लिए आवश्यक है, जो मुद्रित रूप में पढ़ने की वस्तु न हो, सिर्फ़ सुनकर और दुहराकर, ध्वनि, लय और अर्थ की समग्रता में ग्रहण करने की वस्तु है। इस प्रकार सम्प्रेषण की जिस प्रत्यक्षता का पहले उल्लेख किया गया है, आवृत्ति उसका ही स्वाभाविक अंग है।

काव्य इकाइयों की आवृत्ति का यहाँ कोई एक ही रूप नहीं है। प्रचलित गीतों में इसके दो सामान्य भेद मिलते हैं- अविकल आवृत्ति और शब्दान्तर (या समान्तर) आवृत्ति। काव्य इकाई की यथावत आवृत्ति अविकल आवृत्ति है और शब्द बदल कर की जाने वाली आवृत्ति, शब्दान्तर आवृत्ति। दोनों का अधिकतर गीतों में प्राय: एक साथ प्रयोग मिलता है- जैसे मुण्डारी और हो क्षेत्रों में समान रूप से लोकप्रिय इस गीत में-

ओते रेमा लिपि तिरमा रेमा
काजि तेगे लिपिञ अयुम मेंअ
ओते रेमा लिपि तिरमा रेमा।
नकणा तेगे लिपिञ अतेन मेंअ
कजि तेगे लिपिञ अतेन मेअ
गति लेका लिपिञ अयुम मेअ
बकणा तेगे लिपिञ अतेम मेअ
संगाइञ लेका लिपिञ अतेन मेअ॥

\- *हे लिपि! तुम धरती पर हो या आकाश में?*
मैं तुम्हारी बोली सुनता हूँ।
हे लिपि! तुम धरती पर हो या आकाश में?
मैं तुम्हारी वाणी पहचानता हूँ।
हे लिपि! मैं तुम्हारी बोली सुनता हूँ,
मित्र-जैसी(बोली) हे लिपि! सुनता हूँ।
हे लिपि ! मैं तुम्हारी वाणी सुनता हूँ,
साथी- जैसी (बोली) हे लिपि! सुनता हूँ।

जनजातीय लोक कविता के विश्लेषण के लिए हमें इन सभी प्रतिमानों को ध्यान में रखना होगा अन्यथा कोई भी विश्लेषण अपूर्ण और भ्रामक सिद्ध हो सकता ।

राजभाषा हिन्दी की दशा और दिशा

डॉ. सुनील कुमार पाण्डेय
सहायक प्रोफेसर, विधि संकाय
अटल बिहारी वाजपेयी हिन्दी विश्वविद्यालय, भोपाल
डॉ. चन्दन कुमार
सहायक प्रोफेसर, पाटलीपुत्र विश्वविद्यालय, पटना

शोध-सारांश :
हिंदी भारत की राजभाषा और संपर्क भाषा होने के साथ साथ अघोषित राष्ट्रभाषा भी है। हिंदी राजकाज के कार्यों को पूर्णतया निष्पादित करने में सक्षम है एवं साहित्यिक दृष्टी से भी यह समृद्ध है। इस भाषा का साहित्य भंडार भी समृद्ध है। हिंदी में ज्ञान विज्ञान तथा प्रशासन संबंधी पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण इतनी प्रचुर मात्रा में हो चुका है कि वह सब प्रकार से राजकाज चलाने में सक्षम है। यह भाषा इतना सक्षम होने के बावजूद भी आज राजकाज में जिस हिसाब में कार्य होना चाहिए था वैसा नहीं हो रहा है। परम्परागत ढंग से हम प्रतिवर्ष हिन्दी दिवस अवश्य मानते हैं और भारतीय गणराज्य की राजभाषा का उच्च दर्जा दिलाने का रोना भी रोते हैं, इन सबके बावजूद हिन्दी अपने ही देश में अपने वास्तविक अधिकार को प्राप्त नहीं कर पा रही है।

बीज शब्द:
राजभाषा, राष्ट्रीय एकता, सिलसिला, नीति-निर्माता, केन्द्र शासित, हिन्दी परिषद, हिन्दी अनुवाद ब्यूरों, मातृभाषा, उच्च न्यायालय, न्यायमूर्ति, प्रशासनिक सेवा, पाश्चात्य संस्कृति

भाषा किसी भी राष्ट्र की प्रगति का प्रतीक एक सामाजिक क्रिया है जो कि विचार अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम है, भाषा को अर्थमय जगत का अभिव्यंजक समझना सर्वथा उचित होगा, जब भाषा का प्रयोग अतिव्यापक और विस्तृत रूप से सारे राष्ट्र में होता है तो उसे राष्ट्रभाषा की संज्ञा दी जाती है, उसी का प्रयोग जब सरकारी कामों में होता है तो उसे राजभाषा कहते हैं।

एक स्वतंत्र राष्ट के रूप में भारत के अवतरण के पीछे जो ऐतिहासिक प्रयोजन है उसकी निष्पत्ति तभी हो पाएगी जब भारत में शिक्षा-दीक्षा एवं राजकाज भारतीय भाषाओं में किया जाए स्वतंत्रता आंदोलन के दिनों, सरदार वल्लभ भाई पटेल की अध्यक्षता में सम्पन्न करायी कांग्रेस सम्मेलन 1931 में, भाषावार प्रांतों के गठन के सिद्धांत को इसी दृष्टि से स्वीकार किया गया था कि प्रांतों की भाषा में वहां शिक्षा-दीक्षा एवं राजकाज हो एवं हिन्दी भारत की सम्पर्क भाषा का स्थान ले और वह भारत सरकार की भाषा में वहाँ शिक्षा-दीक्षा एवं राजकाज हो एवं हिन्दी भारत की सम्पर्क भाषा का स्थान ले और वह भारत सरकार की भाषा बने, स्वतंत्रता के पश्चात् 1956 में राज्यों का पुनर्गठन भी इसी दृष्टि से किया गया था, इसी के तहत हमारे राष्ट्र निर्माताओं के सहयोग से हमारे संविधान के अनुच्छेद 343 की व्यवस्था के अनुसार 26 जनवरी 1950 से देवनागरी लिपि में हमारे देश भारतवर्ष में सर्वाधिक बोली जाने वाली हिन्दी संघ की राजभाषा बन चुकी है, 14 सितम्बर को संविधान सभा के द्वारा हिन्दी को राजकाज की भाषा बनाने का निर्णय लिया गया, तथा 14 सितम्बर से 20 सितम्बर को हम हिन्दी सप्ताह के रूप में प्रतिवर्ष मनाते आ रहे है, इस अवसर पर हम सभी सरकारी काम काज हिन्दी में ही करने का संकल्प लेते हैं, वास्तव में यह संकल्प राष्ट्रीय एकता और अखण्डता का संकल्प है। यद्यपि विगत पांच दशकों में राजभाषा हिन्दी की दशा पर दृष्टिपात करें तो उपर्युक्त संकल्प खोखला प्रतीत होता है जो इस प्रकार हैः-

हिन्दी की दशा

हिन्दी को राजभाषा और राष्ट्रभाषा बनाने की तमाम सरकारी कवायद आधी सदी पार कर चुकी है, लेकिन सालाना स्यापा और संकल्प की रस्मो-रवायत से आगे वह कितना आगे बढ़ी है, यह प्रश्न आज भी हिन्दी दिवस के गर्भ में करवटें ले रहा है, समय-समय पर होने वाले सर्वेक्षणों के आंकड़े बार-बार हिन्दी के विकास को बढ़ा-चढ़ाकर प्रचारित करते है, पर आंकड़ो की भ्रामकता से हटकर थोड़ा व्यावहारिक सोच विचार करें तो जाहिर है कि वृद्धि और विकास का स्वातंत्र्योत्तरकाल हिन्दी के ललाट-पटल पर राजयोग के बदले मरणयोग अंकित कराने में सबसे ज्यादा जिम्मेवार रहा है, खासकर पिछले 25 वर्षों में सांस्कृतिक प्रभुत्ववाद की साजिश के तहत जिस तेजी से देख मानस का अंग्रेजीकरण हुआ है, वैसा पूंजीभूत प्रयास आजादी के बाद के दो दशकों में नजर नहीं आता, यह कितनी बड़ी बिडंबना है कि आज हिन्दी व्याकरणविहीन हो गई है, बहु राष्ट्रीय कम्पनियों के प्रचार की भाषा में सिमटकर अपना चेहरा ही नहीं, अस्तित्व तक खोने को तैयार है। हिन्दी भारत की राजभाषा है, पर उसकी सुधि बस हिन्दी सप्ताह या पखवारे के दौरान ही ली जाती है फिर उसे पिछवाड़े बांधकर बिसार दिया जाता है, हिन्दी के नाम पर खानापूरी और रस्म-अदाई का सिलसिला चलता है और हिन्दी की दशा दिन प्रतिदिन खराब होती जा रही है, अब हालत यह है कि हिन्दी अपने ही घर में दोयमदर्जे की भाषा हो गई है, वैतरणी बनती जा रही हिन्दी की गंगी के उद्धार के लिए अनेक भागीरथों की आवश्यकता है, न जाने कब होगा उनका अवतार।

हिन्दी को संवैधानिक दृष्टि से राजभाषा बने हुए पांच दशक पूरे होने वाले हैं, परन्तु वास्तविकता यह है कि हिन्दी के प्रति सरकार एवं प्रशासन के लगातार भेदभाव एवं उपेक्षापूर्ण व्यवहार के कारण अब भी वह अपने अपेक्षित एवं संवैधानिक स्थान से वंचित है परम्परागत ढंग से हम प्रतिवर्ष हिन्दी दिवस अवश्य मानते हैं और भारतीय गणराज्य की राजभाषा का उच्च दर्जा दिलाने का रोना भी रोते हैं, इन सबके बावजूद हिन्दी अपने ही देश में अपने वास्तविक अधिकार को प्राप्त नहीं कर पा रही है।

यह विडम्बना ही है कि हिन्दी को राजभाषा घोषित करने के बावजूद राजभाषा अधिनियम में इस बात का उल्लेख किया गया है कि उच्चतम न्यायालय की भाषा अंग्रेजी ही रहेगी और हमारा संविधान भी अंग्रेजी में ही बनाया गया, स्वाधीनता संग्राम के समय यह आम सहमति बनी थी कि स्वाधीन भारत की राजभाषा हिन्दी होगी और जनसाधारण को विश्वास था कि स्वाधीन भारत में सभी नेता इसको प्रतिबद्धता के साथ अपनाएंगे, स्वतंत्र भारत की बागडोर ब्रिटिश शासकों ने उन लोगों को थमाई, जो मात्र अंग्रेजी शासन के विरोधी थे, किन्तु अंग्रेजी और अंग्रेजियत के प्रबल पक्षधर थे, इस प्रकार स्वतंत्र भारत के आरम्भ में ही नीति-निर्माता और प्रशासक अंग्रेजी भाषा के प्रबल पक्षधर बन गए तथा आम जनता वैसे ही शासकों का अनुगमन करती चली आ रही है।

हिन्दी के विकास हेतु सात प्रदेश विद्यमान हैं, इनमें बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, हरियाणा, राजस्थान, हिमाचल प्रदेश तथा केन्द्र शासित दिल्ली सम्मिलित हैं, इन सात प्रदेशों के अतिरिक्त सबसे अधिक दायित्व केन्द्र सरकार का है जिसने गृह मंत्रालय के अन्तर्गत राजभाषा विभाग, संसदीय राजभाषा समिति, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, केन्द्रीय सचिवालय हिन्दी परिषद, हिन्दी अनुवाद ब्यूरों तथा पांच हिन्दी प्रदेशों में हिन्दी ग्रन्थ अकादमियां इत्यादि अनेक संस्थाएं हिन्दी के विकास हेतु चला रखी है, प्रथम दृष्टि में देखने से तो यही लगता है कि इतनी संस्थाएं जिस भाषा के विकास हेतु कार्यरत हो वह भाषा तो हिन्दुस्तान की सर्वश्रेष्ठ भाषा स्वयमेव होगी, किन्तु यथार्थ में स्थिति इसके बिल्कुल विपरीत है।

आज के युवाजन भी अधकचरी अंग्रेजी की अभीप्सा में हिन्दी से कटते और दूर छिटकते जा रहे हैं, अब वे न तो ठीक से हिन्दी बोलते हैं और न ही अंग्रेजी, दरअसल अपनी भाषा में बोलने के अधिकार से बच्चे को वंचित करते जाने की यह अनिवार्य परिणति है, गांधी, टैगोर हो या अन्य शिक्षा शास्त्री व मनोविज्ञानी, सबकी यह मान्यता रही है कि मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम न बनाना छात्र में आत्मविश्वास को कम करना और उसमें हीनताग्रंथि को जन्म देना है, विशेषकर प्रारम्भिक कक्षाओं में मातृभाषा के स्थान पर अंग्रेजी योजना उनके स्वाभाविक विकास को रोकना है, पर दुःख का विषय है कि हिन्दी जो कोई क्षेत्र विशेष की नहीं अपितु जन-जन की भाषा है, का विरोध आधुनिक जीवन की एकमात्र शर्त रह गई है।

संशोंधित भाषा अधिनियम को पारित हुए तीन दशक से अधिक हो गए हैं, पर संघ लोक सेवा आयोग अभी तक अपने अजगरी आसन से डोलने को तैयार नही है, सरकारी परीक्षाओं में अंग्रेजी की अनिवार्यता पूर्ववत कायम है और अंग्रेजी नहीं जानने वाले या कम जानने वाले लोगों के लिए भर्ती और पदोन्नति के मार्ग कंटकाकीर्ण है, उत्तर प्रदेश के उच्च न्यायालय में पांच हजार फैसले हिन्दी में लिखने का कीर्तिमान बनाने वाले न्यायमूर्ति प्रेमस्वरूप गुप्त सर्वोच्य न्यायालय में इसलिए नहीं जा सके, क्योंकि वहां अंग्रेजी में ही न्याय देने की अनिवार्यता है, हाल में सम्पन्न एक सम्मेलन में अध्यक्षा नजमा हेपतुल्ला के आदेश पर रक्षा मंत्री जार्ज फर्नाडीज को अपना हिन्दी भाषण रोककर तत्क्षण अंग्रेजी में बोलना पड़ा। आज 52 वर्षों के बाद इस प्रकार हिन्दी को सारे देश की राजभाषा तो क्या हिन्दी प्रदेशो से बाहर खदेड़ने को स्वयं हिन्दी भाषी तैयार बैठे हैं। आज हमारी राजभाषा हिन्दी के साथ यह कहावत चौबे जी छब्बे बनने गए थे पर रह गए के दुबे ही पूर्णतया चरितार्थ होता है।

हिन्दी भाषा तीस प्रतिशत अर्थात तीस करोड़ लोगों की भाषा है, बोलने वालों की संख्या की दृष्टि से अंग्रेजी और चीनी के बाद हिन्दी दुनिया की तीसरी सबसे बड़ी भाषा है, विदेशों के 120 से अधिक विश्वविद्यालयों में विद्यार्थी हिन्दी सीख रहे हैं। विद्वान औदन स्मेकेल, रूस के वारन्निकोव और जर्मनी के लोथर लुप्से जैसे लोग टकसाली हिन्दी बोलते और लिखते है,

लेकिन अपने ही देश भारत में हिन्दी लगातार दीन-हीन उपेक्षित और फूहड़ व हास्यास्पद होती जा रही है जिसे चिराग तले अंधेरा की संज्ञा दी जा सकती है।

यह कैसी बिडम्बना है कि केवल 2 प्रतिशत अंग्रेजी परस्त लोग देश की 98 प्रतिशत जनता पर अपना भाषायी आधिपत्य जमाए हुए हैं जिसके परिणामस्वरूप अंग्रेजी भाषा का वर्चस्व दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है, स्थिति यह है कि प्रशासनिक क्षेत्र हो या अध्ययन अध्यापन का क्षेत्र, न्यायिक मामले हो या जनमानस, अंग्रेजी के बिना नैया पार होती नहीं दिखती यहां तक कि वाणिज्य व्यवसाय, चिकित्सा, इंजीनियरिंग एंव पारस्परिक आदान-प्रदान के क्षेत्र में भी सर्वत्र अंग्रेजी की ही पूजा होती है, इस भाषा के विकास में शिक्षा विभाग एवं विशेष रूप से उच्च शिक्षा के संस्थानों के द्वारा भी इसको कोई प्राथमिकता नहीं प्रदान की गई है उदाहरण के लिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के सौजन्य से अखिल भारतीय स्तर पर आयोजित सम्मेलनों में अधिकांश शोध पत्र और भाषण अंग्रेजी में ही प्रस्तुत किए जाते हैं। शोध-पत्रिकाओं का प्रकाशन भी अधिकांशतः आंग्ल भाषा में ही किया जा रहा है, इसी अन्धे अंग्रेजी प्रेम के कारण आज आधे से अधिक देश की जनता निरक्षर भट्टाचार्य है अर्थात अंगूठा टेक है, परिणामतः न खुदा ही मिला न विसाले सनम।

14 सितम्बर 1949 को संविधान सभा में देशरत्न डॉ राजेन्द्र प्रसाद ने कहा था- हम अपने संविधान का मूल पाठ अंग्रेजी में तैयार कर रहे हैं, अतः इसके कारण भविष्य में कठिनाई हो सकती है संभवतः इसी का प्रतिफल है कि आज विश्व के डेढ़ सौ से अधिक विश्वविद्यालयो में हिन्दी के पठन-पाठन की सुविधा है, पर समझ में नहीं आता कि देशी विश्वविद्यालयो से हिन्दी का सिमटना क्यों शुरू हो गया है? आज हिन्दी का विद्यार्थी क्यों अपना मुंह चुराने को बाध्य होता है और अपना विषय हिन्दी के बदले कुछ दूसरा बता देता है? हिन्दी की पत्रिकाएं क्यों नहीं स्टेटस सिंबल बन पाई है, हिन्दी और अंग्रेजी के एक ही संस्थान के पत्रकार की हैसियत, वेतन और भत्ते में फर्क क्यों है? इन तमाम सवालों के जवाब अब तक के पांच विश्व हिन्दी सम्मेलनों में जो हिन्दी की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति, भारत व हिन्दी, आधुनिक युग एवं हिन्दी की आवश्यकता व उपलब्धियां, भाषा शिक्षण और सहायक सामग्री विषय पर परिचर्चा की गई, वह महज खोखली प्रतीत होती है निःसंदेह हिन्दी की स्थिति वही ढाक के तीन पात वाली है, किसी देश की पहचान उसका ध्वज, उसका राष्ट्रीय प्रतीक, उसका पहनावा तथा उसकी भाषा होती है, दूसरे की भाषा का प्रयोग राष्ट्रीय दिवालियापन का द्योतक है। सारे संसार के शिक्षाशास्त्री इस बात को स्वीकार करते हैं कि मनुष्य की नैसर्गिक शक्ति का सर्वोतम विकास उसकी मातृभाषा से ही सुगम है, सहज है, कहने की आवश्यकता नहीं कि अंग्रेजी के वर्चस्व को स्थापित करने का प्रयास कर जीवन के स्वाभाविक सत्य को चतुर्दिक विकृत किया जा रहा है, जिन देशों ने अपनी मातृभाषा को छोड़कर, अंग्रेजी को अपनाया उनकी रचनात्मक प्रतिभा कुंठित होती जा रही है, वे सत्य को छोड़कर सत्ता के पुजारी बनने जा रहे हैं।

भारत जैसे विश्व के सबसे बड़े लोकतंत्र में हिन्दी जैसी लोकभाषा की उपेक्षा का अर्थ है लोकभावना की उपेक्षा लोक भावना की उपेक्षा कर कोई लोकतंत्र कैसे और कब तक टिक सकता है? पिछले ढाई सौ वर्षों में भारत की तीन प्रतिशत आबादी भी अंग्रेजी नहीं सीख पाई, यदि अंग्रेजी सिखाई नहीं जा सकी तो क्या अंग्रेजी लादी जाती रहेगी? ऐसे वातावरण में लोकतंत्र का भविष्य कब तक सुरक्षित रहेगा? अतः भारतीय लोकभावना का सम्मान करते हुए अपने अपने क्षेत्र में सभी भारतीय भाषाओं को और सम्पर्क भाषा के रूप में जब हिन्दी को मुक्ताभाव से स्वीकार किया जाएगा तभी संविधान की रक्षा हो सकेगी और भारतीय लोकतंत्र का वह तेजस्वी रूप भी निखरेगा, जिसके बिना मानव-समाज अपने समाज की चुनौतियों का सफलतापूर्वक सामना नहीं कर सकता। 14 सितम्बर हिन्दी दिवस का तो महत्व है, किन्तु इससे भी महत्वपूर्ण यह है कि उसकी ओर हम किसी दृष्टि किस प्रेरणा और किस भावना से देखते है तथा उसके उदेश्यो से किस अहसास के साथ जुड़ते है तभी हिन्दी की दशा सुधार पर अपेक्षित ध्यान दिया जा सकता है।

हिन्दी की दिशा

वृहत् भारतीय समाज में हिन्दी का प्रयोग साहित्यिक भाषा के रूप में, व्यापक स्तर पर मुख्य सम्पर्क भाषा के रूप में एवं क्षेत्रीय तथा साधारण भाषा के रूप में तो सैकड़ो वर्षों से होता आ रहा है, पर अब उसकी स्थिति बहुत बदल गई है और उसके विकास की अनेक नई दिशाओ का संधान किया गया है। चैदह वर्ष पहले तक केवल अनुवाद की भाषा के रूप में और वह भी अल्पमात्रा में राजभाषा हिन्दी का प्रयोग केन्द्र एवं हिन्दी भाषी राज्यों में होता था, उसमें भी अंग्रेजी के समानान्तर हिन्दी को प्रस्तुत करने में अनपेक्षित संकोच का अनुभव किया जाता था, यद्यपि वैसे अधिकारियों का रूग्ण मानसिकता में आज भी बहुत परिवर्तन नहीं हुआ है, तथापि अब हिन्दी को मूल भाषा के रूप में विकसित करने के अनेक उपाय हुए हैं, जिससे अनेक क्षेत्रों में उसके विकास की संभावनाएं बढ़ गई है। भारत सरकार द्वारा सरकारी कामकाज में हिन्दी के प्रयोग संबंधी की गई व्यवस्था इस प्रकार है।

सरकारी कामकाज में हिन्दी के प्रयोग की व्यवहारिकता को ध्यान में रखकर संघ के राज्यों को क, ख एवं ग श्रेणियों में रखा गया है। 'क' श्रेणी के राज्य वे हैं जिनकी बोल-चाल तथा कामकाज की भाषा सामान्यता हिन्दी है। वे राज्य है बिहार, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, उतर प्रदेश और दिल्ली। 'ख' श्रेणी के राज्य वे है जहां क्षेत्रीय भाषा के साथ साथ हिन्दी भी बोली और समझी जाती है। तथा कामकाज में क्षेत्रीय भाषा के अतिरिक्त हिन्दी का प्रयोग भी होता है वे राज्य है- गुजरात, महाराष्ट्र, पंजाब और अंडमान निकोबार द्वीप समूह। 'ग' श्रेणी के अन्तर्गत वे सभी अन्य राज्य आते हैं जहां हिन्दी न तो आम बोलचाल की भाषा है और न कामकाज की ही, इन विभिन्न श्रेणियों के राज्यों के साथ

केन्द्र सरकार द्वारा पत्रादि किसी सीमा तक हिन्दी में होंगे, इसका स्पष्ट उल्लेख राजभाषा अधिनियम 1976 में है।

विगत पांच दशकों में जनभाषा हिन्दी ने आश्चर्यजनक विस्फोटक तस्वीर पेशकर अपनी अलग पहचान बनाई है, यह तस्वीर इस सच्चाई के करीब है कि कोई भी भाषा अपनी ताकत अपनी उपयोगिता से किसी तरह हासिल करती है, वैश्वीकरण के इस दौर में बाजार के बढ़ते प्रभाव ने हिन्दी की इस ताकत को सिद्ध किया है चूँकि हिन्दी भाषा में दर्शक है, बाजार है, इसलिए लाभ की संभावना में निजी चैनल हिन्दी को अपना रहे हैं, उदाहरण के लिए स्टार प्लस से लेकर नेशनल ज्योग्राफिकल चैनलों तक को जिन्होंने अपनी शुरूआत अंग्रेजी में की थी जल्दी ही इन्हें हिन्दी अपनाने को बाध्य होना पड़ा, अब भारतीय प्रशासनिक सेवा, आरक्षी सेवा, (बैंक, तकनीकी शिक्षा-क्षेत्रों एवं विभागों में भी लिखित तथा मौखिक रूप में हिन्दी प्रयोग का प्रावधान हो गया है, इसके साथ ही, उन विभागों में हिन्दी का एक पत्र अनिवार्य कर दिया गया है और अधिकारियों के लिए हिन्दी प्रशिक्षण का भी प्रबन्ध किया गया है, जिससे कोई भी अधिकारी हिन्दी न जानने का बहाना नहीं कर सके, अंग्रेजी के बदले हिन्दी में काम करने वाले अधिकारियों और कर्मचारियों को निर्धारित समय से पहले ही प्रोन्नत करने तथा पुरस्कार से सम्मानित करने की भी व्यवस्था की गई है, संघ लोक सेवा आयोग की तैयारी करने का प्रकाशन अब हिन्दी में होने लगा है, जिससे अधिकाधिक परीक्षार्थी लाभान्वित होंगे, अब तो हिन्दी माध्यम के विद्यार्थी संघ लोक सेवा जैसी कठिनतम परीक्षा में अपनी सर्वोच्चता सिद्ध कर रहे हैं, अब तो आधुनिकता के प्रतीक इण्टरनेट के माध्यम से हिन्दी भाषा को उपलब्ध कराने के प्रयास जारी हैं, हिन्दी का वैश्विककोष (इनसाइक्लोपीडिया) शीघ्र ही इण्टरनेट पर देखा जा सकेगा, जहाँ तक हिन्दी के अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप का प्रश्न है, विश्व मंच पर उसका प्रयोग अनुपेक्षणीय बन गया है, हिन्दी न केवल भारत में समन्वय की भाषा है, अपितु वह विश्व-समन्वय के लिए भी एक विलक्षण भाषा मण्डल है, इसी का प्रतिफल है कि आज विश्व के 104 विश्वविद्यालयों में हिन्दी विभाग स्थापित है, जहाँ हिन्दी- शिक्षण के साथ-साथ अनुसंधान कार्य भी चल रहे हैं, मॉरिशस, फिजी, गुयाना, त्रिमिदाद, सूरिनाम आदि ऐसे देश हैं, जहाँ शिक्षण के साथ-साथ ऐसे देश हैं, जहाँ शिक्षण के साथ-साथ व्यापक स्तर पर संपर्क भाषा के रूप में भी हिन्दी का व्यवहार किया जाता है, इन देशो में धार्मिक सांस्कृतिक अवसरों पर हिन्दी प्रयोग को ही सर्वाधिक महत्व दिया जाता है, तुलसी, सूर, कबीर, विद्यापति, निराला, महादेवी वर्मा, दिनकर, प्रेमचंद्र जैसे साहित्यकारों द्वारा विश्व मानवता की नव प्रतिष्ठापना से हिन्दी का स्वर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अत्यधिक लोकप्रिय एवं प्रभावकारी हो गया है, अतएव, संयुक्त राष्ट्रसंघ में अब हिन्दी का प्रयोग नहीं होना विश्व जनमत की उपेक्षा का विषय बन गया है, इसके औचित्य को स्वीकार करते हुए अब हर वर्ष 24 अक्टूबर को संयुक्त राष्ट्रसंघ दिवस के साथ-साथ विश्व हिन्दी दिवस मनाए जाने का संकल्प भी लंदन में लिया जा चुका है, निःसंदेह संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश की परम्परा में विकसित तथा आनो भ्रदाः क्रतवोयन्तु विश्वतः के आदर्श से युक्त हिन्दी निखिल मानवता की रक्षा विश्वशांति, अंतर्राष्टीय सदभावना एवं निश्छल प्रेम की अभिव्यंजना की भाषा बन गई है, इन सबों को देखते हुए हिन्दी की दिशा सकारात्मक कही जा सकती है। हिन्दी की प्रगति के मार्ग में प्रमुख रूकावटें हैः-

1. शासकों एवं प्रशासकों का अंग्रेजी के प्रति मोह कारण अपने वर्चस्व को सुरक्षित रखना।

2. अस्पष्ट वैधानिक उपबंधों की व्यवस्था राजभाषा अधिनियम, 1963 में अंग्रेजी के महत्व को स्वीकृति

3. राष्ट्रीय भावना का ह्रास तथा पाश्चात्य भोगवादी, पाश्चात्य संस्कृति के प्रति बढ़ता हुआ आकर्षण

4. हिन्दी भाषी राज्यों में हिन्दी के प्रति उत्पन्न हीनताग्रंथि

हिन्दी को यदि हम सचमुच उच्च आसन पर आसीन करना चाहते हैं तो हमें उक्त कारणों के निवारण की दिशा में गम्भीरतापूर्वक प्रयत्न करना होगा। देश में हिन्दी के नाम पर चलने वाली योजनाओं में लगातार वृद्धि हो रही है और आंकड़ों के खेल-खेलकर हिन्दी के उत्थान के नाम पर प्रतिवर्ष करोड़ों रूपए स्वाहा करने की सनक पर कोई नहीं है, ले-देकर हिन्दी पखवाड़ा के रूप में प्रतिवर्ष हिन्दी का श्राद्ध पर्व सरकारी रस्मों में शामिल है तो इस औपचारिकता का निर्वाह महकमे मन-बेमन से करते रहे हैं, दरअसल सरकारी रजिस्टर में जैसे-जैसे हिन्दी का प्रयोग बढ़ता हुआ दर्ज होता जा रहा है, वैसे-वैसे लोगों के दिन-प्रतिदिन के जीवन में हिन्दी का व्यवहार कमतर होता जा रहा है, भू-मण्डलीकरण के इस युग में जबकि बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का भारत में धरल्ले से आगमन हो रहा है, हिन्दी का व्यवसाय के लिहाज से कोई भविष्य नहीं दिख रहा है लोग हिन्दी के बदले अंग्रेजी पढ़कर अपने को ज्यादा शिक्षित और सुसंस्कृत समझ रहे हैं, ऐसे में व्यवसाय के लिहाज से हिन्दी का क्या भविष्य होगा? इधर हिन्दी, हिन्दू हिन्दुस्तां का नारा देने वाली सरकार ने प्रिन्ट मीडिया में विदेशी निवेश की अनुमति दे दी है जिससे हिन्दी पर संकट बढ़ेगा ही, परिणामतः हिन्दी काल के गाल में समा जाने को विवश है, अतः हम भारतीयों का पुनीत कर्तव्य है कि अपनी राष्ट्र भाषा एवं राज भाषा हिन्दी की गरिमा को अक्षुझण्ण बनाए रखें अन्यथा वह दिन दूर नहीं जब हम इन अंग्रेजी की वैशाखी के सहारे अपने भारत के स्वर्णमय भविष्य को मटियामेट कर दें। प्रायः समस्त हिन्दी प्रेमीजन और नेता यह अनुभव करते हैं कि यदि हमने तुर्की और इजरायल की भाँति इच्छाशक्ति का प्रदर्शन किया होता तो हिन्दी के नाम पर हिन्दी दिवस आदि मनाने को हम विवश न होते, इस प्रकार की दृढ़ इच्छाशक्ति का प्रयोग अब किसी भी स्तर पर सम्भव है। अतः हम राजभाषा हिन्दी की साख की रक्षा के संदर्भ में भारतीयों को सम्बोधित कर कह सकते हैं-

"जाग जा मानव, यदि चाहता है प्रगति,
राजभाषा हिन्दी को अपना,
नहीं तो हो जाएगी दुर्गति।"

उत्तर-पूर्व भारत का भक्ति आन्दोलन

वैभव सिंह
हिंदू कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

शोध-सारांश:
मध्य काल को कुछ विवादों के साथ लगभग सभी विद्वान भारतीय पुनर्जागरण का स्वर्ण युग मानते हैं, और यह है भी। पहली बार भक्ति काल में ही कवियों और समाज सुधारकों के माध्यम से लोक चेतना का विकास हुआ। लोगों के मानस ने तर्कपूर्ण सोचना शुरू किया। परन्तु अगर हम मध्यकालीन सन्त कवियों को ध्यान से पढ़ें तो लगभग सभी कहीं न कहीं किसी न किसी बिंदु पर संकीर्ण दीखते हैं। इसे वक़्त का तकाज़ा कह सकते हैं। वह एक ऐसा समय था जब जनता एक प्रजारंजक राजा को ही लोकतंत्र मानती थी। प्रगतिशीलता का पुरोधा बनने वाला यूरोप गैलिलियो गालीलेई को सालों तक इसलिए कारागार में रखता है क्योंकि उसने पृथ्वी को सूर्य के चारों ओर घूमता हुआ बताया था। यह संक्रमण का काल था। लोग बदल रहे थे लेकिन धक्कों के साथ, हिचकोले लेते हुए क्योंकि रुढियों का घर्षण तीव्र था। महाप्रगातिशील होने का दावा भरने वाले कबीर के पास भी आधी आबादी की चिन्ता धुंधली है। उनका मानना है कि नारियों के बीस फन हैं और उनको देखने भर से ही विष चढ़ सकता है। अन्य संत कवियों में भी अपने आराध्य और अपने पंथ के प्रति चरम निष्ठा तथा अन्य के प्रति विद्वेष का भाव था। मानव जीवन में व्याप्त संभावनाओं को अपने जीवन तथा लेखन के माध्यम से चरितातार्थ करने वाले बाबा तुलसी भी जीवन के आरंभिक दिनों में वर्णगत संकुचन से ग्रस्त थे। इन अर्थों में उत्तर-पूर्व भारत में भक्ति और समाज सुधर आन्दोलन की अलख जगाने वाले श्रीमन्त शंकरदेव बिलग हैं। उनके पारिजात हरण नाटक में नायिका सत्यभामा, एक आधुनिक नारी की तरह आती है। उनके नाम घरों में सबके लिए स्थान है। वह ब्रजयात्रा पर कृष्णभक्तों से मिलते हैं, ब्रजभाषा सीखते हैं, कृष्णभक्त बनते हैं, असमिया और बंगाली भाषा से ब्रजभाषा का मेल करके एक लोक संपृक्त भाषा ब्रजबुलि का निर्माण करते हैं, लेकिन वह राम का आदर्श देखते हुए उत्तरकाण्ड भी लिखते हैं, जिसमें राम के एक लोकरंजक रूप को दिखाया गया है। वह राम में व्याप्त हर उस मूल्य को उजागर करते हैं जिससे समाज को समरस बनने में सहायता मिले। श्रीमन्त के रचना संसार और कार्य व्यापर को देखते हुए यह कह सकते हैं है की जो काम हिन्दी क्षेत्र में बाबा तुलसी, सुर, कबीर, रामानन्द, दादू, रैदास, आचार्य बल्लभ, परमानन्द दास और सुन्दरदास ने किया, वह कार्य उत्तर पूर्व भारत में श्रीमन्त शंकरदेव ने अकेले ही अपनी वैचारिकी और नीयत से कर दिखाया। उनके इस कार्य में उनके शिष्यों और प्रचारकों का भी योगदान महत्वपूर्ण है। यहाँ पर सुन्दरदास, सूरदास और परमानन्ददास का नाम इसलिए भी लिया गया है क्योंकि श्रीमन्त की रचनाओं में आवश्यक काव्यशास्त्रीय ख़ुराक भी है और अपेक्षित राग-रागिनियाँ भी हैं। उन्होंने छावी, दुलरी, झुमरी, झूमा, पयार, भटिमा जैसे छंदों का निर्माण किया। अपने सत्रों और नामघरों में मंचन के लिए खोल और बाही जैसे वाद्य यंत्रों का निर्माण किया। माजुली नदी द्वीप पर सामान्य जनमानस के आसान जन जीवन के लिए नाव बनाने की कुछ सरल विधियों को भी विकसित किया। श्रीमन्त इसलिए भी महत्वपूर्ण हैं कि उनके कर्तृत्व और कृतित्व में आधुनिक लोकतंत्र की एक आशापूर्ण झलकी पांच सौ साल पहले ही विद्यमान थी।

बीज शब्द:
उत्तर-पूर्व भारत, श्रीमन्त शंकरदेव, भक्ति आन्दोलन, नव-वैष्णववाद, ब्रजबुली, माजुली नदी-द्वीप, लोकतन्त्र।

नया होना ही नए होने की एकमात्र शर्त नहीं है, नया वह भी है जो कभी पुराना नहीं होता। मुझे याद आता है, हमारी माध्यमिक शिक्षा की हिन्दी 'मञ्जरी' में एक पाठ आता था 'कौन बनेगा निंगथउ (राजा) ?' कहानी मणिपुर की एक लोक कथा पर आधारित है। कंगलाइपक का राजा अपने उत्तराधिकारी की तलाश में अपने ही संतानों में एक प्रतियोगिता रखता है, जिसमें राजा के तीनों पुत्र सानाजाउबा, सानायायमा और सानातोम्बा अपने अपूर्व बल का प्रदर्शन करते हैं। सानातोम्बा तो अपने पराक्रम से बरगद के पुराने वृक्ष को ही उखाड़ फेकता है। इन सब घटनाओं के बीच, राजकुमारी सानातोम्बी बरगद के वृक्ष के पास खड़ी

उसे इस कृत्य में वीरता कम, क्रूरता अधिक दिख रही थी। वह पक्षियों के घोंसले उजड़ जाने से दुःखी थी। वह वटवृक्ष के मर जाने से अत्यन्त व्याकुल थी। अन्त में राजा, उसकी प्राणिमात्र के लिए संवेदना देख कर उसी को तुंगी (उत्तराधिकारी) चुनते हैं। पराक्रम पर मानवीय संवेदना और प्रकृति प्रेम की जीत होती है। उत्तर-पूर्व भारत की, प्रकृति और प्राणिमात्र के प्रति यह संवेदना जगद्विख्यात है, जो समय समय पर किस्सों कहानियों के माध्यम से हमें सुनाई पड़ती रहती है। यह कहानी इतिहास के प्राचीर पर तो कहीं मध्य में अंकित है लेकिन इसका सन्देश नित-नवीन है। इसका अनुभव मुझे तब होता है जब मैं दिल्ली में अपने उत्तर-पूर्व भारत के किसी मित्र से मिलने जाता हूँ। उसके घर की बॉलकनी, हमारे घरों की बॉलकनी से अलग, आधारभूत अन्तर लिए होती है। वहां पक्षियों के लिए भी जगह है, तितलियों के लिए भी, लताओं के लिए भी और गमले में जीविका कर सकने वाले छोटे पौधों के लिए भी। यह है हमारा भारत। यही है हमारा भारत, जिसकी नींव डालने में कुछ गणमान्यों ने अपनी जान खपा दी, अपना सब 'अमूल्य' दे दिया, मूल्य निर्धारण के लिए। यहाँ के लोकतंत्र का लोक मनुष्यों से आगे बढ़कर पशु-पक्षी, लता-वृक्ष, पहाड़-नदियों तक विस्तृत है। सबने अपनी-अपनी रीतियों, क्रियाविधियों से अपना कार्य किया। श्रीमन्त शंकरदेव ने अपनी रीति से, लाचित बरफुकन ने अपनी रीति से, और भूपेन हज़ारिका ने अपनी रीति से।

अहोम सेना में सेनापति रहे लाचित बरफुकन और ब्रिटिश साम्राज्यवाद से नागाओं की रक्षा के लिए क्रान्ति का बिगुल फूंकने वाली रानी गाइदिन्लीउ का स्पष्ट मानना था कि कभी-कभी अहिंसा की चिर स्थापना के लिए शस्त्र उठाना भी अनिवार्य हो जाता है। यही जागरण, भारत रत्न भूपेन हजारिका ने अपनी संगीत के माध्यम से किया। रीतियां सबकी अलग रही, लेकिन लड़ाई एक ही मूल्य की स्थापना को लेकर रही है, और वह मूल्य हैं अहिंसा की स्थापना का, प्रकृति-प्रेम का, जीवन में जीवंतता और हरियाली का। हमनें सबका अच्छा और शिव ग्रहण किया, बिना किसी भेदभाव के। ऋग्वेद का ऋषि घोषणा करता है 'आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरितासउद्भिदः।'[1]

अर्थात 'कल्याणकारक, न दबनेवाले, पराभूत न होने वाले, उच्चता को पहुँचानेवाले शुभकर्म चारों और से हमारे पास आयें।'

15वीं शती में जन्मे श्रीमन्त शंकरदेव को जब अपने अस्तित्व में कसमसाहट महसूस हुई तो वह सम्पूर्ण भारत की यात्रा पर निकले, और दो बार उन्होंने सम्पूर्ण भारत की यात्रा की। वह केदारनाथ से रामेश्वरम और जगन्नाथपुरी से द्वारिका तक गए। इस यात्रा से वो जो लेकर लौटे वह है 'विविधता में एकता' 'महान सांस्कृतिक परम्पराओं में झंकृत मौलिक एकात्मवाद'। कालान्तर में इसी पूँजी से उन्होंने समस्त उत्तर-पूर्व भारत को, प्रकारान्तर में समस्त भारत को अध्यात्म, मानवता और सांस्कृतिक समृद्धि के उत्स पर लाकर खड़ा कर दिया । उनकी इस आध्यात्मिक झंझावती के समक्ष भारत के सारे भौतिक उच्चावच ध्वस्त हो गए। यह उनके तमाम साहित्यों, सत्रों एवं नामघरों में अभी भी पुंजीभूत है। श्रीमन्त को भारत वर्ष से गहरा लगाव है। एक स्थान पर वह लिखते हैं 'कोटि-कोटि जन्म अंतरे जाहार, आसे महा पुन्यराशि, सिशि कदाचित मनुष्य होवय, भारतवरिषे आसि।'[2] यह वास्तव में ऋषियों के उसी उद्घोष का छायानुवाद है जो सदियों पहले गाया गया था। 'गायन्ति देवाः किल गीतिकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे। स्वर्गापवर्गास्पदहेतुभूत भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्।।' [3]

यह वही प्राचीन सत्य है जो नित-नवीन है। जिसे ऋषियों और मनीषियों ने समय-समय पर अपनी वाणी में कहा। प्राणिमात्र के प्रति भारतीय मूल की वही दया और करुणा और मानवता श्रीमन्त को जीवन भर उद्वेलित करती रही और उस शुभ उद्वेलन का परिणाम है 'एकशरणम नामधर्म'। श्रीमन्त ने आदिवासी जनजातियों यथा गारो, आदी, भोटा, मिरी, यवना, कछारी आदि को समाज की मुख्य धारा में लाने के लिए काम किया। समाज के हर व्यापार में उनकी भागीदारी को सुनिश्चित किया। इनके अन्तर तथा बाह्य को जागृत कर नव-वैष्णववाद द्वारा समतामूलक समाज के मार्ग को प्रशस्त किया। उनके शिष्यों में योग्यता के आधार पर सभी को स्थान था।

चाँद खान (मुस्लिम), मुरारी-चिलारी (कोंच), नरहरि (अहोम), परमानन्द (मिशिंग), जयराम (भूटिया), रमाई (बोडो), श्रीगोविन्द (गारो), दामोदर (ब्राह्मण), माधवदेव (कायस्थ) आदि सभी उनके प्रमुख शिष्यों में थे। माधव देव

नामघोषा में एक स्थान पर लिखते हैं 'श्रीमंत शंकर हरि भकतर जाना येन कल्पतरू। ताहांत विनाउ नाइ नाइ नाइ आमार परम गुरू।।[4] जिस समय श्रीमन्त शंकर देव का जन्म हुआ था वह समय उत्तर और पूर्व भारत में शाक्तों का था। शाक्त, अनियंत्रित होकर बाह्याचार और वामाचार का अभ्यास किया करते थे। उनको, उस समय के अहोम, कोंच और कछारी राजाओं का संरक्षण प्राप्त था और वो अपनी इच्छा अनुसार, शक्ति की आराधना के आड़ में एक बड़ी संख्या में नरबलि और पशुबलि दिया करते थे। वामाचार, वीभत्सता और व्यभिचार तक पहुच गया था। सिद्ध-नाथ संप्रदाय के एक वामाचारी ने तो यहाँ तक लिख दिया था कि 'मातरियोनि परित्यज्य मैथुन सर्वयोनिषु'। यह एक वाक्य उस समय के उत्तर-पूर्व भारत की मूल्यगत अनियंत्रणता को बता सकता है। श्रीमन्त शंकर ने अहोम और कोंच राजाओं को प्रभावित कर, उत्तर-पूर्व भारत को शाक्तों के इस अन्धविश्वास से मुक्त कराया और वैष्णवों की अहिंसा और दया का प्रचार किया। किसी भी समाज में नवीन भक्ति मार्ग का प्रचार करना सहज नहीं है। कामरूप की तात्कालिक राजनीतिक अस्थिर परिस्थितियों ने शैव और शाक्त एवं तांत्रिक पूजा उपसनाओं ने शंकरदेव के द्वारा प्रतिपादित नव-वैष्णव धर्म के प्रचार-प्रसार में बाधाएँ उत्पन्न की। उन्हें अनेक तरह का कष्ट उठाना पड़ा। उन्हें अपनी मातृ-भूमि को छोड़कर उडीसा में शरण लेनी पड़ी थी। अंत में कोचराज के आश्रय में उनके द्वारा प्रतिपादित वैष्णव भक्ति को मान्यता मिली। छोटे-छोटे समुदायों और कबीलों में बँटे लोगों को 'एकशरणम नामधर्म' के द्वारा जोड़ा और उनको नाम स्मरण की महिमा बताई। आत्मा और परमात्मा के बीच में विचौलिए की भूमिका को निस्तेज किया। बाह्याचारों से मुक्ति दिलाकर भारतीय दर्शन और अध्यात्म का लोकभाषा (ब्रजबुलि) में प्रचार किया। शंकरदेव ने भक्ति मार्ग के प्रचार के लिए लोक भाषा में ही साहित्य का सृजन किया।

काव्य:
हरिश्चंद्र उपाख्यान, रूक्मिणी हरण काव्य, बलि छलन, अमृत मंथन, अजामिल उपाख्यान।
भक्तितत्व प्रधान:
भक्ति प्रदीप ,भक्ति रत्नाकर, निमि नवसिद्ध संवाद, अनादिपतन।
अंकिया नाटक:
पत्नी प्रसाद, कालिया दमन, केलि गोपाल, रूक्मिणी हरण, पारिजात हरण, रामविजय।
गीत:
बरगीत, भटिमा, टोटय, चपय।
अनुवाद:
भागवत, उत्तरकांड रामायण।
नाम-कीर्तन:
कीर्तन, गुणमाला।

शंकरदेव के समय काल में तो निर्गुण भक्ति धारा का ही महत्व था। शंकरदेव स्वयं भी कबीर से काफ़ी प्रभावित थे। परन्तु उनका मानना था कि निर्गुण ब्रह्मा की उपलब्धि सबके लिए आसान नहीं है। इडा, पिंगला और सुषुम्ना का संधान सहज नहीं है। इसीलिए शंकरदेव अपने अनुयायियों को पहले सगुण मार्ग में चलकर बाद में निर्गुण ब्रह्मा को प्राप्त करने के लिए कहते हैं। उनका मानना था कि भक्ति मार्ग, इतना सरल मार्ग है कि उस पर चलकर साधारण मानव भी मुक्ति प्राप्त कर सकता है। 'ज्ञान कर्म भकति कहिलों करि भेद। भकति परम पंथ दिलों परिच्छेद।।'[5] वे एकमात्र कृष्ण देव को 'कृष्णास्तु भगवान स्वयं' की ही उपासना की। वे संपूर्ण रूप से भगवान कृष्ण के शरण में आ गए थे। उनकी भक्ति में भी हम कृष्ण के प्रति वात्सल्य एवं सख्य भाव देख सकते है। 'सर्वधर्मान परित्यज्य मामेक शरणम ब्रज अहम् त्वां सर्वपापेभ्योमोक्ष्यीश्यामि मा शुचः।।'[6]

श्रीमन्त शंकरदेव ने नाम धर्म को मानवधर्म का पर्याय बनाने के लिए प्राण खपा दिए। शंकरदेव ने सत्र और नामघर की स्थापना की। यहां मंदिर और मूर्ति के बजाय कीर्तन और भागवत ग्रंथ को रखने की व्यवस्था होती थी। भगवान के गुण नामों की प्रधानता के कारण कीर्तन के लिए 'नाम' शब्द का भी प्रचलन हो जाने के कारण कीर्तन घर का पर्यायवाची शब्द 'नामघर' बन गया। नामघर में कीर्तन के अतिरिक्त भगवान की लीला का अभिनय, भागवत-आदि ग्रंथों का पाठ, अध्ययन-अध्यापन, सामाजिक-सांगठनिक विचार-विमर्श तथा पर्व-उत्सव आदि होते थे। इस तरह कीर्तन घर में ही देवालय, शिक्षालय, पुस्तकालय, रंगमंच और समाज के लिए सांगठनिक कार्य एवं घर में ही देवालय का काम भी चलता था। सत्र के गुरू ही इन सभी कामों का कार्य मुखिया बनकर करते थे। इस तरह सत्र और नामघरों में न सिर्फ ज्ञान, योग और भक्ति का प्रचार होता था बल्कि सामाजिक समरसता का भी व्यापार होता है। शंकरदेव की विशेषता यह है कि जो बात वह कहना चाहते थे उसे कला के माध्यम में कहते थे।

उन्होने साहित्य, संगीत, नाटक, नृत्य, वाद्य-यंत्र, चित्र-कला आदि के द्वारा भक्ति का प्रचार किया। श्रीमन्त की भक्ति, भक्त कवियों की भक्ति की तरह भावनात्मक प्रेमोत्पाद और गलदश्रु नहीं थी। वह अपने आराध्य के सामने कभी खुद के कल्याण और मोक्ष के लिए नहीं गिड़गिड़ाए। उनकी भक्ति बाह्याचारों में आकंठ डूबे तत्कालीन समाज के सामाजिक उन्नयन और संगठन की सूत्रधार थी। यह शरणिया भक्ति, वैष्णवों के मानवता वाद और अहिंसावाद से ही अपने प्राण खींचती है। डॉ बिमल फूकन अपनी पुस्तक 'शंकरदेव: वैष्णव सेंट ऑव असम (2011) में लिखते हैं-

"Social Reforms was Shamkardeva's main agenda. His religion, a means of his people to

climb out of the abyss they found themselves in. He knew the faith needed, to be liberal, practical, universal and accessible. Above all, it had to appeal the audience it was aimed at. Mere issuing of doctrinal message was not enough. One had to create the ways and means to carry it to people. For it, to be successful, it need to be administered with kindness, aberrations dealt with firmly."[7]

अर्थात 'सामाजिक सुधार, शंकरदेव की मुख्य कार्यावली थी। उनका धर्म, उनके लोगों को, उनके अन्तर्मन और समाज में व्याप्त गहरे गड्ढे से बाहर निकलने का एक साधन था। उन्हें विश्वास था कि श्रद्धा को उदार, व्यावहारिक, सार्वभौमिक और सुलभ होना चाहिए। केवल सैद्धांतिक संदेश जारी करना पर्याप्त नहीं था। इसको लोगों तक ले जाने के लिए तरीके और साधन की आवश्यकता थी। सफल होने के लिए, इसे दयालुता के साथ प्रशासित करने की आवश्यकता थी।' श्रीमन्त की इन्ही आधारभूत भूमिकाओं और संस्थाओं को महात्मा गाँधी अपनी राजनैतिक परिधि में लेकर आए। अस्पृश्यता उन्मूलन और असहयोग आन्दोलन सम्बन्धी अपनी यात्राओं में वह जब उत्तर पूर्व भारत गए तो उन्होंने नामघरों को देखा। उन पर टिप्पणी करते हुए श्री गाँधी अपनी एक पत्रिका में लिखते हैं "असम भाग्यशाली है कि शंकरदेव ने पाँच सौ साल पहले इसके लोगों को ऐसा आदर्श प्रदान किया जो मेरे रामराज्य का आदर्श है।"[8]

राम कथा भारतीय जनमानस में गहरे तक व्याप्त है। गाँव की चौपालों से लेकर संस्कृत के शास्त्रीय ग्रंथों तथा पुराणों तक राम रमे हैं। राम को सब ने अपने-अपने सुविधा के अनुसार अपनाया है । राम सबके हैं। बौद्ध और जैन विद्वान भी राम के व्यक्तित्व की आदर्शवादिता को देखते हुए उन्हें अपनी परिधि में लेने की कोशिश करते हैं। अब तक लगभग 300 तरह की रामायण अपने विक्षेप के साथ प्रकाश में हैं । रामकथा का मूल स्रोत तो आदिकवि वाल्मीकि कृत रामायण है। उसके बाद रामकाव्य की परम्परा में जयदेव, कालिदास, कम्बन, अनुत्तच्चन, नागचन्द्र, संत एकनाथ, कृत्तिवास, चकबस्त, माधवकन्दली, बाबा तुलसीदास आदि अन्य कवियों तथा संतों ने इसे आगे बढ़ाया। राम धीरज, मर्यादा तथा प्रजारंजन के शिखर पुरुष हैं। किसी भी सभ्य समाज को ऐसे ही व्यक्तित्व पसंद आते हैं जो हर प्रकार से लोक रंजक तथा प्रजारंजक हों। राम में ये सारे गुण विद्यमान हैं और वह आवश्यकता पड़ने पर योद्धा भी हैं। यही कारण हैं कि राम, श्रीमन्त शंकरदेव के रचनात्मक परिधि में भी आए। श्रीमन्त ने अपनी रचनाओं 'उत्तरकाण्ड' और 'राम विजय' में राम के विभिन्न रूपों का वर्णन सरसता और सरलता में करके उत्तर-पूर्व भारत के जनमानस पर एक अमिट हस्ताक्षर छोड़ दिया। अगर हम मध्यकालीन सन्त कवियों को ध्यान से पढ़ें तो लगभग सभी, कहीं न कहीं किसी न किसी बिन्दु पर संकीर्ण दिखते हैं ।

महा-प्रगतिशील होने का दावा भरने वाले कबीर में भी महिलाओं के लिए चरम-संकुचन विद्यमान हैं। कबीर के मानवतावाद में आधी आबादी की चिन्ता धुंधली है। अन्य सन्त कवियों में भी अपने आराध्य के प्रति चरम निष्ठा तथा अन्य के आराध्यों और सम्प्रदायों के प्रति विद्वेष, निन्दा और उपेक्षा का भाव हैं।

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि मध्यकाल के कमोबेश सभी सन्त कवियों में लोकतंत्र का अभाव है। श्रीमन्त इस मामलें में अपना एक विलक्षण स्थान रखते हैं। वो ब्रज यात्रा पर कृष्णकवियों से मिलते हैं, ब्रजभाषा सीखते हैं, कृष्णभक्त बनते हैं, असमिया भाषा से ब्रजभाषा का मेल करके एक नयी और लोकसंपृक्त भाषा 'ब्रजबुलि' का निर्माण करते हैं लेकिन वो राम के आदर्श को देखते हुए, उनमें व्याप्त लोकरंजन और लोकतंत्र को देखते हुए, उनपर लेखनी चलाने से परहेज़ नहीं करते। वह 'राम' पर लिखते हैं और सारगर्भित लिखते हैं। राम में व्याप्त हर उस मूल्य को उजागर करते हैं जिससे समाज को समरस बनाने में सहायता मिले। श्रीमन्त के रचना संसार को देखते हुए कह सकते हैं कि जो कार्य हिन्दी क्षेत्र में कबीर, दादूदयाल, बाबा तुलसी, आचार्य बल्लभ, सूरदास, परमानन्ददास, सुन्दरदास, रामानन्द ने मिलकर किया वह श्री शंकरदेव ने पूर्वोत्तर भारत में अकेले ही किया। यहाँ पर सुन्दरदास और सूरदास का नाम इसलिए भी लिया गया हैं क्योंकि श्रीमन्त की कविताओं में आवश्यक काव्यशास्त्रीय खुराक़ भी है और अपेक्षित राग-रागिनियाँ भी हैं। शंकरदेव ने अपने सत्रों और नामघरों में अंकिया और बरगीतों के मंचन के लिए कुछ-कुछ वाद्ययंत्रों का निर्माण भी किया है। श्रीमन्त शंकरदेव इसलिए महत्वपूर्ण हो जाते हैं क्योंकि उनमें लोकतंत्र 500 वर्ष पहले ही अपने नवीन रूप में विद्यमान था।

सन्दर्भः

1. ऋग्वेद, प्रथम मण्डल, 89वां सूक्त (शान्ति सूक्त)
2. शंकरदेव, श्रीमन्त, बरगीत
3. विष्णु पुराण. द्वितीय अध्याय, 34वां श्लोक
4. माधवदेव, नामघोषा
5. भागवत अनुवाद, एकादश स्कंध, 1.2.11
6. श्रीमद्भागवद्गीता 18.66
7. Phukan, Bimal, (2017), *Srimanta Samkardeva: Vaishnav Saint Of Assam* Partridge Publishing India, Page No. 97
8. गाँधी, मोहनदास करमचंद: (1921)यंग इंडिया पत्रिका

संस्कृत व्याकरण शास्त्र में पाणिनीय अष्टाध्यायी का महत्व

पंकज शर्मा
पीएच.डी. शोधार्थी, संस्कृत-विभाग
हिमाचल प्रदेश केन्द्रीय विश्वविद्यालय, धर्मशाला

शोध सारांश:

पाणिनीय अष्टाध्यायी व्याकरण शास्त्र का एक विलक्षण ग्रन्थ है । महर्षि पाणिनि ने अपनी सूक्ष्मेक्षिका द्वारा संस्कृत के अशेष शब्द भण्डार का अवलोकन कर, उन्हें सूत्र शैली में निबद्ध किया । पाणिनीय सूत्र विश्व साहित्य की अमूल्य निधि है । चतुर्दश (१४) माहेश्वर सूत्रों से भगवान् पाणिनि ने अष्टाध्यायी का विशाल शब्द शिल्प बनाया । पाणिनि का व्याकरण वर्तमान समय में प्राचीन भारतीय शब्द विद्या व्याकरण के रूप में उपलब्ध है । संस्कृत व्याकरण में सर्वप्रथम मूल शब्द के रूपों को अलग किया जाता है । धातु एवं प्रत्यय के भेद को पहचाना प्रत्ययों के अर्थों का निश्चय किया जाना तथा शब्द विद्या का निश्चित एवं पूर्ण शास्त्र तैयार किया जाना होता है। वैदिक पदों को समझने के लिए जितनी आवश्यकता 'यास्क' कृत 'निरुक्त' कृति की है, उतनी ही आवश्यकता व्याकरणशास्त्र की भी है । इसी महत्व को देखते हुए पाणिनीय अष्टाध्यायी को समझना अत्यधिक आवश्यक है । अष्टाध्यायी में सूत्रों का सङ्कलन है, जो वैदिक एवं लौकिक दोनों रूपों में उपलब्ध है । अष्टाध्यायी की शैली अत्यन्त सुबोध है । अष्टाध्यायी विलक्षण रचना कौशल और संयोजन के कारण आज भी पाणिनि का यह शास्त्र शब्द विद्या का उत्कृषटतम निदर्शन कहा जाता है । संस्कृत व्याकरण शास्त्र के त्रिमुनि पाणिनि, कात्यायन एवं पतञ्जलि हैं । पाणिनीय अष्टाध्यायी के पश्चात् इनके सूत्रों पर कात्यायन ने वार्तिक तथा भगवान् पतञ्जलि ने महाभाष्य लिखा तथा महाभाष्य के अनन्तर अनेक व्याख्या ग्रन्थ लिखे गए । वस्तुतः शब्द शास्त्रीय विचार धाराओं और चिन्तन तथा दर्शन की अष्टाध्यायी ज्ञान गंगोत्री है । जिसकी प्रतिष्ठा युगों तक अक्षुण्ण रहेगी ।

बीज शब्द :

सूत्र के प्रकार, पाणिनि एवं अष्टाध्यायी, शैली, कात्यायन एवं पतञ्जलि की दृष्टि ।

भारत वर्ष में व्याकरण को उत्तरा विद्या एवं छ: वेदङ्गों में प्रधान माना गया है । जैसे – व्याकरणं नामेयं उत्तरा विद्या[1] , प्रधानं च षट्सु अङ्गेषु व्याकरणम् । व्याकरण का ध्येय वेद रक्षा करना है । यथा- वेद रक्षाणार्थं ध्येयं व्याकरणम् । केषां शब्दानाम्? वैदिकानां लौकिकानां च ।[2] पाणिनीय अष्टाध्यायी ग्रन्थ में लगभग चार हजार सूत्रों का सङ्कलन है । सामान्यतः लौकिक प्रयोग में सूत्र के अर्थ से तात्पर्य "तन्तु" अथवा "रज्जु" होता है। व्याकरण शास्त्र के सन्दर्भ में सूत्र से आशय तन्तुवत् लघुकाय अथवा सूक्ष्म होता है ।

सूत्र का लक्षण-

अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवत् विश्वतो मुखम् । अस्तो भमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ।।[3] लघूनि सूचितार्थानि स्वल्पाक्षरपदानि च । सर्वतः सारभूतानि सूत्राव्याहुर्मनीषिणः ।।[4] लक्षणं हि नाम तद् ध्वनि।[5] लक्ष्य लक्षणे व्याकरणम्- शब्दो लक्ष्यः, सूत्रं लक्षणम्।।[6] शास्त्रीय शब्दावली में सूत्रों के दो प्रकार सामान्य एवं विशेष ये दोनों क्रमशः उत्सर्ग एवं अपवाद कहे जाते हैं। संस्कृत वाङ्मय में सूत्र शब्द का प्रयोग विशेष रूप से पारिभाषिक अर्थ में होता है ।

सूत्र के प्रकार- संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च ।
अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम् ।।[7]

इस लक्षण में छः प्रकार के सूत्र वर्णित हैं । उनका उल्लेख क्रमशः इस प्रकार है-

1. संज्ञा- शक्तिनियामकत्वं संज्ञासूत्रत्वम् । यथा- "वृद्धिरादैच्"।[4] संज्ञा के दो भेद हैं (१) कृत्तिम संज्ञा जैसे- लघुः निरर्थकाश्च भवति यथा- टि, घु, घ, भ आदि । (२) अकृत्रिम संज्ञा यथा - महती तथा अन्वर्था भवति यथा- सर्वनाम, उपसर्जन आदि । संज्ञा च नाम यतो न लधीयः । लघ्वर्थ हि संज्ञाकरणम् ।।[8]

2. परिभाषा-

एकदेशस्थिता शास्त्रभवने याति दीपताम् ।
परितो व्यापृतां भाषां परिभाषां प्रचक्षते ।।[9]
यथा- "तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य" ।

3. विधि- विधिरत्यन्तमप्राप्तौ... ।[10]

गुणवृद्धिलोपसम्प्रसारणादि कार्यस्य विधानं करोति तत् विधिसूत्रम् यथा- "आद् गुणः" । साक्षाल्लक्ष्यसंस्कारकसाधुत्वप्रकारकबोधजनकत्वं विधित्वम्।[7]

विधि के दो भेद हैं (१) उत्सर्ग विधि यथा- "कर्मण्यण्" । (२) उपवाद विधि यथा- "अतोनुपसर्गेकः"

4. नियम- नियमः पाक्षिके सति । अन्य निवृत्तिफलकत्वे सति सिद्धार्थप्रतिपादकत्वं नियमसूत्रत्वम् । विधिसंकोचकत्वं नियमत्वम् । जैसे- "रात्सस्य" ।

5. अतिदेश- अतिदेशो नाम इतरधर्मस्य इतरस्मिन् प्रयोगायादेशः। यथा- "स्थानिवदादेशोऽनल विधौ"

प्रकृतात् कर्मणो यस्माद् तत् समानेषु कर्मसु ।
धर्मप्रवेशी येन स्यात् सोऽतिदेश इति स्मृतः ।।[11]

6. अधिकार- स्वदेशे वाक्यार्थ शून्यत्वे सति परदेशे वाक्यार्थ बोधकत्वमधिकारत्वम् । यथा- "धातोः" । अधिकार के तीन भेद हैं । तीनों भेदों का वर्णन क्रमशः इस प्रकार है-

(1) कश्चिद् एकदेशस्थः सर्वं शास्त्रम् अभिज्वलति यथा- प्रदीपः सुप्रविज्वलितः सर्वं वेश्म अभिज्वलति ।

(2) अपरोऽधिकारो यथा- रज्वाय सा वा बद्धं काष्ठमनुकृष्यते तद्वत् अनुकृष्यते चकारेण ।

(3) अपरोऽधिकारः प्रतियोगं तस्यानिर्देशार्थः इति योगे योगे उपतिष्ठति ।

संसार की अति प्राचीन भाषाएँ नियमित व्याकरण के अभाव में दुरुह बन गई हैं। संस्कृत भाषा के गद्य एवं पद्य दोनों एक समान पाणिनि शास्त्र से नियमित होने के कारण सब काल खण्ड में सुबोध बनी रही है। संस्कृत भाषा का जहाँ तक विस्तार है वहीं तक पाणिनीय व्याकरण शास्त्र का प्रमाण है ।

पाणिनि एवं अष्टाध्यायी का महत्व- महर्षि पाणिनि द्वारा अष्टाध्यायी की रचना की गई है। अष्टाध्यायी नाम से ही स्पष्ट है कि पाणिनीय व्याकरण में आठ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में चार-चार पाद (चरण) हैं । पादों की कुल संख्या ३२ एवं सूत्रों की संख्या लगभग चार हजार है। भगवान् पाणिनि का महान् अष्टाध्यायी इस दृष्टि से भी हमारे लिए महत्वपूर्ण है कि यास्क की निरुक्त कृति की तरह उस पर

एक ही आचार्य के कर्तृत्व की महता है । पाणिनि के सूत्र अत्यन्त संक्षिप्त हैं । उन्हें छोटा बताने में जिन विविध उपायों से कार्य किया गया वे उनकी मौलिक समझ को प्रकट करते हैं ।

यहाँ संक्षिप्त शैली सर्वथा स्पष्ट है एवं कहीं भी सुरूह नहीं है। जिस कालखण्ड से सूत्रों का अध्ययन-अध्यापन आरम्भ हुआ उस कालखण्ड से आज तक उनके शब्दों के अर्थ स्पष्ट रहे हैं। अष्टाध्यायी की रचना से पूर्व शब्द विद्या का विकास हो गया था किन्तु अष्टाध्यायी जैसे वृहद् सर्वाङ्गपरिपूर्ण शास्त्र के सामने प्राचीन व्याकरण पूर्ववर्ती आचार्यों में केवल यास्क कृत निरुक्त प्राप्त होती है तथा वह भी केवल इस कारण कि उसका ध्येय वैदिक शब्दों का निर्वचन करना था । पाणिनि के काल खण्ड में संस्कृत जनभाषा (बोलचाल/लोकभाषा) थी। यथा- दूर से पुकारना- दुराद्धूतेच।[12] डांट फटकार- भर्त्सने।[13] प्रश्नोत्तर- प्रष्टप्रतिवचने।[14] अभिवादन का उत्तर देना- प्रत्यभिवादेऽशूद्रे।[15] इत्यादि सूत्रों से ज्ञात होता है कि उस काल खण्ड में संस्कृत की व्यवहारिक उपयोगिता अवश्य थी।

शैली–

पाणिनीय व्याकरण शैली की विशेषता इससे है कि उन्होंनें धातुओं से शब्द सिद्धि की पद्धति को स्वीकार किया । इसके लिए उन्होंने लोक में प्रचलित धातुओं का वृहत्त संग्रह धातुपाठ में किया । दूसरी ओर जिस प्रकार धातुओं से संज्ञा शब्द होते हैं उस प्रक्रिया में सामान्य एवं विशेष विधि से बताकर कृदन्त प्रत्ययों की लम्बी सूची दी है । जिस अर्थों में वे प्रत्यय शब्दों में जुड़ते हैं उसका ज्ञान भी कराया है । यह सीधी शैली शब्द-ज्ञान के लिए नितान्त सरल एवं सुबोध सिद्ध हुई । शब्द का अर्थ व्यक्ति है या जाति, यह एक पुराना विवादस्पद प्रश्न है । महाभाष्य में इसका विस्तृत शास्त्रार्थ दिया गया है। आचार्य वाजप्यायन का मत था यथा- आकृत्यभिधानाद्वैक विभक्तौ वाजप्यायनः। अर्थात् गो शब्द का अर्थ गो-जाति मात्र है । आचार्य व्याडि का मत था यथा- द्रव्याभिधानं व्याडि । अर्थात् गो शब्द व्यक्ति रूप केवल गौ

का वाचक है । पाणिनि ने उक्त दोनों मतों में सत्यता देखी । एतदर्थ दोनों को अष्टाध्यायी में स्थान दिया । यथा- जात्याख्याया एकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम् ।[16] अर्थात् इस सूत्र में यह माना कि शब्द का अर्थ जातिमात्र है। तथा सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ।[17] इस सूत्र में शब्द का अर्थ द्रव्य या एक व्यक्ति माना गया है । पतञ्जलि ने महाभाष्य के 'पस्पशान्हिक' में इस सम्बन्ध में पाणिनि की स्थिति को संक्षेप में स्पष्ट किया है ।

कात्यायन की दृष्टि में पाणिनि-

पाणिनि के सूत्रों पर वार्तिकों की रचना करके कात्यायन ने सूत्रों की पृष्ठभूमि का परिचय दिया । उन्होंनें सूत्रों पर नए विचारों की उद्भावना प्रस्तुत की है । एतदर्थ बहुमुखी समीक्षा से पाणिनि का व्याकरण शास्त्र तप गया । वार्तिकों की रचना करने के पश्चात् स्वयं कात्यायन ने पाणिनि के प्रति अत्यन्त श्रद्धावान् होते हुए अपने अन्तिम वार्तिक में भक्ति भरे शब्दों से पूर्ण किया । यथा- भगवतः पाणिनेः सिद्धम् ।

पतञ्जलि की दृष्टि में पाणिनि-

पाणिनि एवं कात्यायन के शास्त्रों का चिन्तित अध्ययन करते हुए पतञ्जलि ने अपने पाण्डित्य एवं विलक्षण व्यक्तित्व का भी अमिट प्रभाव महाभाष्य में है। पतञ्जलि ने भी कात्यायन के तुल्य पाणिनि के लिए भगवान् पद का प्रयोग किया। उन्होंने कात्यायन को भी एक बार इस विरद से अलंकृत किया।[18] पाणिनि के लिए भाष्यान्त में कहा- भगवतः पाणिनेराचार्यस्य सिद्धम्।[19] पतञ्जलि के काल खण्ड में पाणिनि व्याकरण का अध्ययन आरम्भिक कक्षाओं तक फैल गया था। यथा- आकुमारं यशः पाणिनेः।[20] एपास्य यशसो मर्यादा। काशिका के अनुसार पाणिनि का व्याकरण जब लोक में फैला तो चारों तरफ उनका प्रमाण मानते हुए "इतिपाणिनि" एवं "तत्पाणिनि" ध्वनि सुनाई पड़ने लगी।[21] पतञ्जलि ने पाणिनि को प्राणभूत आचार्य की सम्मानित उपाधि दी। यथा- प्राणभूत आचार्यों दर्भपवित्रपाणिः शुचाववकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता यत्नेन सूत्रं प्रणयति स्म।[22] अर्थात् प्रमाणकोटि में पहुँचे हुए आचार्य ने कुशा से हाथ पवित्र करके पूर्वाभिमुख बैठकर मस्तिष्क के बड़े प्रयत्न से सूत्रों की रचना की। पाणिनि के सन्दर्भ में ऋग्वेदभाष्यकार श्रीवेङ्कटमाधव ने कहा- शाकल्यः पाणिनिर्यास्क इत्यृगर्थपरास्त्रयः।[23] इस प्रकार पाणिनि के विषय में प्रमाण प्राप्त होते हैं।

निष्कर्ष- सभी प्राच्य विद्वानों एवं पाश्चात्य संस्कृतज्ञों ने पाणिनीय अष्टाध्यायी को व्याकरण के क्षेत्र में सर्वोच्च कोटि का ग्रन्थ माना है। जिसके ऊपर महाभाष्य एवं काशिका जैसे प्राणभूत प्रमाणिक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। काशिका सूत्रानुसारी ग्रन्थ है । जिसमें अष्टाध्यायी सूत्रों के क्रम से उनका व्याख्यान किया है तथा दूसरा पक्ष प्रक्रिया का है जिसमें सिद्धान्तकौमुदी है । सिद्धान्तकौमुदी में प्रक्रिया द्वारा शब्दों की सिद्धि एवं अर्थ का व्याख्यान होता है। इसी प्रकार अन्य ग्रन्थ भी हैं जिनमें पाणिनीय सूत्रों के व्याख्यान उपलब्ध होते हैं । पाणिनीय अष्टाध्यायी का उद्देश्य अध्ययन करना ही नहीं है अपितु अष्टाध्यायी वेदार्थ के लिए एक साधन भी है । जिसके द्वारा हम वेदार्थ एवं शब्दार्थ का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं । साथ ही उन शब्दार्थों को समझ कर वेद के पदों के अर्थ तक पहुँच सकते हैं।

संदर्भः

1. पतञ्जलि, महाभाष्य-1.2.32
2. पतञ्जलि, महाभाष्य पस्पशान्हिक
3. वायुपुराण-59/142
4. वाचस्पतिमिश्र, भामती टीका- 1/1/1
5. पतञ्जलि, महाभाष्य-1/1/3
6. पतञ्जलि,महाभाष्य-1/1/1
7. वरदराज, लघुसिद्धान्तकौमुदि पृष्ट.7
8. पतञ्जलि, महाभाष्य-1/1/23
9. नागेशभट्ट, महाभाष्य उद्योत-2/1/1
10. कुमारिलभट्ट, तन्त्र वर्तीक-1/234
11. सुखानन्दनाथ, शब्दार्थ चिन्तामणि
12. पाणिनि, अष्टाध्यायी -8/2/84
13. पाणिनि,अष्टाध्यायी-8/2/95
14. पाणिनि,अष्टाध्यायी-8/2/93
15. पाणिनि,अष्टाध्यायी-8/2/93
16. पाणिनि,अष्टाध्यायी-1/2/58
17. पाणिनि,अष्टाध्यायी-1/2/64
18. पतञ्जलि,महाभाष्य-3/2/3
19. पतञ्जलि,महाभाष्य-8/4/68
20. पतञ्जलि,महाभाष्य-1/4/89
21. जयादित्यवामन,काशिका-2/1/6
22. पतञ्जलि,महाभाष्य-1/1/1
23. वेङ्कटमाधव-मन्त्रार्थानुक्रमणी, ऋग्भाष्य, 8/1

आदिवासी केन्द्रित समकालीन हिन्दी उपन्यासों में अभिव्यक्त आर्थिक संघर्ष

अनुज कुमार
पीएच.डी.शोधार्थी, हिन्दी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

शोध सारांश :

विकास की अवधारणा सभ्य समाज की स्वार्थगत नीतियों पर टिकी है। जिसमें वह प्रकृति का मनचाहा दोहन करती है। इस दृष्टि से देखा जाए तो विकास के नाम पर पूंजीवादी व्यवस्था का सबसे अधिक प्रभाव आदिवासी जीवन पर पड़ा है। जिन ज़मीनों पर उनका अधिकार था, जो जंगल उनके घर थे वो सब उनसे छिन गए। जिसेक कारण आदिवासी, ठेकेदारों और भू-स्वामियों के बंधुआ मजदूर बनकर रहे गए। राष्ट्र विकास के नाम पर आदिवासी हितों को कुचला गया। पंचवर्षीय योजनाओं में जो विकास का मॉडल प्रस्तुत किया गया उससे आदिवासी समाज को विस्थापन, बेरोजगारी, भुखमरी, अशिक्षा, वेश्यावृत्ति आदि के सिवाए मिला ही क्या है। आदिवासी जीवन को केंद्र में रखकर अनेक उपन्यास लिखे गए हैं। जिनमें उनके जीवन के संघर्ष को कलमबद्ध किया गया है। हम यहाँ समकालीन हिन्दी उपन्यासों में अभिव्यक्त आदिवासी जीवन के आर्थिक पक्ष पर चर्चा करेंगे। साथ ही उन बिन्दुओं को भी रेखांकित करने का प्रयास करेंगे जिनसे आदिवासी समाज के भीतर एक विद्रोह की भावना पनप रही है।

बीज शब्द : आदिवासी, अर्थ, विद्रोह, संघर्ष, विस्थापन, वेश्यावृत्ति, भुखमरी, अशिक्षा।

प्रस्तावना

आदिवासी शब्द आदि और वासी के संयोग से बना है। जिसका अर्थ मूल निवासी होता है। इस दृष्टि से आदिवासी किसी भी देश के मूलनिवासी होते हैं। भारतीय संविधान में आदिवासियों के लिए अनुसूचित जनजाति पद का प्रयोग किया गया है। ये भारत की आबादी का लगभग 8.6% हिस्सा है जो कि एक निश्चित भू-भाग में संगठित रूप में रहते हैं। उनकी अपनी बोली और संस्कृति होती है। बहुत से आदिवासी समुदाय जंगलों में निवास करते हैं। सभ्य समाज से दूर आदिवासी समाज मूलभूत सुविधाओं से भी वंचित हैं। भूमंडलीकरण के दौर में अर्थ का महत्व अत्यधिक बढ़ गया है। उपभोक्तावादी संस्कृति ने मनुष्य की आसीमित आवश्यकताओं को जन्म दिया है। आर्थिक आधार पर समाज को तीन भागों में विभाजित किया गया है- उच्च वर्ग, मध्य वर्ग, निम्न वर्ग। निम्न वर्ग के अंतर्गत आदिवासी समाज आता है जो कि अपना जीवन जीने के लिए निरंतर संघर्षरत है।

भारत को आजाद हुए 75 वर्ष से ऊपर हो गए हैं किन्तु आदिवासी समाज की आर्थिक स्थिति दयनीय और सोचनीय बनी हुई है। रोटी, कपड़ा और मकान जैसी मूलभूत आवश्यकताएँ भी उस तक नहीं पहुँच पाई हैं। "सरकारों द्वारा प्राकृतिक संसाधनों का दोहन, जमीन और जंगलों से आदिवासियों की बेदखली, उनकी सामुदायिक आर्थिक व्यवस्था का नाश आदि कारणों से आज भी आदिवासी पिछड़े हुए हैं।"[1]

जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिए अर्थ की आवश्यकता होती है। आदिवासी समाज के जीविकोपार्जन का मुख्य साधन खेती रही है। वह इस दृष्टि से जंगलों पर निर्भर रहा है किन्तु विकास की आड़ में उन्हें जंगलों से खदेड़ दिया जाता है। जिसके कारण उन्हें अपने और अपने परिवार का पेट भरने के लिए दर-दर भटकना पड़ता है। आर्थिक अभाव उनके सम्मुख काल के समान खड़ा है। जो उन्हें अपने भीतर समाने को आतुर है। उससे बचने के लिए आदिवासी समाज को अपनी जमीन छोड़कर विस्थापन का दंश झेलना पड़ता है। बेरोजगारी और भुखमरी के कारण भी उन्हें अपना घर छोड़ना पड़ता है।

"छैला संदु" उपन्यास में मंगल सिंह मुंडा ने इस करुण कथा का चित्रण कुछ इस प्रकार किया है- "यहाँ एक आदिवासी परिवार रहता है। घर-परिवार के हाव-भाव से आभास होता है कि यह परिवार जीविकोपार्जन की तलाश में भटकते-भटकते यहाँ आकर टिक गया है। इसका घर क्या है कि मात्र एक पड़ाव कहा जाए। अपने गुजारे की तलास में अपनी जान-माल की रक्षा हेतु भटकते एक इंसान का पड़ाव है।"[2]

आदिवासी समाज के आर्थिक अभाव का चित्रण मनमोहन पाठक ने अपने उपन्यास 'गगन घटा घहरानी' में बड़ी ही संजीदगी से किया है। इस उपन्यास में झारखंड के पलामू क्षेत्र में निवास करने वाले उराव आदिवासियों के जीवन का यथार्थ चित्रण किया गया है। आज हम एक तरफ तो उत्तर आधुनिकता के दौर में जी रहे हैं, विकास की नाओं में सवार होकर जंगलों को काटकर मेट्रो, बड़ी-बड़ी फैक्ट्रियाँ, पक्की सड़कें, मौल, आदि का निर्माण कर रहे हैं। वहीं दूसरी तरफ एक समाज ऐसा भी है जो इस विकास की चका-चौंद से इतना दूर है कि उसका प्रकाश वहाँ तक नहीं पहुँच पाता। वह तो अपना पेट भरने की जद्दोजहद में ही जीवन यापन कर रहा है। उसके लिए भूख का प्रश्न बड़ा है। आर्थिक रूप से कृषि पर निर्भर रहने वाले आदिवासियों को सूखा और आकाल के कारण अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। अपनी भूख की आग मिटाने के लिए बंधुआ मजदूर बनना पड़ता है। आर्थिक संकट से जूझ रहे आदिवासियों की दयनीय स्थिति का जमींदार भी अपनी स्वार्थ सिद्धि हेतु लाभ उठाते हैं। इस तथ्य को उपन्यासकार मनमोहन पाठक ने उद्घाटित किया है। जब आकाल पड़ने के कारण खेत सूख जाते हैं। तो उपन्यास के पात्र चेतू और दगड़ू अपना खेत जमींदार रायसाहब के पास गिरवी रख देते हैं। जो उन्हें वापस नहीं मिल पाता। उनके लिए तो अभाव से उपजी दरिद्रता से ग्रसित ज़िंदगी का शोषण ही स्थायी भाव बन कर रह जाता है। श्री प्रकाश मिश्र के उपन्यास 'जहां बांस फूलते हैं' में उत्तर-पूर्व मिजोरम में स्थित आदिवासी लुशेइओं के जीवन की त्रासदी को रेखांकित कर उनके आर्थिक अभाव के कारणों को उद्घाटित किया है। उपन्यास में मिजो मेहनत कर जंगल साफ कर धान लगाता है। किन्तु जब फसल बड़ी हो जाती है तो जमींदार उनकी फसल काट कर ले जाते हैं। उपन्यास में इस घटना का चित्रण कुछ इस प्रकार किया गया है- "भूख का मारा मिजो कुछेक वर्षों तक इंतजार करता था, फिर जंगल को साफ कर धान लगा जाता था, फसल जब तैयार होने को होती थी, तब अपना झोपड़ा बनाया जाता था। फिर एक दिन रात को इलाके के पुराने जमींदार रामनाथ लश्कर और मुश्ताक खांडकार अपने साथियों के साथ आ धमकते, इनके घरों को उजाड़ फसल काट कर ले जाते और खेती लायक जमीन दो-चार साल के लिए कब्जा कर लेते थे।"[3]

शासन की उपेक्षा का शिकार, आर्थिक अभाव से भरे जीवन और शोषण की मार झेलते आदिवासी जब कभी इसके विरुद्ध अपनी आवाज बुलंद कर अधिकारों की मांग करते हैं तो उन्हें नक्सली कह दिया जाता है। इस उपन्यास में आर्थिक विषमता के कारण उपजे आदिवासियों के आक्रोश को भी चित्रित किया गया है। अभावों से उपजे इस आक्रोश को हमें संवेदना की दृष्टि से देखना चाहिए। सन् 1958 में मिजोरम में पड़े आकाल से उपजी भूख से बिलबिलाते मिजो के लिए भारत सरकार द्वारा कोई ठोस कदम नहीं उठाए गए जिसके चलते वहाँ 1966 में लालडेड़ा के नेतृत्व में सरकार के विरुद्ध मोर्चा खोल दिया था। आर्थिक विषमता से जूझ रहे आदिवासियों को सचेत करते हुए लालडेड़ा उपन्यास में एक स्थान पर कहता है-"मिजो बंधुओं ! बहुत दिनों से ये धनी लोग, ये वाई लोग लोगों का सुख अपनी तिजोरियों में कैद रख चुके हैं। गरीबों का आहार उनके गोदामों में मूल्यवृद्धि की प्रतीक्षा करते करते सड़ रहा है। समय आ गया है कि वे अब अपनी तिजोरियों और गोदामों में महरूम हों। उनकी अट्टालिकाओं को गिरा दिया जाए। और सारे वित को इन धरती के बेटों- इन झुके लोगों

में बाँट दिया जाए। समय आ गया है कि लुशाई हिल्स के सपूत उठें और इस निहंग धरती का भाग्य बादल दें।"[4]

तेजिंदर ने अपने उपन्यास 'काला पादरी' में मध्यप्रदेश की उरांव जनजाति की आर्थिक विपन्नता का चित्र उकेरा है जिसमें भूख की तड़प जान लेने को उतारु है। यह बड़ी दुख की बात है कि आजादी के 75 साल बाद भी हमारे देश में एक ऐसा समाज है जो भूख के कारण अपनी जान गवा रहा है। शासन तंत्र विकास की आड़ में आदिवासियों को जंगलों से दूर कर रहा है। साथ ही उनके साथ अमानवीय व्यवहार करने पर उतारू है। आदिवासियों की समस्याओं को समझकर उनके लिए शिक्षा और रोजगार को मुहैया कराना जरूरी है। जिससे वे भी मानवीय जीवन जी सके और देश की प्रगति में अपना योगदान दे पाएँ। 'काला पादरी' उपन्यास में आदिवासियों की दर्दनांक स्थिति और भूख का बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया गया है। जिसमें वे जंगलों की जहरीली जड़ी बूटियों के साथ बिल्ली और बंदरों का मांस खा रहे हैं। थाने में दर्ज रिपोर्ट में बताया जाता है कि "इस क्षेत्र के आदिवासी पिछले कई दिनों से जहरीली जंगली बूटियाँ खा रहे हैं और जिले के भित्री इलाकों में तो कुछ लोग अपनी भूख मिटाने के लिए बिल्लियों और बंदरों का शिकार कर उनका मांस खा रहे हैं।"[5] आकाल पड़ने के कारण आदिवासियों की स्थिति अत्यंत दयनीय हो गई है। भूख के कारण एक आदिवासी स्त्री और उसके दो बच्चे मर जाते हैं। जिसे उपन्यासकार ने कुछ इस प्रकार चित्रित किया है- "साहब रात में बच्चा मर गया। उसकी माँ ने कई दिनों से कुछ खाया नहीं था। उसको गोद में लेकर उसकी माँ भी मर गई। उसने भी कई दिनों से कुछ खाया नहीं था।"[6] यह आदिवासी जीवन का यथार्थ है जिसमें भूख, अभाव और दारिद्य स्पष्टता से लक्षित होता है। "वास्तव में 'काला पादरी' उपन्यास में भारत के सर्वाधिक उत्पीड़ित व उपेक्षित आदिवासियों की जीवन स्थितियों के अनेक पहलुओं को लेखक ने समाजशास्त्रीय दृष्टि, किन्तु साथ ही लेखकीय संवेदना से इस ढंग से चित्रित किया है कि भारतीय समाज की जटिलता भी उभरकर सामने आती है और साथ ही आदिवासियों के जीवन की पीड़ा का मार्मिक अंकन भी लेखक की कलम से होता है।"[7]

इस उपन्यास के मूल में भूख की समस्या है। जिसका चित्रण उपन्यासकार ने कुछ इस प्रकार किया है- "एक आदमी भूखा है और भूख की वजह से बीमार है। भूख एक, भूख दो, भूख तीन, भूख चार, भूख पाँच और भूख छह। उसने भूख छह तक का रिकॉर्ड बनाया है। एक ऐसा रिकॉर्ड जिसे दस्तावेजों में दर्ज करने वाला कोई नहीं। कोई गिनीज़ बुक ऑफ वर्ल्ड रिकॉर्ड नहीं, कोई लिम्का नहीं, कोई थम्स अप नहीं। इस तरह जब वह भूख छह तक पहुँच जाता है तो उसे लगता है कि बस अब इसके बाद और कुछ नहीं। लेकिन वह अपने आसपास बहुत सारे लोगों से घिरा है। वे उसे गाँव की चौपाल पर लिटा देते हैं। उसे अन्न की जरूरत है किन्तु अशिक्षा के कारण आदिवासी मानते हैं कि यह कोई भूत प्रेत का चक्कर है।"[8]

भगवान दास मोरवाल का उपन्यास 'काला पहाड़' आदिवासी मेवातों के आर्थिक पिछड़ेपन को रेखांकित करता है। उपन्यास का कथ्य हरियाणा, उत्तर प्रदेश और राजस्थान की सीमा पर स्थित मेवात है। सरकार द्वारा समय-समय पर आदिवासियों के आर्थिक सुधार हेतु जो वायदे किए जाते हैं वो कभी पूरे नहीं हो पाते। उपन्यास में जब प्रधानमंत्री महूं नामक गांव में आते हैं जो कि काले पहाड़ की घाटी में बसा है तो वहां का सरपंच अपनी आर्थिक स्थिति को उद्घाटित करते हुए कहता है कि- "माननीय प्रधानमंत्री जी जैसा कि आप जानते हैं हमारा यह इलाका बेहद गरीब और पिछड़ा हुआ है। यहां पिछले कई सालों से न के बराबर बारिश हो रही है। जिसके कारण सारे जोहड़ और तालाब सूख चुके हैं। मटर, जौ, चना जैसी फसलें पैदा होनी बंद हो गई हैं। इसलिए इलाके की ओर से चौबीसी की पहली मांग यह है कि मेवात में सिंचाई की पर्याप्त सुविधाएं मुहैया कराई जाएं और बरसों से मंजूर 'मेवात नहर' का निर्माण जल्दी शुरू कराया जाए।"[9]

किंतु राजनेताओं द्वारा आदिवासियों के कल्याण के लिए जो घोषणा की जाती हैं वो सब खोखली हैं। न वहां स्कूल की स्थापना हो पाती है, न कोई अस्पताल बनता है, न ही रोजगार के लिए कुछ किया जाता है। इस दृष्टि से डॉ० कुंवर पाल सिंह की उपन्यास के संदर्भ में की गई टिप्पणी सटीक जान पड़ती है- " समूचा उपन्यास मानो इस 'भरोसा उठने' की प्रक्रिया को उद्घाटित करने का अथक प्रयास है। इस क्रम में लेखक राजनीति, सत्ता, अर्थव्यवस्था, विकास की प्रक्रिया को सभी को खंगालता है। और उनकी जिजीविषा तथा जीवट को भी रेखांकित करता है, जिन्हें निम्न जाति को और तिरस्कृत समझा जाता है।"[10]

आदिवासियों के शोषण के तरीकों में एक महाजनी शोषण है। जिसमें आदिवासियों को मदत के नाम पर कर्जा दिया जाता है और फिर वह उससे वापस मांगा जाता है और न देने पर उनकी ज़मीनों को गिरवी रख लिया जाता है। इस संदर्भ में विनोद कुमार का उपन्यास 'समर शेष है' को देखा जा सकता है। इस उपन्यास में झारखंड के आदिवासियों पर हो रहे महाजनी शोषणा का यथार्थ अंकन हुआ है। आदिवासियों की ज़मीनों को हड़प कर उन्हें दाने दाने को मोहताज कर दिया जाता है। वे मात्र बंधुआ मजदूर ही बन कर रह जाते हैं। उपन्यास में महाजन बिष्टू आदिवासियों को कर्ज दे-दे कर धीरे-धीरे सारी ज़मीनों का मालिक बैठता है- "कौन सा गाँव ऐसा था, जहां उसके कर्जदार नहीं थे। उन गाँवों की बहुत सारी जमीन का मालिक दरअसल वही था।"[11]

वेश्यावृत्ति जैसे कुकर्म करने पर भी आदिवासी स्त्रियाँ मजबूर हैं। आर्थिक अभाव उन्हें अपनी देह बेचने पर विवश कर देता है। कारखानों और खदानों में काम करती आदिवासी स्त्रियां वेश्यावृत्ति को अपना पेशा बना लेती हैं। 'समर शेष है' उपन्यास में हरेन्द्र मिश्र नामक पात्र आदिवासी महिला सावित्री को पैसा देकर शारीरिक संबंध स्थापित करता है। धीरे-धीरे यह प्रक्रिया उनकी आदत बन जाती है। पति के मना करने पर भी सावित्री बोलती है- "कुछ नहीं रखा इस फिजूल की बातों में... तुम क्या जानो... सब यही चाहते हैं हमसे...छोटे मालिक तो छोटे मालिक उनके सगे बाप को भी यह देह चाहिए और वह भी मुफ्त में...नहीं करनी मुझे अब ये बेगारी। मालिक से शरीर न नुचवाऊँ तो वे काम भी देंगे ? नहीं... कभी नहीं। उससे अच्छी है ये वेश्यावृत्ति। यह देखो पाँच-पाँच के तीन नोट दे गया है वह भला आदमी।"[12]

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि समकालीन हिंदी उपन्यासों में आदिवासी जीवन के आर्थिक संघर्ष को उभारा गया है। जिसमें सरकारी कारिंदे, पुलिस, जमींदार, ठेकेदार आदि सब मिलकर उनका शोषण करते हैं। उपन्यासकारों ने आदिवासी समाज का यथार्थ चित्रण कर उनकी जरूरतों को तथाकथित सभ्य समाज के सामने रखा है। इस प्रकार उन्होंने आदिवासी जीवन के संघर्ष और उनके भीतर उपजे आक्रोश के कारणों की पड़ताल कर संवेदना के धरातल पर व्यक्त किया है। आदिवासी समाज को लेखकों ने बड़ी ही संजीदगी से समझते हुए उनके आर्थिक शोषण को अपने उपन्यासों का विषय बनाया है। जो कि विमर्श की एक नयी जमीन तैयार करते हैं। आदिवासियों का जीवन जंगलों पर टिका है। किंतु भूमंडलीकरण और विकासवादी अवधारणा के तहत जंगल काटे जा रहे हैं। इस दृष्टि से सबसे अधिक आदिवासियों का जीवन प्रभावित हुआ है। जल, जंगल, जमीन से वंचित होते समाज में विद्रोह और आक्रोश की भावना पनप रही है। जिसे सरकार तानाशाही ढ़ंग कुचलने का प्रयास करती है। आज हमें उनकी जरूरतों को समझना होगा। साथ ही एक संवाद विकसित करना होगा जिसके चलते उनकी समस्याओं को समझकर उनका समाधान किया जा सके। साथ ही उन्हें भी रोटी, कपड़ा और मकान के साथ शिक्षा, रोजगार और स्वास्थ्य सेवाएं मुहैया कराने का प्रयास करें जिससे कि उन्हें भी मुख्य धारा में शामिल किया जा सके।

संदर्भः

1. डॉ० देबरे, शिवा जी, डॉ० मधु खराटे, (2013) *समकालीन हिंदी उपन्यासों में आदिवासी विमर्श,* विद्या प्रकाशना कानपुर, भूमिका से
2. मुंडा, मंगल सिंह, *छैला संदु,* (2004) राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ°-18
3. मिश्र, श्री प्रकाश, (1997) *जहां बांस फूलते हैं,* यश पब्लिकेशन्स, पृ° -69
4. वही, 1997, पृ° -5
5. तेजिंदर, (2005) *काला पादरी,* नैशनल पेपर बैक्स, नई दिल्ली, पृ° -21
6. वही
7. प्रो° चमनलाल, (2012) *दलित साहित्य :एक मूल्यांकन,* राजपाल एंड संस, पृ° -166
8. तेजिंदर, (2005) *काला पादरी,* नैशनल पेपर बैक्स, नई दिल्ली, प्र° सं° 2005, पृ° -71
9. मोरवाल, भगवान दास, (1999) *काला पहाड़,* राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० -18
10. कलासवा, प्रो०बी०के०, (2009) *हिंदी में आदिवासी जीवन केंद्रित उपन्यास का समीक्षात्मक अध्ययन,* मयूर प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ, -255
11. कुमार विनोद, (2005) *समर शेष है,* प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, पृ° -07
12. वही, पृ° -178

आत्मकथाओं में स्त्री दलन और मुक्ति

डॉ. उमा मीणा
सह-प्रोफेसर, हिंदी विभाग
मिरांडा हाउस, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

शोध सारांश:
पारिवारिक और सामाजिक संरचना में परम्पराओं और मर्यादाओं के नाम पर स्त्रियों को कई प्रकार के बंधनों में बांधकर रखा जाता है जिनके कारण पुरुषों के समान वे अपना विकास नहीं कर पातीं। इन दोहरे मानदंडों के प्रति स्त्री ने अपना आक्रोश और प्रतिरोध अपनी आत्मकथाओं में दर्ज किया है। विविध पारिवारिक और सामाजिक बंधनों में जिस प्रकार के शोषण और भेदभाव के कारण वे सिकुड़ी और सिमटी रही हैं, उन बंधनों से मुक्त होने की अपनी छटपटाहट और मुक्ति के प्रयासों को वे अपनी आत्मकथाओं में प्रस्तुत करती हैं । स्त्री चाहे वह जिस भी देश, संप्रदाय, समाज, जाति, वर्ग की हो उन्हें इस प्रकार के संघर्षों से गुजरना पड़ा है। तहमीना दुर्रानी, प्रभा खेतान, मैत्रेयी पुष्पा, मन्नू भण्डारी अपनी आत्मकथाओं में परिवारों में लड़के और लड़की के बीच किए जाने वाले भेदभाव, चाहे वह उनके पालन- पोषण में हों, उनके खेलकूद, शिक्षा-दीक्षा आदि में, सभी को अपने बचपन की स्मृतियों में याद करती हैं । इनमें से बहुत सारी लेखिकाओं को शिक्षा प्राप्ति के लिए भी बहुत संघर्ष करना पड़ा है। इस्मत चुगताई, मैत्रेयी पुष्पा और सुशीला टांकभौरे की आत्मकथाएं स्त्री शिक्षा की जद्दोजहद को प्रस्तुत करती हैं। भारतीय समाज में विवाह व्यक्तिगत मामला नहीं है वरन लड़के-लड़कियों के लिए जीवनसाथी का चुनाव प्रायः माता-पिता द्वारा किया जाता है। शिक्षा प्राप्त कर अपने पैरों पर खड़ी होने वाली स्त्री के लिए भी विवाह के निर्णय की स्वतंत्रता परिवार और समाज के द्वारा नहीं मिलती है। मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा 'कस्तूरी कुंडली बसे', रमणिका गुप्ता की आत्मकथा 'हादसे' और मन्नू भंडारी की आत्मकथा 'एक कहानी यह भी' तथा कौशल्या बैसंत्री की आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' में इस प्रकार की स्थितियां देखने को मिलती हैं । अपनी व्यक्तिगत प्रतिभा के बल पर किसी मुकाम को हासिल कर लेने वाली स्त्री भी प्रायः दोयम दर्जे पर रखी जाती है। स्त्रियों को साहित्य क्षेत्र में , राजनीति में तथा व्यापारिक क्षेत्र में भी तमाम उपलब्धियों के बावजूद वो सम्मान और प्रतिष्ठा नहीं मिल पाती जो एक पुरुष प्राप्त करता है। स्त्री के श्रम और यौन शोषण की स्थितियां घर और बाहर दोनों जगह बनी रहती हैं जिन से टकराते हुए स्त्री अपनी पहचान बनाती है। तहमीना दुर्रानी और रमणिका गुप्ता जहाँ राजनीति में अपनी पहचान बनाती हैं तो इस्मत चुगताई, मन्नू भण्डारी और मैत्रेयी पुष्पा साहित्यिक क्षेत्र में अपना नाम दर्ज करती हैं, वहीं प्रभा खेतान लीक से अलग चलते हुए व्यापारिक क्षेत्र में उपलब्धियां अर्जित करती हैं ।

बीज शब्द :
बंधन, स्वतंत्रता, परंपरा, मुक्ति, पहचान, निर्णय, प्रतिरोध

आज स्त्रियाँ विविध विधाओं में अपने लेखन के माध्यम से साहसपूर्वक अपने जीवन के उन पक्षों को उजागर कर रही हैं जो अब तक उनके निजी थे । अपनी नज़र से वे परिवार और समाज का विश्लेषण कर रही हैं । हमारी सामाजिक संरचना में स्त्री-पुरुष के बीच पक्षपात को पोषित करते हुए स्त्री को तमाम तरह के बंधनों में जीने को बाध्य किया गया । इन बंधन और मर्यादाओं की जकड़न से मुक्ति की चाह स्त्रियों में सदा से रही है । स्त्री आत्मकथाओं में पारिवारिक-सामाजिक व्यवस्था में अपने प्रति बरती गई उपेक्षा के प्रति आक्रोश और प्रतिरोध के स्वर सुनाई देते हैं । पारिवारिक बंधनों खास तौर से माँ की हुकूमत से आजाद होने की चाह तहमीना में तीव्रतर है। वह कहती हैं कि "हमें इस तरह पाला-पोसा जा रहा था कि हम खंडित मानसिकता वाले बनें।

हमारे यहाँ सहज भावनाओं के मुकाबले एकदम चाक-चौबंद दिखने को ज्यादा अहमियत दी जाती थी। अपने आपको तलाशने का तो कोई सवाल ही पैदा नहीं होता था। अस्मिता और निजता को कुचल दिया जाता था। शख्सियत बन ही नहीं पाती थी। मेरा दिमाग तो जैसे इस घर से भाग निकलने के गुप्त ख्यालों का अभयारण्य बन गया।''[1] तसलीमा भी ऐसे ही बंधनों से आजाद होना चाहती है। अपनी इच्छा को प्रकट करती हुई वह कहती है–''मैं बड़े भैया से प्यार भी करती थी, ईर्ष्या भी। वे जहाँ चाहे जा सकते थे, जो चाहे कर सकते थे। वे मोटर साइकिल से पूरा शहर घूमते रहते थे। वे विभिन्न शहरों में जाते थे–टाँगाइल, जमालपुर, नेत्रकोना। मुझे भी घूमने की बड़ी इच्छा करती।''[2] अपनी स्वाभाविक इच्छाओं को कुचले जाने का वे विरोध करती हैं ।

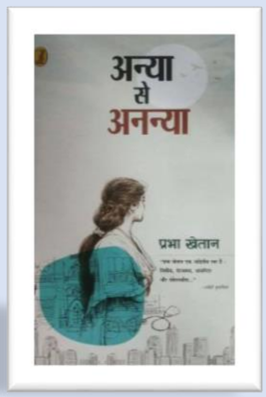

प्रभा खेतान ने अपने लिए परंपरागत स्त्री से भिन्न एक अलग रास्ता चुना था। प्रभा नारी के परंपरागत वैवाहिक जीवन से खुश नहीं है। वह कहती है–''मुझे अम्मा की तरह नहीं होना, कभी नहीं। भाभी की घुटन भरी जिंदगी की नियति मैं कदापि स्वीकार नहीं कर सकती। मैं अपने जीवन को आँसुओं में नहीं बहा सकती। ... अम्मा, जीजी, भाभीजी, ताई, चाचियाँ क्या सभी रोने के लिए पैदा हुईं।''[3] इसलिए वह विवाह न करने का निश्चय करती है। उसकी नजरों में सात फेरों का कोई महत्त्व नहीं है। वह डाक्टर सर्राफ से कहती है–जो घट गया, जिससे प्रेम हो गया मैं उसे ही विवाह मानती हूँ और समाज? मुझे समाज की परवाह नहीं। वह मानती है कि आर्थिक स्वतंत्रता ही स्त्री की स्वतंत्रता है। वह अपने स्कूल की प्रधानाध्यापिका से कहती भी है–''आप नहीं जानतीं, बहनजी, औरत की सारी स्वतंत्रता उसके पर्स में निहित है।''[4]

अपने जीवन के अंतरंग प्रसंगों को पूर्ण ईमानदारी के साथ उद्घाटित करती प्रभा यह स्वीकार करती है कि जब वह डाक्टर सर्राफ की ओर से अपने को उपेक्षित समझती है तो विद्रोह स्वरूप निर्णय लेती है कि ''पुरुष जैसे औरत को काम में लेता है, औरत भी वैसे ही पुरुष का व्यवहार कर सकती है। औरत भी तो कह सकती है तू नहीं तो कोई और सही। कम-से-कम एक बार किसी अन्य पुरुष की बाहों में अपना होना तो महसूस कर पाऊँगी।''[5] डॉक्टर सर्राफ के साथ अपने संबंधों के चलते भारतीय समाज में उन्हें किन-किन परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है, यह भी वे अपनी जीवन कहानी में बताती हैं। वह बताती हैं कि ''मैं जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं से अपना पाठ सीख रही थी। यह भी समझ रही थी कि केवल पढ़ने से, अध्ययन-चिंतन और लेखन से स्त्री स्वतंत्र नहीं हो जाती, सामाजिक पंगुता के विरुद्ध क्रोध और विद्रोह की भावना व्यक्त करने से ही मैं व्यक्ति नहीं हो जाऊँगी। संस्कारों से, परम्परा से मुक्ति की यात्रा बहुत लम्बी है और बड़ी कठिन। दो पैसे कमा लेने से ही मुझे निर्णय की स्वतंत्रता मिल जाएगी ऐसा नहीं है।''[6]

विवाह के पश्चात् तहमीना, मुस्तफा के दोहरे व्यक्तित्व के साथ सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाती और उसके शोषण का शिकार होती है। मुस्तफा के द्वारा बेरहमी से पीटे जाने का उसके मस्तिष्क और व्यक्तित्व पर गहरा प्रभाव पड़ता है,वह कहती है–''मैंने महसूस किया कि हमारी शादी हमारे संबंध पर नहीं बल्कि जटिल बाहरी शक्तियों पर सधी थी, जैसे–मेरा अहं, मेरे परिवार और समाज की नजरों में विफलता का भय, मेरे बच्चों को खोने का भय, एक शादीशुदा महिला की हैसियत खोने का भय।''[7] मुस्तफा के दोहरे व्यक्तित्व के कारण तहमीना सदा तनावग्रस्त रहती है ''मैं हमेशा अभिनय करती रहती थी क्योंकि मुझे डर था कि मेरी वैवाहिक जिंदगी की पोल खुल जाएगी ।"[8] तहमीना द्वारा अपनी आत्मकथा अपने अस्तित्व की पहचान को बनाए रखने के लिए लिखी गई है। आत्मकथा के अंत में वह अपनी पहचान ढूँढती हुई द्वन्द्वग्रस्त रहती है–''लेकिन अगर मैं बेगम मुस्तफा खर नहीं थी, तो फिर मैं थी कौन? मेरे बचपन की तहमीना दुर्रानी अब मेरे लिए अजनबी थी, एक भ्रमित नन्हीं लड़की थी जिसके कद से अब मैं ऊपर निकल चुकी थी। मैं उससे कोई नाता नहीं जोड़ पाती थी। क्या मेरे अंदर कोई नई तहमीना दुर्रानी थी, जो ज्यादा उम्रदराज, ज्यादा दु:खी, लेकिन ज्यादा समझदार भी थी।''[9] अपनी पहचान को बरकरार रखने के लिए ही उसने परंपरागत खामोशी को तोड़ते हुए अपनी आत्मकहानी 'मेरे आका' लिखी और मुस्तफा के द्वारा किये गए अपने अपमान के जवाब में कहा–''देखो मुस्तफा, अब दुनिया जल्दी ही तुम्हें सिर्फ तहमीना दुर्रानी के भूतपूर्व पति के रूप में जानेगी।''[10]

आत्मकथा 'कस्तूरी कुंडल बसै' में पति की मृत्यु के बाद अपनी कमजोर स्थिति को मजबूत बनाने के लिए कस्तूरी शिक्षा प्राप्त करके अपने पैरों पर खड़ी होना चाहती है मगर परंपरा और रूढ़ियों से ग्रस्त उस गांव में जहाँ विधवा स्त्री का घर से बाहर पाँव रखना संभव ही

नहीं है, वहाँ परंपरा तोड़कर कस्तूरी का शिक्षा के लिए बाहर जाना एक क्रांतिकारी कदम होगा । इसी अंतर्द्वन्द्व से ग्रसित कस्तूरी सोचती है–''ससुर मना नहीं करेंगे, मगर रजामन्दी देंगे, इसमें संदेह है। दूसरी विधवाएँ हैं, वे कुछ ऐसा सोचती हैं, जिस पर गाँव उँगली उठाए और घर के लोग शर्मसार हो? अगर अपनी ऐसी-वैसी इच्छा को नहीं दबा पातीं तो कुआँ, पोखर में डूब मरती है। विधवा का इतिहास तो इतना ही है, फिर नए भविष्य का उटपटाँग माना जाने वाला रवैया क्यों जोड़ने जा रही हूँ? अपनी जिदें, अपना पागलपन अब तक भरसक छिपाया, मगर क्या कुछ ढँका-छिपा रह सका? आज जब अपनी गृहस्थी समेटकर पीहर और ससुराल की मर्यादा का पालन करते हुए, 'विधवा कर्तव्य' जैसी किताब पढ़नी चाहिए और परपुरुषों से बचकर रहना चाहिए, मैं पाँव बाहर निकाल देना चाहती हूँ, जहाँ रास्ते और कस्बे में परपुरुषों से ही वास्ता पड़ेगा। थू-थू तो बहुत होगी।''[11] अंततः शिक्षा से ही उसे अपनी स्थिति सुदृढ़ करने का मार्ग दिखाई देता है । समाज के लाख-लाख धिक्कार के बावजूद वह दृढ़ता से अपना मार्ग चुनती है।

अबोध अवस्था से ही देह के प्रति पुरुषों की हवस भरी दृष्टी का आभास कस्तूरी की बेटी मैत्रेयी को आतंकित और असुरक्षित बना डालता है और वह अपने को दबी-ढकी चुप्पियों में समेट लेती है । यही कारण है कि विद्रोह का विस्फोट आत्मकथा के रूप में अपने इन्हीं अनुभवों को सामने रखता है । बचपन से ही माँ के ममत्व से वंचित मैत्रेयी समाज में पुरुषों की अभद्रता झेलती आई है इसलिए अब जब उसके सत्रह साल पूरे हो गए हैं, वह एक पुरुष से विवाह करके समाज में एक स्थिर और सम्मानजनक जीवन जीना चाहती है। क्योंकि वह जानती है ''एक अबोध अल्हड़ लड़की और अनुभवी स्त्री के अकेले रहने में फर्क होता है। ...पौधे को चर जाने वाले पशुओं से बचाने के लिए लोहे या ईंटों की ऊँची हवादार रेलिंग के भीतर रखा जाता है।''[12] और वह अपनी माँ से विनती करती है कि ''मेरी स्वाभाविक इच्छाओं को कठोर उपवास में मत बदलो। मैं अपनी इन्द्रियों को कसते-कसते दूसरों की हवस का शिकार हुई जाती हूँ।''[13] विवाह को सदा ही स्त्री के लिए बंधन मानने वाली महिला मंगल की अधिकारी, मैत्रेयी की माँ कस्तूरी विवाह का विरोध करती है क्योंकि ''इस लड़की को ऊँची शिक्षा दिलाकर अफसर बनाने की साध थी उनकी। सोचा था–एक दिन मैत्रेयी उनके तथा उन जैसियों के साथ कदम-दर-कदम चलकर प्रशासनिक व्यवस्था से उन तमाम गड़बड़ों को उखाड़ फैकेंगी, जो जूझती, आगे बढ़ती और रूकावटों के कारण गिरती औरतों की टोली से सहज सामान्य जीवन जीने का हक छीनती रहती हैं। वह स्त्री के सशक्तीकरण की मशाल अपने हाथ ले लेगी। लोग कहेंगे, कस्तूरी माँ के रूप में धन्य है।'[14]

माँ के नियंत्रण में तनावग्रस्त रहने वाली मैत्रेयी की पीड़ा फूट पड़ती है और वह माँ से कहती है ''मैं थूकती हूँ ऐसी आजादी पर, जिसके देने वाली दुमुँही हो। अनपढ़, अशिक्षित होने के बावजूद उन्होंने अपनी कमान अपने हाथ में रखी और किसी दूसरे को अपने जीवन का फैसला लेने नहीं देती। मेरे हिसाब से वे औरत नहीं रहीं ... और आगे सुनो कि अपनी बेटी को ब्याह के कारण 'छि:' की निगाह से देखने वाली कस्तूरी स्त्री नहीं हो सकती। तो फिर माँ कैसे हो सकती है?''[15] आत्मकथा में एक लम्बी बहस विवाह को लेकर मैत्रेयी और कस्तूरी में चलती है और अंततः मैत्रेयी की विजय होती है।

मूल्यों के संक्रमणकाल में भारतीय नारी ने अपनी स्थिति को पहचाना है। घर से बाहर निकलकर स्वतंत्रता हासिल की है और प्रेम-विवाह के प्रति स्वतंत्र निजी विचारों को अपनाया है।आत्मकथा 'हादसे' में रमणिका गुप्ता बताती हैं कि ''जाति तोड़कर और वह भी प्रेम-विवाह–दोनों ही परिवार की परंपरा और मर्यादा के लिए चुनौती के रूप में देखे जा रहे थे। मामा ने मेरा घर से निकलना बन्द कर दिया था। माँ आई। मेरी खूब पिटाई हुई पर मैं कटिबद्ध थी। फिर मुझे पटियाला ले जाया गया। रोज़ मार पड़ती। फैसला बदलने के लिए दबाव पड़ता।''[16] इसी तरह 'एक कहानी यह भी' में मन्नू भंडारी द्वारा राजेन्द्र यादव से विवाह करने की बात सुनकर मन्नू के पिताजी के शादी को रोक देने का आदेश देने वाले पत्र आखिरी दिन तक भी आते रहे। यद्यपि 'दोहरा अभिशाप' की कौसल्या बैसंत्री को उनके माता-पिता से अंतरजातीय विवाह करने की छूट मिल गई थी किंतु समाज के लोगों द्वारा इस विवाह का डटकर विरोध किया गया। कौसल्या बैसंत्री इस संबंध में बताती हैं कि ''शादी की रस्म पूरी हुई और हम विवाह-बंधन में बँध गए। तुरंत ही पत्थर बरसने लगे।'[17]

स्त्री का संघर्ष 'चीज़' से व्यक्ति और व्यक्ति से व्यक्तित्व बनने के लिए है । परंपराओं को नकारने वाली रमणिका गुप्ता समाज में अपनी अलग पहचान बनाना चाहती हैं। वे लिखती हैं ''इतना ही नहीं, अपनी अलग पहचान बनाने की धुन मुझमें इतनी तीव्र हो गई थी कि अगर किसी समारोह का निमन्त्रण-पत्र मेरे नाम पर न आए तो मैं प्रकाश के साथ श्रीमती वी.पी.गुप्ता बनकर जाने से इनकार कर देती थी। ''मुझे लोग मेरे कारण पहचानें, प्रकाश की पत्नी होने के कारण नहीं''– मेरे मन में यह भावना अति तीव्र हो गई थी।''[18] और इसीलिए अपने स्वयंसिद्धा बनने के संकल्प को पूरा करने के लिए वह अपने पति और बच्चों को छोड़कर स्त्रियों को स्वावलम्बी बनाने वाली संस्थाओं को चलाने के लिए धनबाद में अकेले रहने का निर्णय करती है।

रमणिका ने अपने अनुभव से जाना है कि "एक औरत को आगे बढ़ने के लिए 'थेथर' होना भी जरूरी है।....इसका मतलब है खुद को अपनों की बेरूखी सहने को भी तैयार रखना, हँसते-हँसते कुत्सित व्यंग्य, कुटिल मुस्कानें, द्विअर्थी वाक्य पचाने की आदत डालना और कभी-कभी दूसरों के वाक्यों को उन्हीं के खिलाफ मुहिम छेड़ने के लिए उछालना। पीठ थपथपाकर बहादुरी का वास्ता देने वाले भी बहुत मिलते हैं राजनीति में–खासकर औरतों को। उनकी नीयत को पहचानना और सब सुनकर समझकर, अपने फैसलों पर अडिग रहना ही अगर 'थेथरपन' है तो वह राजनीति में स्त्रियों के लिए लाजिमी है।''[19]

वे कहती हैं कि इन नेताओं के यहाँ औरतों को फुसलाने और फँसाने के लिए विधिवत दलाल होते हैं जो केवल औरतों को डिमोरेलाइज़ और हतोत्साहित करने में माहिर होते हैं ताकि राजनीति में आई स्त्रियाँ इनकी शर्तों पर जीने को विवश हो जाएँ। लेकिन रमणिका ने इन स्थितियों का डटकर सामना किया। उन्होंने कांग्रेस से त्यागपत्र देते हुए कहा कि ''मैं अपना रास्ता खुद बनाने में सक्षम हूँ। ... कांग्रेस पार्टी में केवल लताएँ ही फुनगी तक पहुँच सकती हैं। जो महिला स्वयं पेड़ बनने की क्षमता रखती हो उसे काट दिए जाने की मुहिम चलाई जाती है और मैं लता बनने को तैयार नहीं चूँकि मैं खुद निर्णय लेने में सक्षम हूँ।''[20] और एक प्रतिभाशाली बौद्धिक स्त्री अपने सीमित स्व से बाहर निकलकर एक विस्तृत फलक को नापती है। मर्यादा,नैतिकता और असुरक्षा की भावना से छीने गए आत्मविश्वास को स्त्री अपनी बौद्धिक कुशलता से प्राप्त करना चाहती है लेकिन उसे निषेधों और वर्जनाओं में जकडकर पीछे खींचा जाता है किन्तु इन्हीं दबावों से निकलकर उसका प्रतिरोध सामने आता है ।

साहित्य समाज भी औरतों की सीमाएँ निश्चित करना चाहता है। उसे लिखने से रोका जाता है। आत्मकथा 'कागजी हैं पैरहन' में शाहिद साहब इस्मत की रचनाओं पर आपत्ति जताते हैं तो इस्मत उन्हें उनकी रचना 'गुनाह की रातें' में गंदे-गंदे जुमले लिखने पर फटकारती हैं । इस पर शाहिद साहब कहते हैं –''मेरी और बात है। मैं मर्द हूँ।''[21] तो इस्मत जवाब देती हैं ''मतलब यह कि आपको खुदा ने मर्द बनाया इसमें मेरा कोई दखल नहीं और मुझे औरत बनाया इसमें आपका कोई दखल नहीं। मुझसे आप जो चाहते हैं वह सब लिखने का हक आपने नहीं माँगा, न मैं आजादी से लिखने का हक आपसे माँगने की जरूरत समझती हूँ।''[22] इससे स्पष्ट होता है कि साहित्य समाज औरत को जिस नैतिकता की सीमा में रखना चाहता है वह सीमा स्वयं अपने लिए नहीं मानता।

साहित्य जगत में स्त्री का समाज के केंद्र में आना हमारे आर्थिक सामाजिक विकास का परिणाम है । स्त्री प्रश्नों ने समाज के यथार्थ पर नए सिरे से सोचने को विवश किया ।

स्त्री के जीवन में आधुनिकता के सन्दर्भ में हुए परिवर्तनों का विश्लेषण महत्वपूर्ण है। कृष्णा अग्निहोत्री इस पुरुष समाज की दोगली मानसिकता के सन्दर्भ में लिखती हैं कि तरक्की के नगाड़े बजाकर इक्कीसवीं सदी तक पहुँचने वाला भारतीय पुरुष-समाज अब भी किसी बुद्धिजीवी ,कलाकार,प्रतिभाशाली महिला और साहित्यकार को वास्तविक रूप से सम्माननीय दृष्टी से नहीं देखता। ...समाज के रवैये में अभी तक सम्भावना नहीं है कि वह किसी संकट में फंसी हुई एवं साहित्य सृजन करनेवाली स्त्री को देह से इतर देखे।

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपने बहुआयामी व्यक्तित्व को निरंतर सिद्ध करते हुए भी स्त्री आज भी अपने श्रम एवं यौन-शोषण के लिए अभिशप्त है। समाज में व्याप्त स्त्री-पुरुष असमानता की नीति का परिणाम नारी शोषण के रूप में जीवन के हर क्षेत्र में दिखाई देता है।

स्त्रियों द्वारा आत्मकथा लिखकर अपने जीवन के अँधेरे पक्षों को सार्वजनिक कर देना अपनी शक्ति और प्रतिरोध का परिचय है । सुशीला टांकभौरे लिखती हैं "मैं जो बोलती हूँ वह गलत नहीं यह जानते हुए भी मुझे बोलने क्यों नहीं दिया जाता ?...समझदार समाज सुधारक पति मुझे सच्चाई क्यों नहीं कहने देते ? सच्चाई को कुबूल क्यों नहीं करते ?इसका उत्तर मुझे कभी नहीं मिला । मैं कितने बरसों तक इन स्थितियों का सामना करती रही । कितने बरसों तक मैंने मानसिक-यातना ,वेदना को सहा । क्या मुझे एक बार भी इन बातों को बताने का हक नहीं । मुझे यह हक है । समाज में न जाने कितनी स्त्रियाँ जीवन भर जुल्म सहती हैं । कई तो पति द्वारा जान से मार दी जाती हैं फिर भी मरते दम तक पति को दोष नहीं देतीं । स्त्रियों का यह संस्कार,यह आदर्श ही पुरुष को निरंकुश बनता है ।"[23] बेबी हालदार अपनी आत्मकथा 'आलो अंधारी' में अपनी स्थिति का विश्लेषण करते हुए लिखती है–''मैं असहाय एक व्यक्ति की बंदिनी जो थी। वह जो कहे वही मुझे सुनना होगा, जो कहे वही करना होगा लेकिन क्यों? जीवन तो मेरा है, न कि उसका? क्या मुझे उसके कहे अनुसार सिर्फ इसलिए चलना होगा कि मैं उसके पास हूँ? कि, वह मुझे दो मुट्ठी भात देता है? वह जिस तरह रखता है उस तरह तो कुत्ते-बिल्ली को रखा जाता है। जब वहाँ मुझे कोई सुख-शांति नहीं मिलती तो क्या जरूरी है कि निर्जीव जैसी मैं उसके पास पड़ी रहूँ?''[24]

एक पढ़ी लिखी दलित स्त्री कौसल्या का पति ''देवेन्द्र कुमार को स्वतंत्रता सेनानी का ताम्रपत्र मिला और पेंशन भी मिलती है। सरकार ने उसके कार्य की प्रशंसा की थी। किन्तु यही व्यक्ति अपने घर में लड़ाई करता था अपनी पत्नी से। प्रशंसा तो दूर, उसे पेंशन के जो पैसे मिलते, उनमें से भी पत्नी को एक पैसा भी नहीं देता, उसके द्वारा घर का सारा काम करने पर भी।''[25]

सुशीला टांकभौरे अपनी आत्मकथा में लिखती हैं "यह एक स्त्री का दुःख नहीं ,न जाने कितनी स्त्रियाँ मेरी तरह जिंदगी का संताप भोगती हैं। न शिकवा,न शिकायत!जिंदगी का ज़हर चुपचाप पीते रहना,वे अपनी किस्मत मान लेती हैं । यह परंपरा टूटनी चाहिए । स्त्रियाँ स्वयं अपना दुःख बतायेंगी । अपने कष्ट और अन्याय की बात स्वयं कहेंगी,तभी लोग इन बातों को समझेंगे । जो स्त्रियाँ कभी घर से बाहर नहीं निकल पातीं,उनको शोषण,उत्पीडन के साथ शारीरिक और मानसिक पीड़ा सहने का संताप होता है ,लेकिन जो स्त्रियाँ घर के बाहर की दुनियां से जुडकर भी,शोषण-उत्पीडन सहते हुए शारीरिक और मानसिक पीड़ा सहती हैं,उसका संताप कहीं ज्यादा होता है ।"[26]

कौशल्या बैसंत्री दलित स्त्रियों को सम्मान के साथ प्रगति करने के लिए पैरों पर खड़े होने तथा अपने पर विश्वास रखकर आगे बढ़ने का संदेश देती हैं । वह कहती हैं कि हमें अपनी आत्मा में शक्ति जगानी होगी, दूसरों पर आश्रित होने से कुछ नहीं होगा।

सन्दर्भ:

1. दुर्रानी, तहमीना, (2004), *मेरे आका , अनुवाद - मोज़ेज़ माइकेल,* वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, पृ.-29
2. नसरीन, तसलीमा, (2004), *मेरे बचपन के दिन,* अनुवादक अमर गोस्वामी, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, पृ.-282
3. खेतान. प्रभा, (2007) *अन्या से अनन्या* ,राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110002, पृ.-45
4. वही,पृ.-131
5. वही,पृ.-251
6. दुर्रानी, तहमीना, (2004) *मेरे आका , अनुवाद - मोज़ेज़ माइकेल,* वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, पृ.-100
7. वही,पृ.-160
8. वही ,पृ.-125
9. वही,पृ.-353
10. वही,पृ.-360
11. पुष्पा, मैत्रेयी, (2002), कस्तूरी कुंडल बसै ,राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली-110002, पृ.-31
12. वही,पृ.-58
13. वही पृ.-59
14. वही,पृ.-66
15. वही,पृ.-108
16. गुप्ता, रमणिका, (2005), *हादसे,* राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली-110051, पृ.-24
17. बैसंत्री, कौसल्या, (1999), *दोहरा अभिशाप,* परमेश्वरी प्रकाशन, प्रीत विहार, दिल्ली-110092, पृ.-95
18. गुप्ता, रमणिका, (2005), *हादसे,* राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली-110051, पृ.-26
19. वही,पृ.-106-107
20. वही,पृ.-30
21. चुगताई, इस्मत, (2004), *कागज़ी है पैरहन ,* लिप्यंतरण-इफ्तिख़ार अंजुम,राजकमल प्रकाशन प्रा. लि.,दरियागंज, नई दिल्ली-110002, पृ.-30
22. वही,पृ.30
23. टांकभौरे, सुशीला, *शिकंजे का दर्द,* वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली ,पृ.200
24. हालदार, बेबी, (2002), *आलो-आँधारि,* अनुवादक - प्रबोध कुमार,रोशनाई प्रकाशन, काँचरापाड़ा, पं. बंगाल, पृ.-59
25. बैसंत्री, कौशल्या, (1999) *दोहरा अभिशाप,* परमेश्वरी प्रकाशन, प्रीत विहार, दिल्ली-110092, ,पृ.-105
26. टांकभौरे,सुशीला, *शिकंजे का दर्द,* वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली ,पृ.-205

भूमंडलीकरण के दौर में सांस्कृतिक संक्रमण : 'काशी का अस्सी'

मनोज कुमार
पीएच.डी. शोधार्थी, हिन्दी विभाग
केरल केंद्रीय विश्वविद्यालय, पेरिया, कासरगाड

शोध सारांश :
भूमंडलीकरण के इस जाल में फसे हुए देश अपनी कला, संस्कृति, सभ्यता आदि को नष्ट करते जा रहे हैं, एक खास तरह की गुलामी उनका पीछा कर रही है । जिसके चंगुल से बच पाना मुश्किल है, भूमंडलीकरण हमारी सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में दखलंदाजी कर रहा है । क्योंकि भूमंडलीकरण की पहली शर्त है कि अपनी व्यापार, वस्तुओं तथा सांस्कृतिक गतिविधियों आदि का आदान-प्रदान करना । चूंकि यह प्रभाव अस्सी घाट पर भी हो रहा है । अपितु कहा जाए तो अस्सी घाट पर ही नहीं पूरे भारत पर इसका प्रभाव पड़ रहा है । जो प्रभाव अस्सी की संस्कृति पर पड़ा उसे काशीनाथ सिंह ने देखा समझा और अपने उपन्यास 'काशी का अस्सी' में लिखा है । यहाँ इस उपन्यास का विश्लेषण भूमंडलीकरण के परिपेक्ष्य में किया गया है।

बीज शब्द :
भूमंडलीकरण, अस्सी घाट, संस्कृति, काशी, भारतीयता

भूमंडलीकरण के दौर में सर्वाधिक संक्रमित हुई है; तो वह है, किसी देश की संस्कृति ! किसी देश या स्थान की अपनी स्थानीय संस्कृति होती है, जिसके कारण उस स्थान का अपना महत्त्व होता है। स्थान के सांस्कृतिक महत्त्व से जुड़ी कई घटनाएं होती हैं । वो घटनाएं ऐतिहासिक और किवदंतियों के माध्यम से लोक प्रचलित होती रहती हैं । जिस प्रकार से हरिश्चंद्र घाट, दशाश्वमेध घाट, राजघाट, केदार घाट आदि का नाम आता है और उससे जुड़ी प्राचीन ऐतिहासिक महत्व हैं। वैसे ही अस्सी घाट से जुड़ी प्राचीन सांस्कृतिक इतिहास है कि गोस्वामी तुलसीदास जी इसी घाट पर बैठकर 'रामचरितमानस' की रचना करते थे और कथा का पाठ भी करते थे । अंततः उन्होने अपने जीवन के अंतिम दिन यहीं पर गुजारे थे, और यहीं से वे मोक्ष को प्राप्त हुए थे । गोस्वामी तुलसीदास के स्वर्गवास के संदर्भ में लोक प्रचलित है कि-

संवत सोलह सौ असी, असी गंग के तीर ।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर ।।

यानी यह वही अस्सी घाट है, जहां पर गोस्वामी तुलसीदास जी अपने जीवन के अंतिम छण व्यतीत किए थे और स्वर्गवासी हुए थे । अतः इसे वर्तमान में "सुबह–ए-बनारस" के नाम से भी जाना जाता हैं । "अस्सी से लेकर आदिकेशव के बीच बनारस की गंगा पर कुल 64 घाट निर्मित थे, किन्तु अभी हाल ही में नगवा लंका के पास रविदास नामक एक अति सुंदर नया घाट स्थापित हुआ है, जिसे मायावती की सरकार ने बनवाया है ।"[1] आज भी अस्सी घाट कुछ जीर्णोद्धार के उपरांत पर्यटकों के लिए आकर्षण का केंद बना है । यहाँ की संस्कृति को आप आज भी देख सकते हैं, अस्सी घाट की संस्कृति का अपना अलग स्वाद है । उस संस्कृति के स्वाद से ओतप्रोत है यह अस्सी घाट । ई. बी. टेलर जी का मानना है कि– "उन सभी वस्तुओं के समूह को, जिनमें ज्ञान, धार्मिक विश्वास, कला, नैतिक कानून, परम्पराएँ तथा वे अन्य सभी योग्यताएं सम्मिलित होती हैं, जिन्हें कोई मनुष्य समाज का सदस्य होने के नाते सीखता है, संस्कृति कहते हैं ।" यही संस्कृति हमारी पहचान होती है । भारतीयता के लिए काशीनाथ सिंह इसी घाट की महिमा का वर्णन करते हैं, *"सबसे पहले इस मोहल्ले का मुख़्तसार-सा बायोडाटा-कमर में गमछा, कंधे पर लंगोट और बदन पर जनेऊ-यह यूनिफॉर्म है अस्सी का !"*[2] आप अस्सी घाट पर आज भी यह दृश्य देख सकते हैं । यहां की संस्कृति को आप यहां के लोगों के मन-वचन में समाहित रूप में देखेंगे।

एक अल्हडपन यहाँ के लोगों में आपको देखने को मिलेगा। मित्रों को एक विशेष उपाधि से संबोधित करते हुये आप श्रावण करेंगे । मौज-मस्ती से ओतप्रोत यहाँ के प्राणी अपने रंग में रंगे मिलेंगे । "सभी को समान नाम से नामित करने के लिए प्रसिद्ध यह नगरी अपनी अलग पहचान के लिए प्रसिद्ध है । "गुरु" यहां की नागरिकता का "सरनेम" है । न कोई सिंह, न पांडे, न जादो, न राम ! सब गुरु ! जो पैदा भया, वह भी गुरु, जो मरा, वह भी गुरु !"[3] गुरु नाम से पुकारने की एक शैली है । और यह शैली सभी को समान श्रेणी में लाकर खड़ी कर देती है । समता, समानता, बंधुत्व की बात करती है । यह शब्द गुरु । यह संस्कृति है अस्सी की जिस पर बाह्य संस्कृतियों का निरंतर प्रहार हो रहा है । इस प्रहार से यहाँ की संस्कृति को काफी नुकसान हो रहा है । यह दृश्य अस्सी घाट या बनारस का ही नहीं है अपितु पूरे भारत की संस्कृति का है जिस पर भूमंडलीकरण की वजह से बाह्य संस्कृतियों का पुरजोर से प्रहार हो रहा है । जिसके परिणाम स्वरूप अमानवीय संस्कृति का जन्म हो रहा है।

अस्सी अपने त्योहारों को अपने ढंग से मनाती है। अपनी सांस्कृतिक पहचान के लिए प्रसिद्ध काशी नगरी का अस्सी घाट विदेशीयों के लिए एक अपनी अलग पहचान रखती है । काशीनाथ अस्सी के संस्कृति के बारे में कहते हैं, "तो साहब, जानिए कि भांग अस्सी की संस्कृति है। और जब संस्कृति है तो कोई-न-कोई परंपरा भी जरूर होगी और वह परंपरा है होली का विश्व प्रसिद्ध कवि-सम्मेलन ।"[4] विशेष त्योहारों का अपनी अलग मौज-मस्ती होती है 'अस्सी घाट' पर। "अपने अलहड़पन के लिए प्रसिद्ध अस्सी और अस्सी के लोग यहां तो अस्सी किसी भी वी.आई.पी. को पी.आई.जी. (पिग = सूअर) के बराबर भी नहीं समझता, समूचे त्रिकाल और त्रैलोक्य को अपने फोद पर लिए घूमता रहता है - छुट्टा सांड की तरह!"[5] उसे दुनिया जहान की कोई परी प्रवाह नहीं अपनी दुनियां में मस्त रहने वाली काशी नगरी और यह घाट अस्सी है। इस संस्कृति पर बाह्य देशों का प्रभाव पड़ने लगा है। भूमंडलीकरण के उपरांत यहां की संस्कृति पर गहरा प्रभाव पड़ रहा है । बाह्य देश की संस्कृतियां यहां की संस्कृतियों को प्रभावित करने का काम कर रही हैं । अस्सी बनारस का मोहल्ला नहीं है । अस्सी "अष्टाध्यायी" है और बनारस उसका "भाष्य"। पिछले तीस–पैंतीस वर्षों से "पूंजीवाद" के पगलाए अमरीकी यहां आते हैं और चाहते हैं कि दुनिया इसकी "टीका" हो जाए... मगर चाहने से क्या होता है ? दुनिया तो बहुत कुछ चाहती है ।

"अस्सी सिर्फ मुहल्ला नहीं, भूमंडलीकरण और बाजारवाद के बाद का पूरा भारत है !"[6] आप एक स्थान पर पूरे भारत का स्वरूप देख सकते हैं । किस प्रकार से भूमंडलीकरण और बाजारवाद ने अस्सी की संस्कृति को बदल दिया है । संस्कृति हमारी मौलिक पहचान होती है । जिसमें हम सभी रंगे रहते हैं । रामधारी सिंह दिनकर के अनुसार, "संस्कृति मानव जीवन में उसी तरह व्याप्त है, जिस प्रकार फूलों में सुगंध और दूध में मक्खन। इसका निर्माण एक या दो दिन में नहीं होता, युग-युगांतर में संस्कृति निर्मित होती है।"[7] लेकिन भूमंडलीकरण के उपरांत विदेशी संस्कृतियों का आगमन होने से भारतीय संस्कृति में परिवर्तन व्यापक फलक पर हुआ। भूमंडलीकरण के इस जाल में फंसते हुए देश अपनी कला संस्कृति को नष्ट करने की ओर बढ़ ही रहे हैं -एक खास तरह की गुलामी उनका पीछा कर रही है । जिसके चंगुल में हम फंस रहे हैं, भूमंडलीकरण के द्वारा अपनी वास्तविकता को खोकर यह संभव हुआ है। क्योंकि भूमंडलीकरण की पहली शर्त होती है अपनी व्यापार, सांस्कृतिक गतिविधियों आदि का आदान प्रदान करना है। तो प्रभाव अस्सी घाट पर भी हुआ, अपितु कहा जाए तो अस्सी घाट पर ही नहीं पूरे भारत पर इसका प्रभाव पड़ा । अस्सी की संस्कृति पर गहरा प्रभाव पड़ा जिसको काशीनाथ जी ने देखा समझा और लिखा है । बाहर देशों से आने वाले सैलानियों के द्वारा जो बदलाव आया है काशीनाथ सिंह रेखांकित करते हैं कि "मित्रों, डॉ. गया सिंह विद्वान भी हैं और बुद्धिमान भी । उन्हें समझते देर नहीं लगी कि यह भारतीय संस्कृति पर हमला है । गांजा-भांग की संस्कृति पर! जब से अस्सी पर अंगरेज-अंगरेजिन आने शुरू हुए हैं तभी से मुहल्ले के लौंडे हेरोइन और ब्राउन शुगर, चरस के लती हो रहे हैं । ये डाल्टनगंज के नहीं, अस्सी के ही हैं ।"[8] विदेशियों के आगमन से उनकी संस्कृति का आगमन होना स्वाभाविक है क्योंकि एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से मिलने पर भी बहुत-सी चीजों का आदान-प्रदान होता है । यही जब वैश्विक स्तर पर देखा जाता है, तो एक देश का दूसरे देश के मिलाप पर वहां की संस्कृति एक दूसरे देश के साथ मेल-मिलाप हो जाती है।

"अस्सी घाट की अपनी एक अलग संस्कृति है। उसकी अपनी अलग हर्षोल्लास रहा है । रागों, रंगों और रेखाओं और चिड़ियों की चह-चह का अद्‌भुत कोलाज है, यह घाट! सुबह-शाम यहां पेंसिल और कैनवास लिए चित्रकार भी बैठे मिलेंगे, कैमरा लटकाए छायाकार भी, रियाज मारते गायक-वादक भी, पुजाइया के गीत गाती औरतें भी, धुनी रमाए जोगी भी! बाकी तो मल्लाह हैं, अखाड़िए पहलवान हैं, साधु-सन्यासी हैं, कीर्तनियाँ हैं, भिखमंगे हैं...।"[9] इन सबको लेकर बनता है अस्सी घाट जो आज भी आपको देखने को मिलेगा। अपनी संस्कृति के पहचान के कारण विश्व भर में प्रसिद्ध यह काशी का "अष्टाध्यायी" भारत में अलग छाप छोड़ती है । लेकिन भूमंडलीकरण के कारण आज यह अपनी मौलिकता को खो रही है । बाह्य संस्कृतियों का संक्रमण जोरों शोरों से हो रहा है । अस्सी घाट की मौलिकता लुप्त हो रही है । "जग्गू मल्लाह के शब्दों में पिछले कुछ वर्षों से यह घाट, अंगरेज-अंगरेजिनों का परममिंट एग्जाई जमीनी हाउसवोट हो गया है । रोज शाम को ढाई–तीन सौ अंग्रेज जोड़ों में या अकेले सीढ़ियों पर बैठते हैं और देर रात तक बैठे रहते हैं ।"[10]

यही अंग्रेज अपनी संस्कृति को लाकर यहां की संस्कृति में घोल रहे हैं । जिसके परिणाम स्वरुप यहां के लोगों की मानसिकता में परिवर्तन हो रहा है। पाश्चात्य संस्कृतियां इनको लुभा रही हैं और यह लोलुपता भारतीय संस्कृतियों के अंदर समाहित हो रही है । "जब देखा जाए तो मिलता है कि इन विदेशियों के पास भौतिक सुख-सुविधा की समस्त चीजें उपलब्ध है फिर क्यों ? क्या वे सचमुच उकताए, घबराए, भागे हुए लोग हैं मशीन और मनी से ? ऐशों-आराम की जिंदगी से ? दौलत की दलदल से ?"[11] जब व्यक्ति के पास भौतिक संसाधन उपलब्ध होते हैं तो भी वह सुखी नहीं हो सकता क्योंकि सुख के लिए मानसिक सुख का होना जरूरी होता है, तब व्यक्ति सुखी होता है । भूमंडलीकरण हमारी जरूरत की चीजें तो दे सकता है, लेकिन सुख नहीं दे सकता । इसलिए उनके पास सब कुछ होने पर भी वे प्रसन्न नहीं रहते हैं । और वे अपनी संस्कृति से उकताए हुए लोग हैं । "क्योंकि अस्सी के अंगरेज-अंगरेजिनों की एक खास उम्र थी-तीस-पैंतीस के करीब ! इंडियन कल्चर, इंडियन म्यूजिक, इंडियन स्कल्पचर, इंडियन डांस, इंडियन देवी-देवता, तंत्र-मंत्र, ध्यान, योग, साधना- ये सब के सब उनके शौक भी हो सकते थे और मजबूरी भी! ज्यादातर अपने मनीआर्डर डालर का इंतजार करते । अस्सी पर एक आदमी के लिए सौ डालर ही कम नहीं थे महीने में । चाहे जैसे रह लो, चाहे जहां खा लो, चाहे जहां सो लो । यहां हजार डालर माने अमीर लेकिन उनके यहां ? क्या इतने में सम्मान के साथ जीना मुमकिन है वहां ?"[12] हम तीसरी दुनिया के देशों में आते हैं, और इसका फायदा पहली दुनिया के देश लेते हैं । हमारे पास वह सब कुछ है, जो उनके पास नहीं है ।

पहली दुनिया के उकताए लोग यहां आते हैं । सांस्कृतिक संक्रमण से हमें संक्रमित करते हैं । इस संक्रामण से प्रभावित बनारस (काशी नगरी) पर कैथरीन अपनी किताब लिखती हैं और अपने आंकड़े सभी को बताते हुए कहती हैं सहोदर जी, आंकड़े हैं मेरे पास राँड़ो, साड़ों और सन्यासियों के । मैं बता सकती हूँ कि पिछले पाँच सालों में ही इतना अंतर आया है इनकी संख्या में ? बुरा न मानें तो मैं कहना चाहती हूं कि "वाराणसी इज डाइंग" बनारस जिसे लोग पढ़ते, सुनाते, जानते थे - मर रहा है आज !"[13] इसमें कोई दो राय नहीं है बनारस की संस्कृति पर खतरा मंडरा रहा है । संस्कृति का परिवर्तन हो रहा है लेकिन ऐसा क्यों हो रहा है यह भी विचारणीय है। इस संदर्भ में उपन्यास के पात्र डॉ. गया सिंह कहते हैं कि "घंटे-भर से सिर हिला रहे हैं आप और वह कह रही है कि बनारस मर रहा है । इसी बनारस में हम भी हैं, आप भी हैं और यह अस्सी भी है, इसी बनारस के लिए सात समंदर पार से दौड़ लगा रहे हैं भो...ड़ी के यह अंगरेज, लेकिन यह कह रही हैं और आप सिर हिला रहे हैं - सिर्फ इसलिए कि पाँच सौ रुपए दिहाड़ी पर घर बैठे आपको काम चाहिए, एक ऐसा विदेशी किराएदार चाहिए जिसकी खातिरदारी में आपका पूरा परिवार लगा रहे । यह नहीं देख रहे हैं कि यही साले मार रहे हैं बनारस को और कह रहे हैं कि मर रहा है।"[14] सही बात है विदेशियों के आगमन और पेइंग गेस्ट के रूप में अस्सी घाट पर ठहरना, यह प्रक्रिया वहाँ संस्कृति पर गहरा प्रभाव डालता है । भूमंडलीकरण हमें मानसिक रूप से तैयार करता है अपने फायदे के लिए । दूसरों की चार भली-बुरी बातों को सुन लेना चाहिए । प्रत्यक्ष में फायदा हो रहा हो भले अप्रत्यक्ष रूप से नुकसान ही क्यों न हो । विदेशियों के आगमन से भारतीय संस्कृति पर जो प्रभाव पड़ रहा है । उसे आप बनारस के संस्कृति पर देख सकते हैं । "बनारस तो मर रहा है लेकिन वहां से नहीं जहां के आंकड़े देवी जी दे गई हैं । देवी जी, तुम्हारे पास तो पूरे नगर के हैं लेकिन मेरे पास तो सिर्फ अस्सी के ही हैं । और उन्हीं की बिना पर मैं बता सकता हूं कि सीढ़ियों पर कितने किलो हेरोइन, कितने किलो ब्राउन शुगर, कितने किलो चरस और कितने डिब्बे मार्फिन की खपत हुई है इस बीच ? घाटों पर वियाग्रा, पेनाग्रा और किन-किन चीजों के पाउडर बिक रहे हैं पुड़ियों में ? दो-दो सौ रुपये एक-एक पुड़िया ! और खरीद कौन रहे हैं- बूढ़े ! चोरी- छुपे ! पेंशन की रकम रोटी-दाल में नहीं पुष्टई में जा रही है । और सुनो, गुब्बारे और गुल्ली डंडा की उमर वाले बच्चे घाट और छत और खिड़कियां देख - देखकर जवान हो गए हैं समय से पहले ही ! किस तरह घूरते हैं इसी उम्र में सयानी लड़कियों को कभी देखा है ?"[15] बदलती संस्कृतियों का यह आज जीता जागता सबूत है कि किस प्रकार से काशी घाट की संस्कृतिक परंपरा में परिवर्तन हो रहा है । यह परिवर्तन बाहर से आने वाले विदेशियों के कारण हो रहा है । वह अपनी अमानवीय संस्कृतियों का प्रसार कर रहें हैं । हम भारतीय बाह्य संस्कृति के प्रभाव में जल्दी ही संक्रमित हो जाते हैं ।

संदर्भ:

1. डॉ तुलसीराम, *मर्णिकर्णिका,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली पृष्ठ -11
2. सिंह, काशीनाथ, *काशी का अस्सी,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ सं -11
3. सिंह, काशीनाथ, *काशी का अस्सी,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ सं -12
4. सिंह, काशीनाथ, *काशी का अस्सी,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ सं -19
5. सिंह, काशीनाथ, *काशी का अस्सी,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ सं -76
6. सिंह, काशीनाथ, *लेखक की छेड़छाड़,* किताब घर, नई दिल्ली, पृ -150
7. http://bharatdiscovery.org/indiya
8. सिंह, काशीनाथ, *काशी का अस्सी,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ सं -81
9. सिंह, काशीनाथ, *काशी का अस्सी,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ सं -98
10. सिंह, काशीनाथ, *काशी का अस्सी,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ सं -99
11. सिंह, काशीनाथ, *काशी का अस्सी,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ सं -105
12. सिंह, काशीनाथ, *काशी का अस्सी,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ सं -106
13. सिंह, काशीनाथ, *काशी का अस्सी,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ सं -110
14. सिंह, काशीनाथ, *काशी का अस्सी,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ सं -110
15. सिंह, काशीनाथ, *काशी का अस्सी,* राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ सं -111

अहिंसाः एक शाश्वत-कालजयी भावना (गांधी दर्शन के संदर्भ में)

डॉ अनुपाल भारद्वाज
सहायक प्रोफेसर, स्नातकोत्तर हिन्दी-विभाग
डीएवी महाविद्यालय अबोहर, पंजाब

शोध-सारांश :
अहिंसा परमो धर्मः' सनातन संस्कृति के सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों में से एक है। हज़ारों वर्षों के इतिहास में न जाने कितनी बार यह देश बना, बिगड़ा। मानव ने अपने प्रभुत्व के लिए कितना खून बहाया, अंदाज़ा लगाना मुश्किल है परन्तु अंत में अहिंसा की भावना को अपनाना उसकी आवश्यकता भी है और समय की अपेक्षा है। अहिंसा का सिद्धांत प्रासंगिक है और रहेगा। भारत इस सिद्धांत का जनक है जिसका अनुसरण दूसरे देश करते हैं। अहिंसा का मार्ग अपरिवर्तनीय है। इसके लिए सत्य, विनम्रता, सहिष्णुता, प्रेम,दयालुता को हमें अपनी दिनचर्या में अपनाना होगा। अहिंसा यदि पूरे व्यक्तित्व पर अनुप्राणित होगी तो ही व्यवहार में लायी जा सकती है। हिंसा का विकल्प हिंसा कभी नहीं हो सकती। महात्मा गांधी जीवन पर्यन्त इस पर अडिग रहे। वे आधुनिक समय के अहिंसा के संदेश के सर्वोच्च संदेशवाहक थे। सत्य और अहिंसा के दम पर उन्होंने अंग्रेज़ों से लोहा लिया था। उनके इस सिंद्धांत को न केवल भारत अपितु पूरे विश्व में ख्याति प्राप्त की विश्व के अनेक नेताओं ने उनके अहिंसा के सिद्धांत को अपनाया। उनके योगदान को स्वीकार करते हुए संयुक्त राष्ट्र संघ(यू. एन. ओ.) ने 2, अक्तूबर 2008 से इस दिन को 'अंतर्राष्ट्रीय अहिंसा दिवस' के रूप में मान्यता प्रदान की। विचार भले ही दशकों पुराने हैं परन्तु अहिंसा की आवश्यकता आज भी उतनी ही है जितनी पहले थी, बल्कि उससे भी अधिक है। इस समय देश में हिंसा का जो दौर चल रहा है, वह आगे चल कर क्या रूप ग्रहण करेगा, किस दिशा की तरफ जाएगा सोचकर ही सिहरन पैदा होती है। महात्मा गांधी का कालजयी अहिंसा-दर्शन मानव को, देश को, विश्व को दिशा देने का काम कर सकता है। ऐसा पूर्ण विश्वास है।

बीज शब्द :
अहिंसा, हिंसा, महात्मा गांधी, सत्य, त्याग, आत्मबल, आत्मा, मानवता, समाज, देश, विश्व, कालजयी भावना, वीर, धर्म, सिद्धांत, आतंक, विचार

'**अ**हिंसा परमो धर्मः' सनातन संस्कृति के सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों में से एक है। हज़ारों वर्षों के इतिहास में न जाने कितनी बार यह देश बना, बिगड़ा। मानव ने अपने प्रभुत्व के लिए कितना खून बहाया, अंदाज़ा लगाना मुश्किल है परन्तु अंत में अहिंसा की भावना को अपनाना उसकी आवश्यकता भी है और समय की अपेक्षा है। अहिंसा का सिद्धांत प्रासंगिक है और रहेगा। भारत इस सिद्धांत का जनक है जिसका अनुसरण दूसरे देश करते हैं। डार्विन का सिद्धांत जंगल में तो लागू हो सकता है परन्तु सभ्य-मानवीय समाज में इसका क्रियान्वित होना मानवीय भावनाओं के पतन का द्योतक है। महात्मा गांधी आधुनिक विश्व इतिहास के सबसे बड़े नायकों में से एक रहे हैं जिन्होंने अपने सिद्धांतों से, कार्यों से न केवल भारत वरन् विश्व का मार्गदर्शन किया है। चाहे मार्टिन लूथर किंग हों , चाहे नेल्सन मंडेला या फिर अब्दुल गफ़्फार खान हों, भूतपूर्व अमेरिकी राष्ट्रपति बराक ओबामा हों। गांधी इनके आदर्श रहे हैं।

महात्मा गांधी ने जीवन भर अहिंसा को सबसे अधिक महत्त्व दिया। इसकी जड़ें वे सनातन धर्म से जोड़ते हैं। उनके शब्दों में- ''अहिंसा उसी प्रकार से मानवों का नियम है जिस प्रकार से हिंसा पशुओं का नियम है। पशु की आत्मा सुप्तावस्था में होती है और वह केवल शारीरिक शक्ति के नियम को ही जानता है। मानव की गरिमा एक उच्चतर नियम आत्मा के बल का नियम- आत्मा के बल का नियम- के पालन की अपेक्षा करती है....... जिन ऋषियों ने हिंसा के बीच अहिंसा की खोज की, वे न्यूटन से अधिक प्रतिभाशाली थे। वे स्वयं वेलिंग्टन से भी बड़े योद्धा थे। शस्त्रों के प्रयोग का ज्ञान होने पर भी उन्होंने उसकी व्यर्थता को पहचाना और श्रांत संसार को बताया कि उसकी मुक्ति हिंसा में नहीं अपितु अहिंसा में है।[1]

इतिहास अशोक को एक योद्धा से अधिक एक शांतिप्रिय, अहिंसावादी राजा के रूप में अधिक जानता है। जिसके द्वारा कलिंग की लड़ाई के पश्चात् बौद्ध धर्म अपनाए जाने पर अहिंसा का रास्ता ग्रहण करने के बाद मानवता की भलाई के लिए किए गए कार्यों की चर्चा रहती दुनिया तक की जाएगी। बुद्ध के उपदेशों में भी अहिंसा का तत्त्व सर्वोपरि है। जिस कारण गांधी बौद्ध धर्म के सबसे बड़े प्रशंसकों में से एक हैं। उनके शब्दों में- ''...........अपने भारी बलिदान, महान त्याग और जीवन की निर्दोष शुचिता से बुद्ध ने हिंदू धर्म पर अमिट छाप छोड़ी है। जिसके लिए हिंदू धर्म इस महान उपदेशक का सदा ऋणी रहेगा..........।[2]

रोमां रोला ने गांधी के विचारों को शब्दबद्ध करते हुए लिखा है-'' हमारे संग्राम का लक्ष्य है समस्त संसार के साथ मैत्री की स्थापना। अहिंसा मनुष्य के पास बनी रहने के लिए आई है। उसने विश्व-शांति की घोषणा की है......... हिंसावादी राजनीतिज्ञ इस विश्वास का उपहास करेंगे और ऐसा करके अहरे सत्य के प्रति वे अपना अज्ञान ही प्रकट करेंगे....... सच्चे विश्वास की विशिष्टता यह है कि वह संसार के विरोधी-भाव का अस्तित्व अस्वीकार नहीं करता......शांति का मार्ग दुर्बलता के मार्ग से भिन्न है...... जिनको विश्वास नहीं या जो डरते हैं, वे लौट जाएं। शांति का मार्ग आत्मत्याग है।[3] अहिंसा के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए महात्मा गांधी लिखते हैं--'' अहिंसा मानव जाति का नियम है, यह उनके लिए नहीं है जिन्हें ईश्वर में आस्था नहीं है। अहिंसा और सत्य का मार्ग तलवार की धार के समान तीक्ष्ण है। इसका अनुसरण हमारे दैनिक भोजन से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है । सही ढंग से लिया जाए तो भोजन देह की रक्षा करता है और अहिंसा आत्मा की रक्षा करती है। शरीर के लिए भोजन नपी तुली मात्रा में और निश्चित् अंतरालों पर ही लिया जा सकता है। अहिंसा तो आत्मा का भोजन है, निरंतर लेना पड़ता है।[4]

अहिंसा का मार्ग अपरिवर्तनीय है। इसके लिए सत्य, विनम्रता, सहिष्णुता, प्रेम,दयालुता को हमें अपनी दिनचर्या में अपनाना होगा। अहिंसा यदि पूरे व्यक्तित्व पर अनुप्राणित होगी तो ही व्यवहार में लायी जा सकती है। अहिंसा के लिए आत्मबल को महात्मा गांधी ने सबसे महत्त्वपूर्ण कारक माना है। उनके अनुसार---'' अहिंसा उच्चकोटि का सक्रिय बल है। यह आत्मबल अर्थात हमारे अंदर बैठे ईश्वरत्व की शक्ति है। अपूर्ण मनुष्य उस तत्त्व को पूरी तरह नहीं पकड़ सकता। वह उसके संपूर्ण तेज को सहन नहीं कर पाएगा किंतु उसका अत्यल्प भी हमारे अंदर सक्रिय हो जाए तो उसके अद्‌भुत परिणाम निकल सकते हैं।[5]

महात्मा गांधी को पूर्ण विश्वास था कि 'हिंसा' का विकल्प 'हिंसा' कभी नहीं हो सकती। देखा जाए तो इस समय इसका प्रमाण पूरी दुनिया में देखने को मिल रहा है। इराक, सीरिया, अफ़्गानिस्तान, फलस्तीन, अरब देश, नाईजीरिया, सोमालिया आदि न जाने कितने उदाहरण दिए जा सकते हैं। जहां आतंक, क्रूरता का शासन है। मानव जाति ने दो विश्वयुद्धों में विनाश को भोगा है परंतु उसके भीषण परिणाम आने वाले समय को देखने को मिलेंगे। प्रभाकर श्रोत्रिय के शब्दों में--'' अहिंसा का दर्शन तो किसी सीमा तक हिंसा का नियंत्रण करने का साहस दे सकता है परंतु हिंसा का दर्शन हिंसा नियंत्रित नहीं

कर सकता क्योंकि वही उसका स्रोत है। [6] कुछ ऐसा ही महर्षि पतंजलि भी कहते हैं-- ''अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः'' जब अहिंसा धर्मनिश्चय-व्यवहार में दृढ़, हो जाती है, तब उस पुरुष के मन से वैरभाव छूट जाता है किंतु उसके सामने या संग से अन्य पुरुष का भी वैरभाव छूट जाता है। हिंसा का विकल्प हिंसा कभी नहीं हो सकती। महात्मा गांधी जीवन पर्यन्त इस पर अडिग रहे। वे आधुनिक समय के अहिंसा के संदेश के सर्वोच्च संदेशवाहक थे। सत्य और अहिंसा के दम पर उन्होंने अंग्रेज़ों से लोहा लिया था। उनके इस सिद्धांत को न केवल भारत अपितु पूरे विश्व में ख्याति प्राप्त की विश्व के अनेक नेताओं ने उनके अहिंसा के सिद्धांत को अपनाया। उनके योगदान को स्वीकार करते हुए संयुक्त राष्ट्र संघ(यू. एन. ओ.) ने 2, अक्तूबर 2008 से इस दिन को 'अंतराष्ट्रीय अहिंसा दिवस' के रूप में मान्यता प्रदान की। और लोगों के लिए अहिंसा कायरता की निशानी हो सकती है परंतु गांधी अहिंसा को वीरता की पहली कसौटी मानते हैं। एक स्थान पर वे कहते हैं-----'' अहिंसा तो वीरता की चरम सीमा है। अहिंसा कायरता की आड़ नहीं है बल्कि यह वीर का सर्वोच्च गुण है......... अहिंसा मनुष्य की प्रतिशोध लेने की भावना का सचेतन और जाना-बूझा संयमन है.......... अहिंसा का मार्ग हिंसा के मार्ग की तुलना में कहीं ज्यादा साहस की अपेक्षा रखता है। कायरता पालना मेरी प्रकृति के विरुद्ध है। दक्षिण अफ्रीका से लौटने के बाद से , जहां लोग हज़ारों ज़बरदस्त बाधाओं के विरुद्ध उठ खड़े हुए थे और नाकामयाब नहीं रहे थे। मैंने सच्ची वीरताजो अहिंसा ही[7] है, का प्रचार करना अपना जीवन-ध्येय बना लिया है।[7] यही भावना गांधी ने उस समय जब उन्हें रेलगाड़ी से केवल इसलिए उतार दिया था क्योंकि वे गोरे अंग्रेज़ नहीं थे, काली चमड़ी वाले भारतीय थे। उन्होंने इस अपमान का बदला लेने का निश्चय किया। उसी प्रतिशोध का पल्लवन पुष्पन उनके मन में होता रहा तथा जिसने दूरगामी परिणाम दिए। अपने आत्मबल से, दृढ़निश्चय से, सत्यनिष्ठा से , अहिंसा का मार्ग अपनाकर स्वतंत्रता आंदोलन को जनआंदोलन बना कर स्वातंत्र्य का पथ प्रशस्त किया। अहिंसा का प्रभाव मनुष्य पर कैसा पड़ता है। इसका बड़ा रोचक वर्णन महात्मा गांधी ने दिया है----''अहिंसा रेडियम की तरह काम करती है। सांघातिक अंगवृद्धि में स्थापित रेडियम की अतिसूक्ष्म मात्रा निरंतर चुपचाप तब तक काम करती रहती है जब तक कि रोगग्रस्त ऊतक के समूचे पिंड को स्वस्थ ऊतक में नहीं बदल देती। इसी प्रकार थोड़ी सी सच्ची अहिंसा चुपचाप, सूक्ष्म और अदृश्य रूप से काम करती है और समूचे समाज का कायाकल्प कर देती है।[8] अहिंसा एक विज्ञान है, विज्ञान के शब्दकोश में 'असफलता' का कोई स्थान नहीं होता। अपेक्षित परिणाम को प्राप्त करने की असफलता प्रायः नयी खोजों की पूर्वगामी सिद्ध होती है। अहिंसा की प्रकृति भी कुछ ऐसी ही है। हर क्षण वह नया पक्ष प्रयोगकत्र्ता के समक्ष रखती है और इसकी परख हिंसा के माहौल में ही की जा सकती है।

गांधी हमेशा इस बात के समर्थक रहे हैं कि 'पाप से घृणा करो, पापी से नहीं', क्योंकि यदि वे आचरण की अपेक्षा आचरणकर्ता को समाप्त करना चाहते हैं तो फिर उनमें और आचरणकत्र्ता में कोई अंतर नहीं। उसका हिंसक भाव तो वे स्वयं ग्रहण कर गए तो फिर बुराई की जड़ समाप्त नहीं हीं नहीं हो पाई। अहिंसा बुरे को नहीं बुराई को समाप्त करने में विश्वास नहीं रखती है। एक स्थान पर गांधी कहते हैं--''अहिंसा की कसौटी यह है कि अहिंसक संघर्ष में कोई विद्वेष बाकी नहीं रहता और अंत में शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। दक्षिण अफ्रीका में जनरल स्मट्स के साथ मेरा यही अनुभव रहा। वह शुरु में मेरा कट्टर विरोधी और आलोचक था। आज वह मेरा परम स्नेही मित्र है।

अहिंसा का मुख्य निहितार्थ यह है कि हमारी अहिंसा हमारे प्रति विरोधी के रुख को नरम बनाए, कठोर नहीं,वह उसे द्रवित कर दे।[9] महात्मा गांधी अहिंसा को साधन मानते हैं , साध्य नहीं। प्रश्न यही है कि फिर साध्य क्या हुआ? साध्य है- सत्य की खोज। सत्य क्या है-- मानवीय कल्याण। उनके अनुसार--'' अहिंसा के बिना सत्य पर शोध और उसकी प्राप्ति असंभव है। अहिंसा और सत्य एक-दूसरे से इस प्रकार गुंथे हुए हैं कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता........... अहिंसा साधन है और सत्य साध्य है। यदि हम साधन को ठीक रखें तो देर सवेर-सवेर साध्य तक पहुंच ही जाएंगे।''[10]

जिस शांति को प्राप्त करने में मानव समाज युगों से तरस रहा है। उसका रास्ता तो अहिंसा से होकर ही जाता है। इसे सामाजिक आचरण का नियम बनाना चाहिए। यह केवल एक मानव तक सीमित आत्यंतिक गुण नहीं है। परमाणु बमों के ढेर पर बैठ कर अहिंसा की बात करना हास्यास्पद है यदि समस्त विश्व शांति चाहता है तो उसे सबसे बड़े शस्त्र (अहिंसा) को अपनाना ही होगा। आज अहिंसा का यह आचरण लुप्त हो गया है। यह ज़रूरी है कि हम क्रोध का ज़वाब प्रेम से और हिंसा का ज़वाब अहिंसा से देने के शाश्वत नियम को फिर से जीवित करें। आज केवल गांधी की तस्वीर पर माला चढ़ाना ही अपने कत्तव्यों की इतिश्री मान लिया गया है।

जब तक अहिंसा का भाव आत्मसात नहीं किया जाता तब तक राष्ट्रपिता केवल एक उपाधि होगी, भावना या सम्मान नहीं। महात्मा गांधी के अनुसार---''दुनिया रक्तपात से बुरी तरह तंग आ चुकी है। वह मुक्ति का मार्ग चाहती है और मैं यह सोचकर खुश हो लेता हूं कि इस क्षुधित संसार को मुक्ति का मार्ग दिखाने का श्रेय शायद भारत की प्राचीन भूमि को ही मिले........... यदि भारत सत्य और अहिंसा के माध्यम से अपना लक्ष्य प्राप्त कर लेता है तो विश्व जिस शांति का भूखा है, उसमें उसका योगदान काफी महत्त्वपूर्ण होगा...... यह भारत की सर्वोच्च महिमा और विश्व की प्रगति के लिए उसकी अमूल्य देन होगी।[11]

उपर्यक्त विचार भले ही दशकों पुराने हैं परन्तु अहिंसा की आवश्यकता आज भी उतनी ही है जितनी पहले थी, बल्कि उससे भी अधिक है। कोई उन्मादी मस्तिष्क किस समय मानवीय सभ्यता को कब परमाणु शक्ति से खण्ड-खण्ड कर दे, कहा नहीं जा सकता? दुनिया बारूद के ढेर पर खड़ी है। आज का समाज वैश्वीकरण का है। सुख-सुविधाओं, साधनों ने मानव जीवन को सुगम तो बनाया है परन्तु सोशल मीडिया से जुड़ा व्यक्ति कितना सोशल है?, बताने की आवश्यकता नहीं। एकांतिक, काल्पनिक(वर्चुअल) दुनिया ने मानवीय संबंधों की नींव को खोखला कर दिया है। इस समय देश में हिंसा का जो दौर चल रहा है, वह आगे चल कर क्या रूप ग्रहण करेगा, किस दिशा की तरफ जाएगा सोचकर ही सिहरन पैदा होती है। मनुष्य को अभी बहुत लंबा सफर तय करना है। हिंसा केवल विनाश् की ओर ही ले जाएगी। समाधान की ओर नहीं। महात्मा गांधी का कालजयी अहिंसा-दर्शन मानव को, देश को, विश्व को दिशा देने का काम कर सकता है। ऐसा पूर्ण विश्वास है।

संदर्भ:

1. शास्त्री, विष्णुकांत, (संपा.) (2011), *महात्मा गांधीः अहिंसा का बल* दिल्लीःगुरुकुल विद्यापीठ प्रकाशन, पृ. -162-63
2. वही, पृ. -139.
3. रोलां, रोमां, *महात्मा गांधी,* संजीव योगी, (संपा.), (2012) दिल्लीःहोली लाईट पब्लिकेशन, पृ. -104-105.
4. शास्त्री, विष्णुकांत, (संपा.) (2011), *महात्मा गांधीः अहिंसा का बल,* दिल्लीःगुरुकुल विद्यापीठ प्रकाशन, पृ. -165
5. वही, पृ. -166.
6. श्रोत्रिय, प्रभाकर, (2012), *हिंद स्वराजः हर दिन युगारंभ* गाजियाबाद:एस.एस. पब्लिशर्स, पृ. -115
7. वही, पृ. -172-73
8. वही, पृ. -176.
9. वही, पृ. -180.
10. वही, पृ. -170-71.
11. वही, पृ. -226

गुरदयाल सिंह और फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यासों में लोककथाएं एवं लोक रीति-रिवाज

सुनीता देवी
पीएच.डी. शोधार्थी, हिन्दी विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

शोध-सारांश:
प्रस्तुत आलेख का उद्देश्य गुरदयाल सिंह और फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यासों में प्रयुक्त लोक कथाओं के द्वारा समाज के ज्ञान, समझ, नैतिक मूल्यों और जानकारी को पीढ़ी दर पीढ़ी आगे पहुंचाना है। दोनों ही महान कथाकारों ने अपने अपने अंचल में प्रचलित लोक कथाओं के प्रयोग के माध्यम से वहां के लोक की सामाजिक, धार्मिक और नैतिक मानसिकता को उजागर किया है। गुरदयाल सिंह और फणीश्वरनाथ रेणु अपने समय के महान कथाकार हैं। इनकी रचनाएँ आज भी समाज में प्रासंगिक हैं। इनके उपन्यासों में अंचल से संबंधित लोक-कथाएँ एवं लोकरीति-रिवाजों का वर्णन हुआ है। इनके द्वारा रचित उपन्यासों में उल्लेखित पौराणिक, ऐतिहासिक, राजाओं से संबंधित, बुजुर्गों से संबंधित एवं परिवार से संबंधित कथाएँ आज भी पाठक बड़े जिज्ञासा से पढ़ते हैं। इन कथाओं में वर्णित विविध लोकरीति एवं विविध रिवाजों को अभी भी लोग पालन करते हैं। दोनों रचनाकारों के उपन्यासों में वर्णित कथाएं अत्यंत ही लोकप्रिय है।

बीज-शब्द:
लोककथा, लोक रीति-रिवाज, खूबसूरत पक्षी, अंबासीर राजा, सन्त और चेला, रूप बसन्त, नल दमयन्ती, जानी चोर, शेखचिलिया, सुवंश, व्रतकथा, भक्तध्रूव, बकरचरवाहा, संकल्प, विवाह, घूंघट, माटी

लोककथा किसी मानवसमूह की उस साझी अभिव्यक्ति को कहते हैं जो कथाओं, कहावतों, चुटकुलों आदि अनेक रूपों में अभिव्यक्त होता है। एक ही कथा विभिन्न सन्दर्भों और अंचलों में बदलकर अनेक रूप ग्रहण करती है। लोकगीतों की भाँति लोककथाएँ भी हमें मानव की परम्परागत वसीयत के रूप में प्राप्त है। रिवाज की उत्पत्ति स्थानीय लोक कथाओं, संस्कृति, अन्धविश्वास, रहन-सहन, खान-पान आदि के आधार पर होती है। दरअसल लोगों की जिन्दगी से सम्बन्ध रखने वाला काम रिवाज होता है।

गुरदयाल सिंह के उपन्यासों में लोक कथाएं-

'परसा' उपन्यास में लोककथा : 'परसा' नामक उपन्यास में कुल चार लोककथाओं का प्रतिपादन किया गया है, परसा की तीन पीढ़ियों की लोककथा, साधुराम बुजुर्ग के द्वारा सुनाई गई खुबसूरत पक्षी की कथा, मठनदीप देश के अंबासीर राजा की कथा और सन्त और चेले की कथा। परसे के आस-पास के गाँव के लोग परसे की तीन पीढ़ियों को याद कर तरह-तरह की कथाएं बनाकर तथा बुनकर सुनाते रहते हैं। अधिकतर लोग तो चटखारे लेकर सुनते-सुनाते थे पर बड़ी उम्र के बुजुर्ग इसे 'ब्राह्मणों' के खून की तासीर समझते, गंभीरता से कुछ कहते, सुनते। साधुराम बुजुर्ग के द्वारा सुनाई खूबसूरत पक्षी की कथा परसा नारंग दास नामक सन्त को सुनाते हैं, जिस पक्षी के प्रति रानी की अधिरता व बेचैनी का प्रतिपादन किया गया है, मठनदीप के अंबासीर राजा के पास सन्त का आगमन और खप्पर भर अनाज की मांग, और अनाज न मिलने पर राजा से तीन वचन, तीन वचनों में से अकाल की मंजूरी होना और अन्तिम जिसमें गुरु और चेले की लोककथा है, जिस कथा को सुनकर टिंडी उस पर अमल करते हैं। परसा नामक उपन्यास में एक बार सन्त नारंग दास और परसा आपस में बातें करते हुए एकदम चुप हो गए। नारंग दास को यह चुप्पी बेचैन करने लगी तो नारंग दास ने परसा से कहा कि कोई कथा सुनाओ तो परसा ने कहा सुनो महाराज...हमारे गांव में हमारा एक बुजुर्ग था साधुराम। वह एक कथा सुनाया करता था कि एक पक्षी हुआ करता था जिसकी आँखें काली और सिर सुनहरा था पर चोंच और पंख सुर्ख थे। यह पक्षी संगलदीप के राजमहल के ऊपर से नित्य उसी पल उड़ान भरता जब संगलदीप की महारानी नहा-धोकर राजमहल के ऊपर बाल सुखा रही होती। तब वह चकित हो उसे देखती पर पहचान न पाती

कि कौन जाति का पक्षी है। दूर तक नजर टिकाए देखती तो मन अधिक अशान्त, अधीर होने लगता। जब कुछ दिन बीत गए तो अत्यन्त बेचैन मन से महाराज को बुलाकर पक्षी को दिखाते व्याकुल होकर कहा- 'महाराज अगर यह पक्षी न मिला तो मैं अपने प्राण त्याग दूंगी। तभी राजा ने दरबारियों, मन्त्रियों और बहेलियों को आज्ञा दी पक्षी को पकड़ने के लिए, सभी पक्षी को पकड़ने के लिए दौड़े, परन्तु कोई पकड़ नहीं पाए। कुछ दिन बाद बहेलिया सिर्फ यह पता लगा पाया कि यह पक्षी तभी धरती पर उतरता है जब इसे भूख लगती है, दूसरी बात यह पता चली कि जहां एक बार जाए वहां दूसरी बार कभी नहीं उतरता। बहते पानी की भांति अगली बार कहीं और चला जाता है ऐसी स्थिति में उसे कोई नहीं पकड़ सकता।[1] यहाँ इस उपन्यास में एक खुबसुरत पक्षी की कथा व उस पक्षी की प्राप्ति के लिए रानी की व्याकुलता व अधीरता प्रतिपादित की गई है। टिंडी परसा से जिद्द करने लगा कि बाबा कोई कथा सुनाओ- परसा ने कहा तो सुन - एक देश था मिठनदीप। उस देश का राजा अंबासीर बहुत धर्मात्मा था। आए गए साधु-संत, गुण-ज्ञानी, पण्डित विद्वान का आदर सत्कार किया करता था। एक दिन उसके दरबार में एक जटाधारी साधू आया। राजा ने मर्यादानुसार उसकी आवभगत की और नम्रता से आने का कारण पूछा। सन्त ने कहा कि एक खप्परभर अनाज चाहिए, आशा लेकर दूर से आए हैं तभी राजा ने भंडारी को आज्ञा दी कि साधु को अनाज दिया जाए, सभी ने दातों तले उंगली दबाली कि भण्डार का सारा अनाज खप्पर में डालने से भी खप्पर नहीं भरेगा। सन्त ने कहा कि एक खप्पर भर अनाज तेरे भण्डार से नहीं मिल पाया। तू राजा है, वचन तो निभाना पड़ेगा। अब तेरे सामने तीन रास्ते हैं या तो अनाज का खप्पर भर कर दे। या फिर साढ़े सात पहर की बरसात परवान कर। यह भी ठीक न समझे तो साढ़े सात साल का अकाल स्वीकार कर और चौथा कोई रास्ता नहीं। तभी राजा ने मन्त्रियों से मशवरा किया तो सभी ने यही सलाह दी कि अकाल मंजूर करो। उसके बाद जो दो ढाई साल तब बूंद न गिरी तो अनाज भी सारा खत्म हो गया, पशु-पक्षी व इन्सान सभी मरने लगे तो राजा सारी प्रजा के साथ दक्षिण दिशा चल दिया।[2] टिंडी कालू मजहबी से सुनी हुई एक कहानी बाबा परसे को सुनाने लगे कि बाबा किसी सन्त के चेले ने कहा, 'गुरु जी मेरी मंगनी हो गई। सन्त बोले, तो भाई हमारे काम से गया। कुछ देर बाद चेले ने बताया, 'सन्त जी, मेरा ब्याह हो गया। 'संत बोले, 'अब तू घर वालों के काम से भी गया।' एक साल बाद जब उसने कहा 'गुरु जी, मेरा बच्चा हो गया, तो संत बोले, 'अब तो तू बाई अपने काम से भी गया।' फिर टिंडी ने कहा कि बाबा 'ऐसे झंझट में क्यूं पड़ूं कि अपने आप से भी जाऊं।' अपना पेट तो पूरा नहीं होता, उन्हें क्या खिलाऊंगा। परसा अब हंस नहीं पाया अधिक गंभीर होकर बोला, 'ऐसी बातें तुझे कब से सूझने लगी है।[3] यहाँ पर एक गुरु और चेले की कहानी प्रतिपादित की गई है, साथ ही साथ टिंडी को भी उस कहानी पर अमल करता हुआ दर्शाया गया है।

'परसा' उपन्यास में लोक रीति-रिवाज

'परसा' उपन्यास में तीन रस्मों का प्रतिपादन किया गया है, पहली दाह संस्कार के समय अर्थी के आगे-आगे चिमटा लेकर चलने वाली, दूसरी गंगी के शादी के समय फेरों वाली और लड़की के संकल्प वाली परम्परा और तीसरी शादी से पहले रिश्ता पक्का करने के लिए पोहला जब परसा के पास लड़की के पिता डी.एस.पी. को भेजता है।

'परसा' उपन्यास में जब परसा की पत्नी की मृत्यु हो जाती है, तो फिर उसको दाह संस्कार के लिए लेकर जाते हैं, तब चिमटे वाली परम्परा को निभाते हैं, उसी परम्परा का यहां पतिपादन किया जा रहा है। जब बीरो की मौत हो जाती है, तो उसकी अर्थी जब धर्मशाला के आगे से गुजरती है तो गुरुद्वारे का भाई चिमटा पकड़ आगे-आगे चलने लगता है। पाली रागी हारमोनियम और उसका शिष्य गुरदेव धग्गा भी ढोलक गले में लटकाए साथ चल दिए। पाले रागी ने अपनी स्थिर पर कुछ भारी हो गई आवाज में एक शब्द की धुन उठाई।

'मौत दा बन्ना दिस्से...
जयों दरयावे ढाओ...
मौत दा बन्ने दिस्से।[4]

यहां पर अर्थी के समय होने वाली लोक रीति-रिवाज की परम्परा को प्रतिपदित किया गया है।

गंगी की शादी के समय उसका स्वास्थ्य खराब हो जाता है, अर्धचेतना में ही लेटी बड़ी-बड़ी डरावनी-सी आँखों से छत्त की और नजर गड़ाए देखने लगती है परन्तु उनके परिवारवालों को उसकी फेरों की रस्म पूरी करनी होती है। घर के बड़े-बुढ़े और दोनों पुरोहित मिलकर मश्वरा करते हैं।

फिर वो फेरों की रस्म गुड़ की भेली लाकर उसी के साथ पूरी कर देते हैं, पर उनके मत में संकल्प तो लड़के के हाथों ही करवाना जरूरी था। जब संकल्प करवाने के लिए पुरोहित भीतर गया तो उसे देखते ही गंगी फिर बेसुध हो गई। गंगी की दोनों भाभियाँ और एक पड़ोसन दंतल खोलने लगी तो बड़ी भाभी की उंगली में दांत गड़ जाने के कारण खून बहने लगा। गंगी के काले पड़ गए ओंठ लहू से रंग गए। यहां पर फेरों पर होने वाली रस्मों और रीति-रिवाजों की परम्परा का प्रतिपादन किया गया है।[5]

'मढ़ी का दीवा' उपन्यास में लोककथा

'मढ़ी का दीवा' नामक उपन्यास में 'रूप बसन्त', 'नल-दमयन्ती' 'जानी चोर', 'पूरन भक्त' की लोककथाओं से कवीवरों की कवीवरी से टोटके तथा छोटी-छोटी घटनाओं का प्रतिपादन किया गया है, ये सभी लोककथाएं या किस्से रौनकी जगसीर को अपना अतीत भुलाने के लिए सुनाता है।

'मढी का दीवा' नामक उपन्यास में जब रौनकी सन्तों को याद कर परेशान हो जाता है तो जगसीर के सामने अपनी व्यथा सुनाता है, तो तब जगसीर भी निक्के की बहू को याद कर अपने अतीत को याद कर परेशान हो जाता है, तब रौनकी जगसीर को कई पुरानी लोककथाओं के किस्से सुनाता है। ताकि जगसीर का ध्यान वहां, से हटकर लोककथाओं की ओर जाए। रौनकी आधी रात तक जगसीर को 'रूप-बसंत', 'जानी चोर', 'नल-दमयंती' तथा 'पूरन भक्त' की लोककथाओं से, कविवरों की कविवरी से टोटके तथा छोटी-छोटी घटनाएं सुनाता रहा। जगसीर को लगा जैसे रौनकी उसे, कीचड़ से निकालकर किसी बहुत दूर की, कल्पित दुनिया में ले गया हो। जो बहुत अद्‌भुत पर बहुत रोचक थी और उस रात जब वे सोए तो जगसीर को अपना मन शान्त तथा हल्का-हल्का लगा।[6]

'मढी का दीवा' उपन्यास में लोक रीति-रिवाज

'मढी का दीवा' नामक उपन्यास में दो रस्मों को प्रतिपादित किया गया है। पहली रस्म जब लड़के की शादी के बाद बहु की मुँह दिखाई की रस्म और दूसरी जब बहु बुजूर्ग औरतों के पैर दबाने की रस्म निभाती है। 'मढ़ी का दीवा' नामक उपन्यास में जब निक्के की शादी होती है तो उसके दोस्त निक्के को उसकी पत्नी की मुँह दिखाई रस्म के लिए तंग करते हैं, निक्के की माँ को जब पता चलता है तो वो गेबू धीला और जगसीर आदि को मुँह देखने के लिए कहती है तो चले जाओ, वह बैठी है सामने। और साथ ही साथ यह भी कहती है कि तुम खाली हाथ तो नहीं आए?

दोस्तों ने कहा कि फिक्र मत करो ताई, सारा इंतजाम करके लाए हैं। यह देख उसकी मुंह दिखाई। धीले से अंगोछ में बंधे लड्डू दिखाकर कहा और निक्के को गर्दन से पकड़कर आगे धकेलते हुए बोला, 'और यह रहा उसका 'घूग्घू' बजाने के लिए। .... घूग्घू घू ... और वह हंस पड़ा।[7] यहाँ पर लड़के की शादी के बाद उसकी पत्नी के मुंह दिखाई रस्म को प्रतिपादित किया गया है।

'मढ़ी का दीवा' नामक उपन्यास में सूहटी के पांव दबाती है और पांव छूती है तो नन्दी उसे आसीसें देती है जैसे ...'पाय लागूं अम्मा' नन्दी की खाट के पास आते हुए सूहटी बोली। नन्दी ने कहा - जीती रहो। तेरे भाई जीये। भतीजे जीये। सदा सुहागिन हो...। नन्दी ने उसको आसीसें दी।[8] यहाँ नई बहु के द्वारा बुजुर्गो के पैर दबाने और पैर छूने की रीति-रिवाज को प्रतिपादित किया गया है।

फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यासों में लोक कथाएं एवं रीति-रिवाज-

'मैला आँचल' उपन्यास में लोककथा

'मैला आँचल' नामक उपन्यास में चार-पाँच कथाओं का जिक्र किया गया है जैसे तन्त्रिमाटोली में सुरंगा सदाब्रिज की कथा, पुरनियाँ की कथा, शकुन्तला की कथा, सावित्री की कथा और उपन्यासों के ऋषि व मुनियों की कथा। परन्तु कमला उपन्यासों की कथा को अधिक महत्त्व न देकर सावित्री व शकुन्तला की कथा को अधिक महत्त्व देती है। इस उपन्यास में तन्त्रिमाटोली में सुरंगा-सदाब्रिज की कथा होती है। मँहगूदास के घर के पास लोग जमा होते हैं। पुरैनिया टीसन से एक मेहमान आया है। रेलवे में काम करता है।[9] 'मैला आँचल' उपन्यास में डॉ. जब प्यारू से मिलते हैं तो कमला के बारे में पूछते हैं कि वह कैसी है? यह सुनकर कमला की माँ एक ही साँस में उतावली हो जाती है, जब पता चलता है कि प्यारू ने यह कहा कि कमला अच्छी है, तो कमला की माँ खुशी के मारे भरपेट भी नहीं खा सकती है। माँ-बेटी साथ ही खाती है रोज। आज कमला बार-बार टोकती है, 'माँ खाओ भी, पुरैनियाँ की कथा पीछे होगी।... बलैया मेरी किसी का फोटो देखेगी। कमला की माँ जब उपन्यास सुनने लगती है तो कमला कहती है कि माँ शकुन्तला, सावित्री की कथा पढ़ने में मन लगता है, उपन्यासों में पढ़ने से तो ऐसा लगता है कि यह ऋषि-मुनि की कहानी नहीं, जैसे यह हम लोगों के गांवघर की बात हो।[10] यहाँ एक तो 'पुरैनियाँ' की कथा प्रतिपादित की गई है और उपन्यासों की कहानी से शकुन्तला और सावित्री की कथा को अधिक महत्व दिया गया है। कुल मिलाकर इस उपन्यास में चार-पाँच कहानियों का जिक्र किया गया है।

'मैला आँचल' उपन्यास में लोक रीति-रिवाज

'मैला आँचल' उपन्यास में फणीश्वरनाथ रेणु ने साधुओं को माटी देने की परम्परा और घूंघट की परम्परा जैसी दो रीति-रिवाजों का प्रतिपादन किया है जैसे कि इस उपन्यास में जब महन्थ साहब की मृत्यु हो जाती है, दूर-दूर से अनेक साधु जमा होते हैं, परन्तु उनमें से किसी को भी साधुओं को माटी देने की परम्परा नहीं पता होती है, तभी

लक्ष्मी कहती है कि साधुओं को माटी देने की रीत भी नहीं मालूम? जटा बढ़ा लिया और हाथ में कमण्डल ले लिया, हो गए साधु। 'चरनदास! पहले बीजक पाठ होगा, तब माटी! इसके बाद सभी सन्तन के गोर पर माटी दी जाएगी। सबसे पहले रामदास माटी देता है। उसके बाद लक्ष्मी दासिलन मुट्ठी-भर माटी महन्थ साहेब की सफेद चादर देती है फिर फूलों की माला, फिर साधु लोग कुदाली से गोर से माटी भरने लगते हैं।[11] यहाँ पर सन्तों को माटी देने की परम्परा प्रतिपादित की गई है।

इस उपन्यास में एक बार एक औरत की बेटी बीमार (बेहोश) हो जाती है और वह उसे डॉक्टर के पास इलाज के लिए लेकर जाती है वहां पर बहुत औरते घूंघट निकाले हुए खड़ी थी, साथ ही साथ उस लड़की की माँ ने भी घूंघट निकाला हुआ था जब डॉक्टर ने पूछा कि पहले भी यह ऐसे ही कभी बेहोश हुई थी, उसकी माँ ने कहा जी, हाँ दो-तीन बार पहले भी ऐसे हुआ था, फिर कुछ देर बाद डॉक्टर ने पूछा कि पेट? कब्ज तो नहीं? कोई जवाब नहीं देता है घूंघट का ढेखड़ी औरतें के घूंघट आपस में मिलते हैं एक अधेड़ स्त्री आगे बढ़ती है युवती की माँ है 'जी कब्जियत नहीं है।[12] एक दूसरी मरीज युवती को देखा, जो बन्द कमरे में नीली रजाई में लिपटी हुई थी, बाल खुले और बिखरे हुए थे, उसके बारे में। यहाँ पर औरतें की पर्दा प्रथा का प्रतिपादन किया गया है।

'परती परिकथा' उपान्यास में लोककथा

'परती परिकथा' नामक उपन्यास में कुल 6 कथाओं का प्रतिपादन किया गया है, जैसे - सुन्नरि नैका की कथा, शेखचिलिया की कथा, कलात्मक प्रेम की सच्चाई की परीक्षा, हवेली में व्रतकथा, और सुवंश की कथा, साथ ही साथ महाभारत की कथा-उपकथाओं का भी थोड़ा सा जिक्र किया गया है। कुँहुँ ऊँ! हवेली की ओर से सारंगी की आवाज आती है, तभी यह सुनकर मलारी का ध्यान भंग हो जाता है, वह झोपड़ी के अन्दर जाने लगती है, तभी बालगोभिन मलारी को रोकती है और कहती है कि सुन लो मलारी! सभी औरत-मर्द, बूढ़े-बच्चे सुन लें। आज हवेली में सुन्नरि नैका की कथा सुनने कोई नहीं जाएगा। सुन लो मिटिंग में पास हुआ है अभी।[13] यहाँ प्रतीत होता है कि हवेली में सुन्नरि नैका की कथा होने वाली है, कथा तो होगी पर मलारी के घर से कोई नहीं जाएगा। लुत्तो का बापू लुत्तो को सोते समय शेखचिलिया की कहानी सुनाता था, परन्तु जब कुछ समय बाद लुत्तो का बापू मर जाता है तो उसकी माँ जब लुत्तो को खाने या दूध पीने के लिए कहती है तो वह मना करता है, तभी उसकी (लुत्तो) की माँ कहने लगती है कि अगर तू खाना नहीं खाएगा या दूध नहीं पीएगा तो तुम्हारा बापू भी भूखा मर जाएगा तभी उसे अपने बापू की जोर से याद आती है क्योंकि वह अपने बापू के साथ सोता था, पीठ पर थपकी देते हुए उसके बापू शेखचिलिया की कहानी सुनाता था।[14] यहाँ खेलचिलिया की कहानी का जिक्र किया गया है।

दीवाना मलारी से प्रेम करता है और मलारी की माँ से प्रेम की भीख माँगता है, भोगेन्द्र बापू इस पर एक कहानी लिखते हैं जिसका नाम है, 'कलात्मक प्रेम की सच्चाई की परीक्षा' और कहते हैं कहानी छपने पर तो दुनिया वाले पढ़ेंगे परन्तु अपने परिवार को पहले ही बता दिया।[15] यहाँ पर प्रतिपादित किया गया है कि भोगेन्दर बाबू एक कहानी के माध्यम से दीवाना की प्रेम कहानी को उजागर करना चाहता है। जितेन्द्रनाथ 'कारन' पीने के बाद एकदम रोमांचित हो जाते हैं, फिर हवेली में 'शंखध्वनि' होती है, क्योंकि वहाँ कोई व्रतकथा होती है। तो वह सोचता है कि आज हवेली में व्रतकथा है। किसी व्रतकथा में कितनी बार शंखध्वनि की जाती है, नहीं मालूम जितेन्द्र को। कहने लगे कि सात दिनों तक हवेली में कोई न कोई व्रतकथा करवाने का प्रोग्राम है, ताजमनी का। ... घन-घन बाजे शंख।[16] इससे ज्ञात होता है कि हवेली में अनेक प्रकार की व्रतकथाएं होती हैं। प्रयागचन्द कहीं मेहमानी चला जाता है। उसके बदले में ललितलाल होता है। किताबों की बँधी-बँधाई गठरी उठाकर दूसरे कमरे में चला जाता है। शैलेन्द्र हँसकर उसे कहते हैं कि सुवंश-कथा हो रही है। आइए आप भी सुन लिजिए।[17]

'परती परिकथा' उपान्यास में लोकरीति-रिवाज

'परती परिकथा' उपन्यास में फणीश्वरनाथ रेणु ने खैन नामक प्रथा, प्रचलित की थी। कमार, कुम्हार, चमार आदि को खेन देते थे और बदले में साल-भर काम लेते थे। हल के हिसाब से ही सभी किस्म के खैन की दर नियत होती

थी। एक हलवाले को अगहनी धान एक मन, भदई एक मन। लेकिन खवाए तो दिन-रात आँगन से लेकर दरवाजे तक का काम करते थे, इसलिए उन्हें ऐसी जमीन दी जाती थी, खा-वास का अर्थ हुआ - खाओ और वास करो।[18] यहाँ पर खैन नामक प्रथा का प्रतिपादन किया गया है। इसके अलावा भी इस उपन्यास में बहु विवाह प्रथा का प्रतिपादन भी मौजूद है। जैसे-लुत्तो जित्तना बाबू से पूछता है कि कोठी की मालकिन आपकी कौन...? लुत्तो को पूछने का हक है। वह पैरवीकार है। जित्तन ने कहा कि वह मेरी माँ थी। हाकिम यह सुनकर चौंक जाते हैं और कहते हैं कि माँ कैसी माँ? जित्तन ने कहा - महोदय! क्षेत्रिय मैथिल ब्राह्मणों में बहु-विवाह की प्रथा थी। मेरे पितामह की पन्द्रह उप-पत्नियाँ थी। पिता जी ने सिर्फ दो...।

'मिसेज रोजउड आपकी सौतेली माँ थी।'

'हाँ! श्रीमती गीता मिश्रा।'[19]

यहाँ पर बहु विवाह प्रथा का प्रतिपादन किया गया है।

बलि प्रथा का प्रतिपादन भी इस उपन्यास में देखने को मिलता है। जैसे - सुबह लोगों ने देखा कि गाँव से पूरब परती पर जित्तन बाबू के नए बाग के पास सैकड़ों खीमे खड़े हुए हैं। एक सफेद नगरी बस नगरी बस जाती है, नाका के सिपाही जी और गाँव के चौकीदार कहते हैं कि डरने की कोई बात नहीं। कोशी वाले साहब लोग चतरा गद्दी में पुल बांधने आए हैं। फिर औरतें प्रश्न उठाती है कि पचास कोस दूर बैठकर भला पुल कैसे बाँधेगे? और पुल बाँधने के पहले तो आदकी की बलि की जरूरत होती है।[20] इस प्रकार इस उपन्यास में बलिप्रथा की प्रवृत्ति देखने को मिलती है।

'कितने चौराहे' उपन्यास में लोककथा-

'कितने चौराहे' उपन्यास में मनमोहन 'भक्तध्रुव' की कहानी जानता है, और शरबतिया 'बकरचरवाहा' और लकड़सुँधवा की कहानी जानती है, उन दोनों की कहानियों में मटरू मनमोहन की कहानी को ज्यादा महत्त्व देता है। विस्तृत वर्णन इस प्रकार है- जब मनमोहन भक्तध्रुव की कहानी सुनाता है तो किस्सा सुनते-सुनते शरबतिया कई बार रोने-रोने को हुई, लेकिन उसने मन पर काबू पा लिया है। मटरू न जाने कब आकर किस्सा सुनने में मग्न हो जाता है। कहानी समाप्त होने पर मटरू कहने लगा, 'मोहन भैया कितना बढ़िया किस्सा जानते हैं। और तू तो दीदी, बस एक था बकरचरवाहा और एक था लकड़सुँधवा का किस्सा ही जानती हैं। शरबतिया ने कहा कि - 'जा-जा! बकरचरवाहा को बकरचरवाहा का किस्सा न सुनाया जाएगा तो राजा रानी का? शरबतिया मुस्कुराकर मटरू की पीठ पर हाथ फेरने लगी। बहुत दिनों के बाद दीदी इतनी भावुक हुई।[21] यहाँ पर 'भक्त ध्रुव' और बकरचरवाहा का किस्सा कहानी के रूप में प्रतिपादित किया गया है। स्कूल में तमाशा देखने के लिए विद्यार्थियों से भी अधिक शहर के लोग इक्ट्ठे हो जाते हैं, हेडमास्टर साहब इसे देखकर हैरान हो जाते हैं और कहते हैं कि मैंने कल्पना भी नहीं की थी इतने लोग जुड़ जाएंगे। सातों शैतान अब तक होस्टल के एक कमरे में बैठे हुए थे... प्रियोदा पाँच मिनट में 'जलियाँ' वाला बाग के मदनगोपाल की कहानी सुनाकर सभी के सिर पर 'मदनगोपाल' की आत्मा को सवार करवा देती है।[22] यहाँ पर 'जलियांवाला बाग' के मदनगोपाल की कथा प्रतिपादित की गई है ताकि लोगों का ध्यान मदनगोपाल के किस्से की और भटक जाए।

निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि गुरदयाल सिंह और फणीश्वरनाथ रेणु ने पौराणिक, ऐतिहासिक, उपन्यासों से सम्बन्धित, राजाओं से सम्बन्धित, बुजुर्गो से सम्बन्धित, और पारिवारिक रिश्तों से सम्बन्धित अनेक प्रकार की लोककथाओं का प्रतिपादन किया है, जिसके पढ़ने से व्यक्ति के अतीत का पता चलता है। उपर्युक्त उपन्यासों के अध्ययन के पश्चात् यह भी कहा जा सकता है कि बहुत से ऐसे रिवाज हैं जो पौराणिक कथाओं के आधार पर भी समाज में प्रचलित हो जाते हैं।

संदर्भ :

1. सिंह, गुरदयाल, *परसा,* पंचकूला: आधार प्रकाशन, पृ. -199-200
2. वही, पृ. -270-271
3. वही, पृ. -284
4. वही, पृ. -14
5. वही, पृ. -94
6. सिंह, गुरदयाल, *मढ़ी का दीवा* , पंचकूला: आधार प्रकाशन, पृ. -91
7. वही, पृ. -23
8. वही, पृ. -77
9. रेणु, फणीश्वरनाथ, *मैला आँचल,* नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, पृ. -64
10. वही, पृ. -304
11. वही, पृ.- 49
12. वही, पृ.- 59
13. वही, पृ. -155
14. रेणु, फणीश्वरनाथ, *परती: परिकथा,* नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, पृ. -257
15. वही, पृ. -286
16. वही, पृ. -293
17. वही, पृ. -304
18. वही, पृ. -36
19. वही, पृ. -160
20. वही, पृ. -223
21. रेणु, फणीश्वरनाथ, *कितने चौराहे* , नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, पृ. -36
22. वही, पृ. -61

तुलसीदास : कवि–कर्म की उदात्त विजय गाथा

भैरव सिंह
सहायक अध्यापक
हासीमारा हिंदी हाई स्कूल, अलीपुरद्वार

शोध सारांश :
'तुलसीदास' निराला की लंबी कथात्मक कविता है। अगर आप यह जानना चाहते हैं कि कवि-कर्म किस महान उद्देश्य से परिचालित होता है, तो निराला की इस रचना को पढ़ें। अगर आप यह जानने को इच्छुक हैं कि 'कला कला के लिए या जीवन के लिए ' या कविताई कोई शौक–शगल (केवल पद, पैसा, यश प्राप्ति का माध्यम भर) की चीज है या कठोर साधना और तपस्या, तो निराला की इस कृति को पढ़ें। अगर आप एक कवि के रचनात्मक-संघर्ष और उसकी सम्पूर्ण रचना- प्रक्रिया को समझना चाहते हों, तो निराला की इस रचना का अवलोकन करें। अगर आप एक कवि की दृष्टि से मध्यकालीन भारत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की वास्तविकता (सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों का ह्रास और फिर उसके विकास के लिए संघर्ष।) से परिचित होना चाहते हों, तो निराला की इस कृति को पढ़ें। अगर आपका मन यह जानने को उत्सुक हो रहा है कि कैसे भक्तिकाल का एक कवि, आधुनिक हिन्दी- कविता के श्रेष्ठ व अद्वितीय कवि (निराला) का सर्वप्रिय व आदर्श कवि बन बैठा, तो इस कविता को पढ़ें। अगर आप कला की गरिमा के साथ सांस्कृतिक चिंतन की गहराई की थाह लेना चाहते हों और साथ ही यह की कैसे एक छायावादी कवि अपनी प्रतिभा और कठिन साध्य परिश्रम के बलबूते अपनी रचना और पाठक को रोमांटिक धरातल से क्लासिक धरातल पर पहुंचा देता है तो निराला की इस महत्वपूर्ण रचना को अवश्य पढ़ें। मध्यकाल के महान लोकवादी कवि 'तुलसीदास' को केंद्र में रखकर ही निराला ने इस कविता की रचना की है। 'तुलसीदास' ही इस कविता में काव्य-नायक हैं।तुलसी को 'हिन्दू-संस्कृति के जीर्णोंधारक' के रूप में दिखाया गया है। जो काम निराला ने 'राम की शक्तिपूजा' में राम से 'शक्ति की मौलिक कल्पना' की अवधारणा को साकार करके करवाया, वही काम 'तुलसीदास' में तुलसी की रचनात्मक शक्ति (लेखनी) के माध्यम से करवाते हैं।

बीज शब्द :
मध्यकाल, भारतीय संस्कृति, इस्लामिक संस्कृति, पतन, उत्थान, तुलसीदास, कवि-कर्म, रत्नावली, काम, प्रेम, प्रकृति, कला, जागरण आदि।

"निराला के लिए पूर्ण ज्ञान का अधिष्ठान है भारत, हृदय की सम्पूर्ण श्रद्धा और भक्ति का आधार है भारत, जीवन के समस्त कर्मों का लक्ष्य है भारत। निराला की एक प्रिय कल्पना थी, भारत अपने शब्दार्थ से ही ज्ञानमय है। भा अर्थात प्रकाश; भारत अर्थात प्रकाशवान। 'तुलसीदास' में इसी ज्ञानमय भारत का सूर्यास्त होता है। तुलसीदास की काव्य साधना इसी भारत का अपार भ्रम हरने के लिए है।"और "तुलसीदास कवि हैं; उनका कवि कर्म किसी भी शस्त्रधारी योद्धा के कर्म से कम वीरता पूर्ण नहीं है। तुलसीदास ने अपना कवि कर्म तब आरंभ किया जब देश के समस्त योद्धाओं के अस्त्र-शस्त्र व्यर्थ हो गए थे। सबकुछ व्यर्थ हो जाए, काव्य साधना कभी व्यर्थ नहीं होती। जो वीर थे, उन्होनें वीरगति प्राप्त की : जो कायर थे, वे नई सत्ता के स्तम्भ बने। देश के उद्धार का बीड़ा किसने उठाया कवि ने। आसक्ति, कुतर्क और विरोधी संस्कारों से जूझते हुए, रत्नावली की सहायता से , तुलसीदास अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते हैं।" [1]

डॉ. रामविलास शर्मा के इन दोनों वक्तव्यों को मिलाकर पढ़ने पर हमें निराला की रचना 'तुलसीदास' के काव्य-मर्म तक पहुँचने में आसानी होती है। अगर आप यह जानना चाहते हों कि कवि-कर्म किस महान उद्देश्य से परिचालित होता है, तो निराला की इस रचना को पढ़ें। अगर आप यह जानने को इच्छुक हैं कि 'कला कला के लिए या जीवन के लिए' या कविताई कोई शौक–शगल (केवल पद, पैसा, यश प्राप्ति का माध्यम भर) की चीज है या कठोर साधना और तपस्या, तो निराला की इस कृति को पढ़ें। अगर आप एक कवि के रचनात्मक-संघर्ष और उसकी सम्पूर्ण रचना- प्रक्रिया को समझना चाहते हों, तो निराला की इस रचना का अवलोकन करें। अगर आप एक कवि की दृष्टि से मध्यकालीन भारत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की वास्तविकता (सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों का ह्रास और फिर उसके विकास के लिए संघर्ष।) से परिचित होना चाहते हों, तो निराला की इस कृति को पढ़ें। अगर आपका मन यह जानने को उत्सुक हो रहा है कि कैसे भक्तिकाल का एक कवि, आधुनिक हिन्दी- कविता के श्रेष्ठ व अद्वितीय कवि (निराला) का सर्वप्रिय व आदर्श

कवि बन बैठा, तो इस कविता को पढ़ें। अगर आप कला की गरिमा के साथ सांस्कृतिक चिंतन की गहराई की थाह लेना चाहते हों और साथ ही यह कि कैसे एक छायावादी कवि अपनी प्रतिभा और कठिन साध्य परिश्रम के बलबूते अपनी रचना और पाठक को रोमांटिक धरातल से क्लासिक धरातल पर पहुंचा देता है तो निराला की इस महत्वपूर्ण रचना को अवश्य पढ़ें। निःसन्देह तब हम यह समझ पायेंगे कि 'राम कि शक्ति-पूजा' की तरह 'तुलसीदास' भी निराला की एक उदात्त रचना है, जिसमें 'छायावाद की कला को चरम शिखर पर पहुंचाकर विराम दिया' गया है।

मध्यकाल के महान लोकवादी कवि 'तुलसीदास' को केंद्र में रखकर ही निराला ने इस कविता की रचना की है। 'तुलसीदास' ही इस कविता में काव्य-नायक हैं। हिन्दी साहित्य में तुलसीदास की पहचान एक 'रामभक्त कवि' के रूप में है, लेकिन चाहे उनके ' राम ' हों या उनकी रचनाएँ, दोनों ही गहन 'सामाजिकबोध और युगबोध' से ओतप्रोत हैं। मध्यकाल का यह कवि देशकाल को महत्व देने वाला है, उसकी संवेदना देश और काल की तीव्र अनुभूति से जगती है। अगर ऐसा नहीं होता तो वह क्यों कहते- 'मंगल करनि कलिमल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की' या 'कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कह हित होई।'[2] कहीं-न-कहीं अपनी रचनाओं में राम के महिमामंडन के बहाने लोककल्याण ही उनका इष्ट रहा है। तुलसीदास ने अपनी रचनाओं में जिन राम के गुणों का बखान किया है, वह भारत के सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों के जीवंत प्रतीक है। उनका आचरण सदैव लोकपक्ष के अनुकूल रहा है। उनके द्वारा स्थापित जीवनादर्श आज भी भारतीय समाज में व्यक्ति और परिवार के आचरण का अभिन्न हिस्सा है। राम को ईश्वर से मनुष्य और मनुष्य से ईश्वर (अपने आचरण के द्वारा) बनाना तुलसी के कवि-कौशल का ही कमाल है। जाति, धर्म, संप्रदाय, भाषा, अर्थ के नाम पर छिन्न-भिन्न हुए जातीय जीवन को एक बार पुनः परिवार व समाज संबंधी सर्वोत्तम मूल्यों के आधार पर एक सूत्र में बांधने का महान प्रयास तुलसीदास ने किया और यह सारा कुछ 'एक समाज-सुधारक या दार्शनिक के रूप में नहीं बल्कि एक कवि के रूप में किया गया और यही बात निराला को भा गई। निश्चित तौर पर एक कवि के रूप में उनकी भूमिका (मध्यकाल में) को ध्यान में रखकर ही निराला ने उन्हें याद किया है।

'राम की शक्तिपूजा' की तरह 'तुलसीदास' भी निराला की एक लंबी कथात्मक कविता है, जिसमें भारत के सांस्कृतिक ह्रास की विशद पृष्ठभूमि को प्रस्तुत कर, प्रकृति के द्वारा उसके उत्थान की प्रेरणा का चित्रण कर तुलसी को 'हिन्दू-संस्कृति के जीर्णोधारक' के रूप में दिखाया गया है। जो काम निराला ने 'राम की शक्तिपूजा' में राम से 'शक्ति की मौलिक कल्पना' की अवधारणा को साकार करके करवाया, वही काम 'तुलसीदास' में तुलसी की रचनात्मक शक्ति (लेखनी) के माध्यम से करवाते हैं। दूधनाथ सिंह ने लिखा- 'रामकथा के रचयिता तुलसीदास और राम एवं निराला यहाँ एक हो जाते हैं। तुलसीदास के माध्यम से जन साधारण की दुर्दशा और सांस्कृतिक अंधकार की चिंता और उसकी सुरक्षा निराला के कवि की आधुनिक चिंता है। इन कविताओं में निराला ने स्वयं को दोहरे स्तर पर छुआ है। उनकी पहली चिंता ऐतिहासिक और राष्ट्रीय उन्नयन की है और दूसरी चिंता अपनी रचनात्मकता और प्रतिभा-तेजस्विता की छान-बीन, पुर्नपहचान तथा प्रतिष्ठा है। क्योंकि निराला जानते हैं कि उन्हीं के मंत्रपूत, ओजस्वी, मौलिक वाग्मिता और गहरे अध्ययन तथा जीवन और संस्कृति की विराट समझ के भीतर से ही पुनः भारतीय जनता के लिए आशा, विश्वास और आस्था का सूर्य उगेगा'।[3] निराला के 'निजत्व की समीपतम पहचान के कारण' ही ये कविताएं परंपरागत प्रबंध रूपों के निकट न होकर आधुनिक लंबी-कविताओं के शिल्प और स्थापत्य के अधिक निकट जान पड़ती हैं।

भारत के सांस्कृतिक-सूर्य के अस्त होने की सूचना के साथ ही इस कविता की शुरुआत होती है। जितनी महत्वपूर्ण घटना, वैसा ही प्रभावशाली चित्र –

'भारत के नभ के प्रभासूर्य।
शीतलाच्छाय सांस्कृतिक सूर्य
आत्तमित आज रे – तमात्तुर्य दिग्मंडल ;।
उर के आसन पर शिरात्राभ ।
शासन करते हैं मुसलमान ; ।
है ऊर्मिल जल ,
निश्चल प्राण पर शतदल।'[4]

यह चित्र भारत के प्रकाशमान सांस्कृतिक-गौरव की आभा के खत्म होने की सूचना देता है। भारत के नभमंडल में जो सांस्कृतिक सूर्य चमक रहा था, वह अस्त हो चुका है। कारण मुगलों का आक्रमण (शासन) है। दिशाएँ अंधेरे की तुरही बजा रही हैं, जैसे यह उनके विजय का शंखनाद हो। परिणामस्वरूप चारों ओर घना अंधकार। यह अंधेरा जड़ता, अकर्मण्यता, चेतनाशून्य और कर्तव्य से विमुख होने का प्रतीक है। कवि को दुखद आश्चर्य इस बात पर है कि शासक के वास्तविक धर्म से च्युत और अपनी शक्ति के मद में चूर यह मुगल शासक भारतीयों को प्रताड़ित करते हैं, उनपर अत्याचार करते हैं, इसके बावजूद भारतीयों ने उन्हें अपने हृदय में स्थान दे रखा है। भारतीय संस्कृति का अस्तित्व खतरे में है, पर जैसे उन्हें कोई फर्क ही न पड़ता हो – 'है ऊर्मिल जल, निश्चल प्राण पर शतदल '।

निराला आगे कहते हैं कि भारत के नभ पर छाया यह सांस्कृतिक-अंधेरा (संध्या) कोई आज की बात नहीं, बल्कि यह कई सौ वर्षों से है – 'शत-शत शब्दों का सांध्यकाल'। 'बीते समय के साथ' यह अंधेरा इतना घना होता गया कि इसने भारत के एक एक प्रांत को अपने गिरफ्त (पराधीन)

में ले लिया। यह घना अंधेरा उस भयावह स्थिति को मूर्त करने वाला है, जो 'राम की शक्तिपूजा' में हमें देखने को मिलता है – 'है अमानिशा उगलता गगन घन अंधकार'। स्थिति यहाँ भी उतनी ही विकट है। जिस प्रकार वर्षाकाल में उन्मत्त नदियां अपनी धारा के हाहाकार में सबकुछ नष्ट करने को उतारू हो जाती है, वही हाल मुग़लों की सेना का है। मुग़लों की सेना बादल है और दर्प से चलते हुए पठान जल से भरे नद। मुग़लों की सेना के इस प्रलयकारी/विध्वंसकारी रूप का चित्र निराला ने इन शब्दों में खींचा है –

'मोगल-दल बल के जलद-यान,
दर्पित-पद उन्मद पठान
वहा रहे दिग्देशज्ञान, शर-खरतर,
छाया ऊपर घन-अंधकार
टूटता वज्र यह दुर्निवार,
नीचे प्लावन की प्रलय-धार, ध्वनि हर-हर।'

मुग़लों के इस प्रलयकारी आक्रमण के समक्ष क्या बुंदेलखंड और क्या कालिंजर (वीरता के प्रतीक) सब ध्वस्त। किसी में इतनी क्षमता नहीं कि वह उसके इस विध्वंसकारी रूप का सामना कर सके। बुंदेलखंड की तुलना कवि ने उस 'कुरबक पुष्प' से की है, जो किसी तरह डाल पर अटका हुआ है और जिसकी गंध समाप्त हो चुकी है। सूर्य की तेज से प्रदीप्त बुंदेलखंड, जो कभी अंधकार के समान अपने शत्रुओं का मान-मर्दन किया करता था, आज वही निस्तेज हो गया है। उसका वर्तमान आशा-उत्साह से शून्य है। कुछ ऐसी ही दशा कालिंजर की भी है। वीरों की यह भूमि वीरता से रिक्त हो चुकी है। क्योंकि जो सच्चे वीर पुरुष थे, वह संग्राम-भूमि में मुग़लों द्वारा बंदी बना लिए गए और जो बचे हैं, वह पुरुषत्व से हीन अपने राजनैतिक-सांस्कृतिक पराभव से बेखबर अपनी दासता पर उत्सव मना रहे हैं – 'नर हैं भीतर, बाहर किन्नर- गण गाते'। अब तो स्थिति यह है कि भारतीय सामाजिक जीवन की सारी छोटी-बड़ी नदियां इस्लाम के अपार सागर की ओर क्षिप्रता से प्रवाहमान है। यहाँ हिन्दुयों के धर्म-परिवर्तन, फारसी भाषा के प्रचार-प्रसार और इस्लामिक संस्कृति के अन्य प्रभावों के विस्तार की ओर संकेत किया गया है।

इस्लामी सभ्यता के इस प्रलयकारी आक्रमण के सम्मुख हिन्दू-संस्कृति का तेज समाप्त हो चुका है और अब धरती व आकाश इस्लामिक-संस्कृति की चाँदनी से रौशन है। घनघोर वर्षा के बाद शरद ऋतु के इस आगमन का चित्र निराला ने इन शब्दों में खींचा है-

'अब, धौत धरा, खिल गया गगन,
उर-उर को मधुर, ताप प्रशमन,
बहती समीर, चीर आलिंगन ज्यों उन्मन,
झरते हैं शशधर से क्षण-क्षण
पृथ्वी के अधरों पर निःस्वन
ज्योतिर्मय प्राणों का चुंबन, संजीवन।'

प्रकृति के सुकुमार उपादानों द्वारा कवि ने इस्लामिक सभ्यता के प्रसार और विलास का बड़ा ही मनमोहक दृश्य खड़ा किया है। इस ऋतु में बहने वाली हवा हृदय के दाह को शांत कर मधुरता का संचार करनेवाली है। उसका स्पर्श जैसे प्रिय का आलिंगन। यहाँ पृथ्वी प्रेमिका और चाँद उसका प्रेमी है, जो चुपचाप जीवनदायी चुंबन बरसा रहा है। इस विलासमयी सभ्यता के आकर्षण और सम्मोहन के पाश में बंधकर औसत भारतीय जन की स्थिति का सटीक चित्रण कवि ने किया है-

'भूला दुख, अब सुख-स्वरित जाल
फैला यह केवल कल्प-काल –
कामिनी-कुमुद-कर-कलित ताल पर चलता,
प्राणों की छवि मृदु-मंद-स्पंद,
लघु-गति, नियमित-पद, ललित छंद,
होगा कोई, जो निरानंद, कर भलता।'

लोग दुख भूल गए हैं, सुखद संगीत चतुर्दिक छाया हुआ है। कवि-दृष्टि में यह आमोद-प्रमोद केवल कल्पना का जाल है। लोग जीवन की वास्तविकता से विमुख केवल विलास की कल्पित जिंदगी जीने में व्यस्त हैं। ऐसे लोगों पर कवि द्वारा किया गया यह व्यंग्य द्रष्टव्य है- 'होगा कोई, जो निरानंद, कर मलता'। शायद ही कोई ऐसा हो जिसने स्वयं को इस विलासपूर्ण जीवन के आनंद से दूर कर रखा हो। इस विलासी मानसिकता ने भारतीय जन-जीवन में जड़ता, अकर्मण्यता, चेतनाहीनता को बढ़ावा दिया है। यह मुक्त-प्रवाह जीवन में सबसे बड़ी बाधा है। कवि कहता है कि तरंग में बहते हुए फूल को कब किनारे का बोध रहता है। कुछ यही हाल भारतीय जन-समूह का है-

'सोचता कहाँ रे, किधर कूल।
बहता तरंग का प्रमुद फूल?
यों इस प्रवाह में देश भूल खो बहता,।
'छल-छल-छल' कहता यद्दपि जल,
वह मंत्र-मुग्ध सुनता 'कल-कल,
निष्क्रिय, शोभा-प्रिय कूलोपल ज्यों रहता।'

देश अपनी जड़ से उखड़कर इस्लामिक संस्कृति के प्रवाह में बह रहा है। धारा का जल 'छल-छल-छल' कहता हुआ बह रहा है, लेकिन भारतीय जन मंत्र-मुग्ध होकर उसे 'कल-कल' के रूप में सुन रहे हैं। यहाँ 'छल' का अर्थ धोखा और 'कल' का अर्थ सुंदर के रूप में प्रयुक्त है, जो की व्यंग्य है। मंत्र-मुग्ध होकर 'कल–कल' ध्वनि सुनने वाले लोग बिलकुल निष्क्रिय हैं, घाट के पत्थर की तरह, जो प्रवाहमान नदी की शोभा को केवल निहारते रहते हैं। इस्लामिक सभ्यता के आकर्षण में फँसकर देश को अपनी दिशा और दशा का ज्ञान (उसे क्या करना चाहिए और क्या नहीं) ही नहीं रहा। यह 'सौंदर्यप्रेम' मिथ्या है, सर्जनात्मक्ता से रहित। खतरे को न भाँप कर आमोद-प्रमोद में डूबे लोगों पर कवि ने तीव्र व्यंग्यात्मक चोट की है।

इस्लामिक सभ्यता के प्रसार और स्वीकार की इसी पृष्ठभूमि में युवक 'तुलसीदास' का आगमन होता है। निराला ने अपने प्रिय व आदर्श कवि का बड़ा ही भव्य और उदात्त चित्र अंकित किया है-

' युवकों में प्रमुख रत्न-चेतन
समधीत-शास्त्र – काव्यालोचन
आयत दृग, पुष्ट देह, गत-भय ,
अपने प्रकाश में निःसंशय
प्रतिभा के मंद-स्मित परिचय, संस्मारक;
प्रियजन को जीवन-चारु ,चपल
जल की शोभा का-सा उत्पल,
सौर भौत्कलित अंबर-तल,
स्थल-स्थल दिक-दिक।'

तुलसीदास का व्यक्तित्व साधारण नहीं बल्कि 'समधीत-शास्त्र-काव्यालोचन' से स्वयं प्रकाशित 'युवकों में प्रमुख रत्न-चेतन' के समान है। वह अपने प्रियजनों के लिए सुंदर और जल को अलंकृत करने वाले कमल की तरह है, जिसकी सुगंध से सारा आकाश, दिशाएँ और स्थल महक उठता हो। नंद किशोर नवल के अनुसार- "यह है तुलसीदास की स्वस्थ, सुंदर, निर्भीक और आत्मविश्वास से युक्त प्रतिभावाली प्रसन्न प्रतिमा। तुलसीदास निराला के सर्वप्रिय और आदर्श कवि थे, उनके लिए कालिदास, रवीन्द्रनाथ से बढ़कर है, इसलिए उचित ही उन्होंने उनकी बहुत भव्य छवि अंकित की है।"[5]

यह सत्य है की एक कवि के रूप में निराला सहजभाव से तुलसीदास के आकर्षण से निरंतर बंधे रहे। भले ही युगों का अंतर हो लेकिन सर्जनात्मकता की भूमि पर दोनों में कहीं-न-कहीं आंतरिक साम्य है। डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा – " सिद्ध कवि तुलसीदास की पवित्र मूर्ति के सामने निराला शमशानवासी अघौरी जैसे लगते हैं, फिर भी दोनों में कहीं आंतरिक साम्य है। 'राम की शक्तिपूजा' को छोड़कर उन्होंने उदात्त स्तर पर जिस कविता को रचने में अपनी पूरी ताकत लगा दी, वह 'तुलसीदास' है। आप विचार करें, बांग्ला या अँग्रेजी में कवियों पर लिखी हुई कितनी ऐसी रचनाएँ हैं, जिनकी तुलना निराला के 'तुलसीदास' से की जा सकती है।"[6]

तुलसीदास का परिचय देने के बाद कवि ने उनकी चित्रकूट यात्रा का वर्णन किया है। यह कविता का अत्यंत महत्वपूर्ण प्रसंग है। क्योंकि प्रकृति के निकट में आकर ही भारत के इस भावी कवि की चेतना का जागरण होता है। प्रकृति अपने भावी-कवि को पाकर फूली नहीं समाती। ऐसा लगता है जैसे उनके मन पर से किसी ऋण का बोझ उतर गया हो, उनकी प्रतीक्षा की घड़ी खत्म हुई। उधर कवि भी प्रकृति से इस आत्मिक जुड़ाव को महसूस करता है। उन्होंने महसूस किया कि चित्रकूट उस समुद्र की तरह है, जो भीतर ही भीतर व्याकुल है लेकिन जिसे व्याकुलता का बोध नहीं, इसलिए ऊपर से निःशब्द है। लेकिन भारत के भावी कवि से आत्मिक स्तर पर जुड़कर प्रकृति के जड़-पदार्थ अपनी वेदना को यों प्रस्तुत करते हैं-

"जंगम जीवन!
भूले थे अब तक बंधु , प्रमन?
यह हताश्वास मन भार बहता;
तुम रहे छोड़ गृह मेरे कवि,
देखो यह धुलि-धूसरित छवि,
छाया इस पर केवल जड़
रवि स्वर दहता
फिर असुरों से होती क्षण-क्षण
स्मृति की पृथ्वी यह, दलित चरण;
वे सुप्त भाव, गुप्ताभूषण अब हैं सब ।

तुम अबतक हमें भूले हुए थे। हम किसी तरह अपनी सांस ढ़ो रहे थे। तुम यहीं के वासी होकर यहीं से उदासीन हो। देखो इस चित्रकूट को, यह धूलि-धूसरित, सूर्य के प्रखर दाह से झुलसता जा रहा है। यह पुण्य-धरती मुसलमानों (असुरों) द्वारा क्षण-क्षण रौंदी जाती है। चित्रकूट के पास जो भी अच्छे भाव थे, वह सब जैसे लुप्त हो गये हों, जैसे कीमती आभूषण को कहीं छिपा कर रख दिया गया हो। चित्रकूट का निवेदन यहीं नहीं रुकता। वह आगे कहता है- तुम मुक्त हो, इस संसार से ऊपर उठ चुके हो, हे विहग, तुम सद्गान उचारो। तुम महान त्यागी हो, ध्यान की उच्च-भूमि पर पहुँचो। अपने ध्यान का तार चढ़ाओ और हिन्दू-संस्कृति के महिमामय जगत का स्पर्श प्रदान कर पाषाण-खंडों को फूलों के हार में बदल दो। ठीक वैसे ही जैसे प्रभु राम ने पाषाण हो गई अहिल्या को अपने चरण-धूलि के स्पर्श-मात्र से नया जीवन प्रदान किया था- *'दे स्पर्श अहल्यो-द्धार-सार उस जग का;।'*

यह वर्णन लाक्षणिक है। निराला ने प्रतीकात्मक ढंग से गौरव-शून्य तात्कालीन भारत की वेदना को स्वर दिया। निश्चित तौर पर यहाँ तक आते-आते 'चित्रकूट मुग़लों द्वारा प्रताड़ित और पीड़ित भारत-भूमि का पर्याय' बन जाता है। यहाँ चित्रकूट जैसे तुलसीदास का आह्वान कर रहा हो कि वे उसे इस दुर्दशा से मुक्ति दिलाएँ। क्योंकि यह कोई मामूली स्थान नहीं बल्कि इसका संबंध 'रामकथा' से है। जैसे वह तुलसीदास को यह बताने का प्रयास कर रहा हो कि अपनी रचनात्मक ऊर्जा का उपयोग किस दिशा में करना है। ईश्वरीय क्षमता का उपयोग अभिशापित के उद्धार के लिए करना, यही तो हिन्दू-संस्कृति का सार है। अहिल्या प्रसंग इसका जीवंत उदाहरण है। क्योंकि अगर यह न किया गया, तो फिर यहाँ बचेगा क्या? –

'अन्यथा यहाँ क्या? अंधकार,
बंधुर पथ, पंकिल सरि, कगार,
झरने, झाड़ी, कंटक; विहार पशु-खग का !'

इस प्रसंग के माध्यम से निराला हमें यह समझाने का प्रयास करते हैं कि- "इस सम्पूर्ण जड़-संस्कृति को, इस

प्रस्तरीभूत भारतीय मेधा को 'राम' बनकर मुक्त करना होगा, जिससे वह अपने प्राचीन गौरव, अपनी पुरातन सुंदरता, और पवित्रता को पुनः प्राप्त कर सके। वे इस बंधुर पथ, जानवरों की अत्याचारी पशुवत आचरण करनेवाली, भारतीय प्रकृति-श्री को दबोचने-दबाने, अभिशप्त कर देने वाली आसुरी, विलासी-संस्कति के प्रसार को समझते हैं। इस पाषाणवत-पड़ी संस्कृति का उद्धार केवल 'रामत्व' को अंगीकार करके ही संभव है।"[7]

प्रकृति के संदेश से प्रभावित होकर तुलसीदास का मन बद्ध संस्कारों की सीमा को पार कर मुक्ताकाश में विचरण करने लगता है। जैसे सुगंधित पवन मन को व्याकुल कर जाती है, ठीक इसी तरह प्रकृति के संदेश ने भी तुलसीदास के चित्त को उन्मन कर दिया है –

'बहकर समीर ज्यों पुष्पाकल
वन को कर जाती है व्याकुल,
हो गया चित्त कवि का व्यों तुलकर, उन्मन;
वह उस शाखा का
वन-विहग
छोड़ता रंग पर रंग-रंग जीवन।'

तुलसीदास के इस मानसिक ऊर्ध्वगमन को निराला ने बड़े ही उदात्त ढंग से काव्य के स्तर पर प्रतिष्ठित किया है। आदिकाल से लेकर द्विवेदी युग तक प्रकृति मानवीय-भावों के उद्दीपन का कारण रही, वह मानवीय-चेतना के प्रसार का कारण भी हो सकती है- ऐसा अबतक किसी ने सोचा नहीं। भारतीय जीवन-संस्कृति में हमने प्रकृति को बहुत कम स्थान दे रखा है, जबकि वह सम्पूर्ण मानव-जीवन की सहचरी और एक स्वतंत्र इकाई के रूप में सामने आती है। प्रकृति की स्वतंत्र-सत्ता को रेखांकित करते हुए उसे मानव-जीवन के अत्यंत निकट ले आने का श्रेय 'छायावाद' को जाता है। प्रकृति के माध्यम से तुलसीदास के मानसिक प्रसार को चित्रित कर निराला ने स्वयं मानव-जीवन में प्रकृति के महत्व को रेखांकित करने का प्रयास किया है।

प्रकृति का संदेश पाकर तुलसीदास का मन इस सांसारिक जीवन और उसके रंगों को पीछे छोड़ आत्ममुक्त होकर देश-दशा के बारे में चिंतन करने लगता है। ऊपर उठकर उन्होनें पाया कि सूर्य की आभा राहू से ग्रस्त है। सब जगह जैसे अंधकार की छाया व्याप्त है। यह अंधेरा ही मनुष्य को उसके 'वृहत' (हिन्दू संस्कृति के सर्वोच्च मूल्य; वह आध्यात्मिक बोध, जिससे संयुक्त होकर व्यक्ति और समाज अपनी लघुता से छुटकारा पाकर महत्ता को प्राप्त करते हैं।) से दूर करता जा रहा है। मन की इस ऊर्ध्व उड़ान में तुलसीदास तत्कालीन भारत की सच्ची तस्वीर देख पाते हैं-

'बंध भिन्न-भिन्न भावों के दल
क्षुद्र से क्षुद्रतर हुए विकल
पूजा में भी प्रतिरोध-अनल है जलता,
हो रहा भस्म अपना जीवन
चेतनाहीन फिर भी चेतन
अपने ही मन को यों प्रतिमन है छलता। '

उन्होनें पाया कि पतन का कारण भारतीय समाज में ही मौजूद है। यह समाज वैचारिक दृष्टि से खंड-खंड हो, विरोध-भाव से मुक्त नहीं रहा। धर्म भी यहाँ पारस्परिक द्वेष का कारण है। ईश्वरोपासना में जहाँ आरती की शिखा जलनी चाहिए, वहाँ प्रतिरोध की आग जलती है। क्षुद्र भावों से परिचालित और सर्जनात्मक दृष्टि से शून्य मनुष्य स्वयं को चेतन समझता है-'चेतनाहीन फिर भी चेतन'। यानी वह स्वयं को ही धोखें में रखता है। जीवन की विसंगति यही नहीं बल्कि भारतीय सभ्यता-संस्कृति के विघटन के मूल में बहुत कुछ निम्न-वर्ग की (जर्जर वर्ण-व्यवस्था) शोचनीय दशा है-

'चलते-फिरते पर निस्सहाय,
वे दीन, क्षीण कंकालकाय;
आशा केवल जीवनोपाय उर-उर में;
रण के अश्वों से शस्य सकल
दल मल जाते ज्यों, दल से दल
शूद्रगण क्षुद्र-जीवन-संबल, पुर-पुर में।'

धार्मिक, वैचारिक वैमनस्य के साथ भंग हो चुकी वर्ण-व्यवस्था ने देश को बहुत ही कमजोर बना दिया था। क्षत्रिय देश-रक्षा के धर्म से विमुख, भौतिक लिप्सा और पारस्परिक द्वेष के जाल में उलझ चुके थे। ब्राह्मणों का काम सिर्फ चापलूसी करना रह गया था और शूद्रों कि स्थिति सबसे दयनीय थी। क्योंकि सब के अत्याचार और अन्याय से वह पहले ही हारे हुए थे। ऐसे में जातीय जीवन को एकसूत्र में बांधे रख पाना असंभव था। इस धरती पर इस्लामिक सभ्यता के प्रसार में ये परिस्थितियाँ कारगर सिद्ध हुई। इस संदर्भ में विवेकानन्द की कही हुई बात ध्यान देने योग्य है- "चूंकी उन्होनें साधारण जनता को वह संपत्ति (युगों की संचित शिक्षा और संस्कार) नहीं दी, इसीलिए मुसलमानों का आक्रांत संभव हो सका था। हम जो हजारों वर्षों तक भारत पर धावा बोलनेवाले जिस किसी के पैरों तले कुचले जाते रहे, इसका कारण यही है कि ब्राह्मणों ने शुरू से ही साधारण जनता के लिए वह खजाना खोल नहीं दिया। हम इसीलिए अवनत हो गए। यही कारण है कि हमारी एक पंचमांश जनता मुसलमान हो गई। यह सारा काम तलवार से नहीं हुआ। यह सोचना कि यह सभी तलवार और आग का काम था, बेहद पागलपन होगा।"[8]

यहाँ तक आकर तुलसीदास ने मध्यकालीन समाज की मूल समस्या को अच्छी तरह पहचान लिया था, जो युग से गहरे जुड़ाव के बिना संभव नहीं। दीन-हीन, पददलित लोगों के प्रति तुलसीदास की यह सहानुभूति और संवेदना अगर किसी को अस्वाभाविक (क्योंकि कुछ विद्वानों ने मध्यकाल के इस महान लोकवादी कवि को द्विजसमर्थक और ब्राह्मणवादी-सामंतवादी मानसिकता का बताकर, उन्हें प्रगतिशील खेमे से बाहर करने का प्रयास किया है) लगे तो रामविलास जी के इस कथन पर ध्यान दें -"तुलसीदास संत

और भक्त होते हुए भी बहुत बड़े समाज-सुधारक थे, इसमें आज किसी को संदेह नहीं रह गया। लेकिन उनके हृदय में मनुष्यों के दलित वर्ग के लिए कितनी सहानुभूति थी, इसे हम अपने वर्तमान संस्कारों के कारण बहुधा भूल जाते हैं। यदि किसी को निराला जी की कविता में उनका चरित्र अस्वाभाविक लगे, तो उसे मानस में 'बिन अन्न दुखी सब लोग मरै' आदि कलि-युग का वर्णन पद लेना चाहिए।"[9]

तुलसीदास की चिंता यहीं आकर खत्म नहीं होती। उन्होनें पाया कि 'इस्लाम की छाया' बहुत व्यापक है और सम्पूर्ण जनमानस इस छाया से बंध। 'तम का आसव पीकर' ऐसा बेसुध पड़ा है कि उसे अपनी जड़ता, अज्ञानता का बोध ही नहीं-

'इस छाया के भीतर है सब,
है बंधा हुआ सारा कलरव,
भूले सब इस तम का आसव पी-पीकर।'

जीवन की सारी गत्यात्मकता, सर्जनशीलता समाप्त हो चुकी है। मुक्त-जीवन का अभिलाषी यह कवि भारतीय जनमानस की यह दशा देख भीतर ही भीतर छटपटा उठता है। क्योंकि ऐसी दशा में - 'इसके भीतर रह देशकाल। हो सकेगा न रे मुक्त भाल। पहले का सा उन्नत विशाल ज्योति :सर।' सिर्फ भंग वर्ण-व्यवस्था या शूद्रों पर हुआ अत्याचार और अन्याय ही इस स्थिति का दायी नहीं और न ही शूद्र शक्ति को संगठित करके इस परिस्थिति से छुटकारा संभव है बल्कि इसके लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि - अपनी भौतिक-लिप्सायों को पूर्ण करने की भावना से ऊपर उठ जाना –

'दीनों की भी दुर्बल पुकार
कर सकती नहीं कदापि पार ।
पार्थि वैश्वर्य का अंधकार पीड़ा कर,
जब तक कांक्षाओं के प्रहार
अपने साधन को बार- बार
होंगे भारत पर इस प्रकार तपभापार।'

यहाँ कवि के चिंतन पर वेदान्त का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है लेकिन उसका लक्ष्य जीवन की समस्याओं से भागकर वैराग्य की शरण लेना नहीं बल्कि उससे दो-दो हाथ करके जीवन को बेहतर बनाना है। इसीलिए जीवन में व्याप्त जड़ता और अज्ञानता रूपी अंधेरे को दूर करने के लिए वह 'ज्ञान के प्रकाश' की तलाश में है और वह मिलेगा कहाँ –

' इस अनिल-वाह के पार प्रखर
किरणों का वह ज्योतिर्मय घर
रविकुल-जीवन-चुबनकर मानस धज जो।'

हम सभी जानते हैं कि तुलसीदास रामभक्त कवि थे और उनके प्रभु 'श्री राम' सूर्यवंशी यानी 'रवि-कुल' से और उनका चुंबन लेने वाली (प्रेम करनेवाली) भावना ही यहां 'मानस-धन' है। तात्पर्य यह कि वही 'सर्वश्रेष्ठ भावना' है और इसी भावना को आत्मसात कर हम मुक्त हो सकते हैं। नहीं तो यह संसार निश्चय ही 'अंधकूप' है –

'है वही मुक्ति का सत्य रूप,
यह कूप-कूप भव-अंध कूप;
वह रंक, यंहा जो हुआ भूप, निश्चय रे
चाहिए उसे और भी और,
फिर साधारण को कहाँ ठौर?
जीवन के जग के, यही तौर हैं जय के।'

उपर्युक्त पंक्तियाँ रामभक्ति का महत्व दर्शाता है। तुलसीदास ने जब 'मानस' की रचना की तो उन्होंने अपनी इस कृति की विशेषता बतायी – 'यहि मंह रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा। मंगल भवन अमंगल हारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी'। यानी राम की इस कथा में समस्त वेदों, पुराणों, उपनिषदों, का सार निहित है, जो जीवन में अमंगल (जीवन के अंधेरे) को दूर कर मंगल (ज्ञान का प्रकाश) को लाने वाला है। जो व्यक्ति इस संसार में सारी भौतिक सुख- सुविधाओं को एकत्र कर स्वयं को राजा मान बैठता है, उसे ही जीवन का चरम सुख मानता है, आध्यात्मिक दृष्टि से वह व्यक्ति 'रंक' है। ईश्वरीय विभूति से वंचित। क्योंकि कहीं-न-कहीं वह दूसरों के अधिकारों को छीनकर ही वहाँ तक पहुंचता है। ऐसे में जो सामान्य व्यक्ति हैं, उनका क्या होगा? सबल और सबल होता जाय और निर्बल और निर्बल- दुनिया की यह रीति तुलसीदास की समझ के परे है।

ऐसी स्थिति में तुलसीदास की ऊर्ध्वमुखी चेतना जीवन के इस अंधकार को दूर करने का संकल्प लेती है। उन्होनें यह भली-भांति समझ लिया है कि 'सत्य का मिहिर-द्वार इस इस्लामी-सभ्यता के परे है-

'करना होगा यह तिमिर पार-
देखना सत्य का मिहिर-द्वार-
बहता जीवन है प्रखर ज्वार में निश्चय
लड़ना विरोध से द्वन्द्व-समर
रह सत्य-मार्ग पर स्थिर निर्भर।'

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि लक्ष्य तक पहुंचना आसान नहीं। जीवन में संघर्ष कठिन है। लेकिन दृढ़ इच्छाशक्ति, संकल्प और साहस के साथ मनुष्य जीवन में बाधाओं का अतिक्रमण कर ही जाता है। याद कीजिए 'शक्तिपूजा' में राम इसी अंधकार से घिरे हुए थे। उन्हें भी इस अंधकार के पार जाना था। 'शक्ति की मौलिक कल्पना' को साकार कर राम इस अंधकार से विजय प्राप्त करते हैं और निराला के तुलसीदास 'अपनी रचनात्मकता की सही दिशा की पहचान और अपनी मौलिक प्रतिभा की शक्ति से' इस तिमिर को पार करने को तैयार होते हैं-

'कल्मपोत्सार कवि के दुर्दम,
चेतनोर्मियों के प्राण प्रथम,
वह रुद्ध द्वार का छाया-तम हरने को
करने को ज्ञानोंद्धत प्रहार-
तोड़ने को विषम वज्र-द्वार;
उमड़े भारत का भ्रम अपार हरने को।'

यह है रचनात्मकता की असली शक्ति, उसकी सही दिशा। कवि-कर्म का उदात्त रूप। संकल्प शक्ति के साथ ही उनके भीतर सभी कल्मषों को नष्ट कर देनेवाली चेतना की दुर्दमनीय तरंगें उठने लगीं। उन्हीं के ज्ञानोध्द्त प्रहार से कवि उस विषम वज्रद्वार को तोड़ने की बात करता है। और सबसे बड़ी बात यह कि यह सारा उपक्रम केवल अपनी मुक्ति के लिए नहीं बल्कि –' भारत का भ्रम अपार हरने को'। उनके सम्मुख पूरा देश खड़ा है। यह कवि महान लक्ष्यों के साथ अपने कवि-कर्म में प्रवृत्त होता है और यही बात इसे एक महान रचनाकार बनाती है।

यहाँ जो बात ध्यान में रखने की है वह यह कि यह सारा क्रिया व्यापार तुलसीदास के मनोजगत में संपन्न होता है। ठीक वैसे ही जैसे 'राम की शक्तिपूजा' में 'हनुमान का ऊर्ध्व गमन'। रामविलास जी ने तुलसीदास के इस मानसिक ऊर्ध्वगमन को 'रहस्यवाद से संबंध रखनेवाली भावना-प्रणाली' से जोड़कर देखने का प्रयास किया है। लेकिन नंदकिशोर नवल और दूधनाथ सिंह दोनों ही रामविलास जी की इस बात से सहमत नहीं हैं। नवल जी का मानना है कि निराला के चिंतन पर वेदान्त की पद्धति और शब्दावली का गहरा प्रभाव है, साथ ही वह इस्लामिक संस्कृति को माया के रूप में देखते हैं, हिन्दू-संस्कृति और उसके उद्धार-कार्य को ब्रह्म और उसकी प्राप्ति के समान और उधर से विमुख होकर काम-भाव से ग्रस्त होने को जीव की सांसारिकता में लिप्त होना मानते हैं, लेकिन उनका लक्ष्य 'रहस्यवाद' नहीं; वह शुद्ध रूप से सामाजिक है- इस्लामिक संस्कृति के हमले से भारतीय संस्कृति को बचाना और उनकी पुनःस्थापना। वहीं दूधनाथ सिंह के अनुसार-' यह ऊर्ध्वगामिता रहस्यवाद का पर्याय नहीं है। कवि का इष्ट तो रचनात्मकता की मनोवैज्ञानिक व्याख्या है। मन की इस ऊर्ध्वगामिता भी तुलसीदास 'देश की राहुग्रस्त आभा' को देखना भूलते नहीं। उनका जीवन इस जन-वेदना से भस्मसात हो रहा है। वे धीरे-धीरे जीवन के विराट व्यापक-अनुभव को उसी तरह अपनी रचना के लिए संचित करते हैं, जैसे ऋतु के प्रभाव को कोई पेड़। वह उसी तरह अपने अंतर को धीरे-धीरे समृद्ध और पूर्ण करते जाते है'।[10] इस प्रकार तुलसीदास का यह मानसिक प्रसार रचनात्मक आनंद के प्रथम अनुभव का सूक्ष्म विश्लेषण बन जाता है ।

आगे हम देखते हैं कि इस कविता में एक नाटकीय मोड़ आता है, जो पाठकों के आकर्षण का केंद्र बन जाता है। तुलसीदास का दृढ़ संकल्प अपनी पत्नी रत्नावली के स्मृति-चित्र को देखकर डगमगा जाता है। यह निराला की मनोवैज्ञानिक कुशलता का प्रमाण है कि तुलसीदास के ऊर्ध्वोन्मुख मानस के चित्रण के ठीक बाद रत्नावली के प्रबल आकर्षण का प्रसंग रखा है। एक ओर जहाँ 'राम की शक्तिपूजा' में सीता का स्मृति-चित्र राम के मन में एक पल के लिए नई आशा-उत्साह और साहस का संचार करता है, वहीं दूसरी ओर रत्नावली का यह स्मृति-चित्र तुलसीदास को उनके संकल्प से डिगाने वाला होता है- 'वामा, इस पथ पर हुई वाम सरितोपम'। यानी तुलसीदास के साधना-मार्ग पर पत्नी रत्नावली की कामिनी-मूर्ति बाधा-स्वरूप होकर उसी प्रकार खड़ी हो गई, जिस प्रकार किसी यात्री की राह में नदी। चित्रकूट में तुलसीदास ने चिंतन करके कुछ निश्चय किया ही था कि-

'जाते हो कहाँ? तुले तिर्यक
दृग, पहनाकर ज्योतिर्मय सृक
प्रियतम को ज्यों, बोले सम्यक शासन से;
फिर लिये मूँद वे पक्ष्मल –
इंदीवर के-से कोश विमल;
फिर हुई अदृश्य शक्ति पुष्कल उस तन से।'

प्रिया के उठे इन तिर्यक आँखों ने प्रिय को ज्योति की माला पहना दी हो। सौंदर्य के इस प्रभाव ने तुलसीदास के भीतर चित्रकूट प्रेरित चिंतन से उत्पन्न शक्ति को तिरोहित कर दिया। तुलसीदास के जिस मन को पहले हम 'वन-विहंग' के रूप में देख आए हैं, वही मन यहाँ 'मधुकर' बन बैठा है। वह रत्नावली के 'कमल' रूपी नेत्र के आकर्षण से बंधकर सुरभिपान के लिए अभी उसपर बैठा ही था कि उसकी पंखुड़ियाँ बंद हो गई और वह उड़ने में असमर्थ उसी के भीतर रह गया। प्रिया के प्रति प्रेम का यह आकर्षण इतना प्रबल है कि उसने तुलसीदास के देखने का नजरिया ही बदल दिया। अब 'चित्रकूट' उनके लिए 'बंधुर पथ, पंकिल सरि, कगार' वाला नहीं रह गया बल्कि अतिशय सुंदर हो उठा। वहाँ के रजकण उन्हें केसर प्रतीत होने लगे और पर्वत हीरक-शैल –

'उतरा वह मन धीरे-धीरे,
यह वही प्रकृति पर रूप अन्य;
जग-मग –जग-मग सब वेश वन्य;
सुरभित देशि-दिशि, कवि हुआ धन्य, मायाशय। '

ऊर्ध्वगमन की जिस शक्ति से तुलसीदास का मन चित्रकूट की वास्तविक दशा को देख व्यथित था, उसे मुक्ति दिलाने के लिए संकल्पबद्ध था, आज वही मन माया के प्रबल आकर्षण में फँसकर अपनी शक्ति को खोकर जीवन की समतल भूमि पर आ गया है। जैसे वह अबतक का सबकुछ भूल गया हो, अब जो सामने है, वही सत्य है। निराला के कवि-कौशल की प्रशंसा करते हुए नवल जी ने इस प्रसंग पर बड़ी ही सार्थक टिप्पणी की है- " तुलसीदास देश-दशा की चिंता से पीड़ित,तत्पश्चात उद्‌बुद्ध होकर महान संकल्प करते हैं, लेकिन फिर स्वाभाविक रूप से रत्नावली के सौंदर्य और प्रेम में आबद्ध हो जाते हैं। भौंरा फूलों की पंखुड़ियों के भीतर बंद हो गया; कवि माया में फंस गया। उसने बाहर निकलने के लिए कोई संघर्ष न किया। क्योंकि जितना प्रबल संकल्प था, निराला का वर्णन बतलाता है कि उससे कम प्रबल प्रिया का सौंदर्य और प्रेम नहीं था। कवि रूप में निराला की श्रेष्ठता का यही प्रमाण है कि वे कविता में देश, संस्कृति, वेदान्त,

आदि को महत्व नहीं देते, मानवीय दुर्बलताओं को भी महत्व देते हैं और व्यक्ति-मन की अथाह गहराइयों में उतरकर उनका चित्रण करते हैं। वे ब्रह्म के ही नहीं, माया के भी कवि हैं और यही उनकी शक्ति है।"[11]

आइए अब निराला कृत रत्नावली के उस अपरूप सौंदर्य का चित्र देख लें, जिसने खुले आकाश में उन्मुक्त विचरण करने वाले तुलसीदास के मन को बांध लिया है-

'प्रेयसी के अलक नील,व्योम ;
दृग-पलक कलंक-मुख मंजु सोम;
निः सृत प्रकाश जो, तरुण क्षौम प्रिय तन पर;
पुलकित प्रतिपल मानस-चकोर
देखता भूल दिक उसी ओर;
कुल इच्छायों का वही छोर जीवन भर।'

रत्नावली की नीली केशराशि नीले आकाश की तरह है, उसका सुंदर मुख चंद्र की तरह और उसकी काली आँखें तथा बरौनियां चंद्रमा की कलंक की तरह। मुखचन्द्र से निकलने वाला यह प्रकाश तुलसीदास के शरीर पर रेशम के नए वस्त्र की तरह बिछलता है। जिस प्रकार चंद्रमा को पाकर चकोर प्रफुल्लित होता है, वही हाल रत्नावली को देखकर तुलसीदास का है। रत्नावली के प्रति अपनी इस आसक्ति को ही वह जीवन का मूल तत्व मान बैठते हैं- 'कुल इच्छाओं का वही छोर जीवन भर।' दरअसल रत्नावली के प्रति अपने जिस आकर्षण को तुलसीदास प्रेम समझ रहे हैं, वह वास्तव में प्रेम नहीं, मोह है, आसक्ति है। 'प्रियावरण प्रकाश' –प्रिया का वास्तविक प्रकाश नहीं। लेकिन इसी प्रकाश को वह सर्वत्र (दिन , मास, ऋतु, सूर्य, विश्व) देखने और उसकी गति में बंधकर 'बुद्धत्व' प्राप्त करने की बात कहते हैं। सांस्कृतिक ह्रास को चित्रित करते हुए निराला ने पहले ही लिखा – 'अपने ही मन को यों प्रति मन है छलता'। यहाँ तुलसीदास की स्थिति उससे अलग नहीं। ऐसे में मोह से आविष्ट मन अगर सोचे-' सहज पड़ते पग सध' तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। भ्रमित मन अपने आपको किस प्रकार तर्क देकर संतुष्ट करता है, यह यहाँ देखिए –

'बंध के बिना, कह, कहाँ प्रगति?
गतिहीन जीव को कहाँ सुरति?
रति-रहित कहाँ सुख? केवल क्षति- केवल क्षति;
यह क्रम-विनाश; इससे चलकर
आता सत्वर मन निम्न उतर
छूटता अंत में चेतन स्तर, जाती मति।'

तुलसीदास का मानना है कि बंधन के बिना प्रगति संभव नहीं है। जो जीवन इस सांसारिक गति में नहीं पड़ा, उसे ईश्वरीय प्रेम की प्राप्ति कैसे होगी? रति के बिना सुख कहाँ। जो व्यक्ति जीवन में रति को महत्व नहीं देता, वह विनाश के पथ पर है और उसका मन चेतन स्तर से उतरकर निम्नस्तर पर आ जाता है। उसकी मति मारी जाती है। अपनी बात रखने के लिए वह एक उदाहरण देते हैं-

'देखो प्रसून को वह उन्मुख !
रंग, रेणु-गंध भर व्याकुल सुख,
देखता ज्योतिमुख : आया दुख पीड़ा सह
चटका कलि का अबरोध सदल,
वह शोधशक्ति, जो गंधोच्छल,
खुल पड़ती पल-प्रकाश को, चल परिचय वह।'

सुख से व्याकुल, वातावरण में रंग, पराग और सुगंध बिखेरते फूल को प्रकाश की प्राप्ति कैसे हो गई? उसे बँधन में रहना पड़ा, उसका दुख सहना पड़ा। तत्पश्चात उसके भीतर स्थित प्रकाश को ढूंढ़ने वाली गंधोछच्ल शक्ति (सत्य) संपुटित पंखुड़ियों के अवरोध को हटाकर बाहर आई। तभी उसने प्रकाश को पाया। यानी- 'बंध के बिना, कह, कहाँ प्रगति?' ही जीवन का सत्य है। लेकिन निराला तुलसीदास के इस तर्क से सहमत नहीं। उनका स्पष्ट मानना है कि एक चेतनाशून्य मनुष्य भला यह क्यों सोचने लगा कि उसका मोह भ्रम है, सत्य नहीं। अपनी बात को निराला बड़े ही जोरदार ढंग से प्रस्तुत करते हैं –

'सोचता कौन प्रति हत-चेतन-
वे नहीं प्रिया के नयन, नयन ;
वह केवल वहाँ मीन-केतन, युवती में;
अपने वश में कर पुरुष-देश
है उड़ा रहा ध्वज-मुक्तकेश ;
तरुणी-तनु आलंबन-विशेष, पृथ्वी में।'

कवि का कहना है कि जिसकी चेतना नष्ट हो गई हो, वह इसी तरह सोचेगा। रत्नावली की जिन आँखों के आकर्षण में तुलसीदास बंधे हैं, उनमें मार्ग-दर्शन की ज्योति नहीं है बल्कि काम की आग है, जो मनुष्य को उसके पथ से डिगा देती है। सुंदर आँखों की आकृति मछली की तरह होती है। इसलिए रत्नावली की आँखों को कवि ने 'मीनकेतन' कहा है। जिस प्रकार किसी देश को जीतकर कोई राजा वहाँ अपनी पताका फहरा देता है, ठीक उसी प्रकार कामदेव भी पुरुषदेश को जीतकर अपनी ध्वजा फहरा रहा था। इस धरा पर उस ध्वज का आलंबन है- 'तरुणी-तनु'। यानी युवती के शरीर का प्रबल आकर्षण ही कामदेव का प्रमुख अस्त्र है। रत्नावली के प्रति तुलसीदास की इस आसक्ति को हम 'व्यक्तिगत कामुकता' के रूप में न देखकर सामाजिक ह्रास के प्रतीक के रूप में भी देख सकते हैं। इस संदर्भ में डॉ० रेखा खरे का कहना है कि – "तुलसीदास के तर्कों का खोखलापन कवि इतने विस्तार में, विविध बिंबों में प्रस्तुत कर रहा है, यह भी साभिप्राय है। लक्ष्य तुलसीदास नहीं है, लक्ष्य है- सांस्कृतिक चेतना से शून्य, विलासिता के गर्त में गिरी तत्कालीन जनता।"[12]

रत्नावली पति को प्रेम करनेवाली 'श्रद्धा का वह पुंजीभूत रूप' है, जो उनके हाथों में 'सत्य की यष्टि' की तरह है और उन्हें किसी अज्ञात पुण्य के कारण प्राप्त है। वह 'प्रेम के फाग में आग त्याग की तरुणा' है। इस मायालोक में वह एक पत्नी की हैसियत से उनकी शय्या पर लेटी तो है, लेकिन तुलसीदास के प्रेम की नश्वरता को भी वह समझती है।

इसलिए रत्नावली धीरे-धीरे तुलसी के मोहान्धकार से बाहर निकाल जाती है – 'धीरे-धीरे वह हुआ, पार तारा-धुति से बध अंधकार।' तुलसीदास अपने सुख के लिए रत्नावली को छोड़ने को तैयार नहीं लेकिन उसे 'धर्म की और राम की चिंता है, अत: वह त्याग को प्रस्तुत है। ऐसे ही पत्नी-प्रेम में आनंद-मग्न तुलसीदास के जीवन में एक नया मोड़ आता है। रत्नावली को मायके ले जाने उसका भाई घर आता है और शिकायत के ढंग से कहता है- 'हम कई बार आ-आकर घर/ लौटे पाकर झूठे उत्तर;/' तुम्हारे घर न जाने की वजह से गाँव में हमारी निंदा हो रही है कि हमने तुम्हें उनके हाथों बेच दिया। घर के सारे लोग विवाह के बाद तुम्हें देखने को व्याकुल हैं, विशेष तौर पर माँ-बापू। भाई ने पत्नी-प्रेम के धर्म के ऊपर, पुत्री और बहन होने के दायित्व-बोध को भी याद दिलाने का प्रयास किया –

' क्यों बहन, व्याह हो जाने पर , घर पहला
केवल कहने को है नैहर?
दे सकता नहीं स्नेह-आदर?
पूजे पद, हम इसलिए अपर?'

और वह अपने प्रयास में सफल रहा । उसकी कही एक-एक बात का रत्नावली पर गहरा असर हुआ और फिर –' धूल अश्रु-धार से हुई अतुल छवि पावन।' उसने तय कर लिया कि वह माँ के घर जाएगी। वह दृढ़ निश्चय का भाव लिए भाई से कहती है-

'मैं साथ तुम्हारे, करो तोष
जिस पृथ्वी से निकली सदोष वह सीता,
अंक में उसी के आज लीन –
निज मर्यादा पर समासीन;
दे गयी सुहृद को स्नेह-क्षण गत गीता।'

जिस प्रकार सीता का जन्म पृथ्वी की गोद से हुआ और दोष लगाए जाने पर वह अपनी मर्यादा-रक्षा के लिए अंत में उसी की गोद में समा गई। वही स्थिति यहाँ रत्नावली की है। अंतिम पंक्ति ध्यान देने योग्य है। वह अपने मित्र के हाथों (पति को देने के लिए) 'गीता' थमाकर चली गयी। 'गीता' क्यों? क्योंकि इसमें 'प्रेम अथवा मोह पर कर्तव्य अथवा धर्म के स्थापन की गाथा' है। रत्नावली के जाने पर निराला कहते हैं-

'चल दी प्रतिमा
घर अंधकार अब बहता।'

यानी घर की ज्योति गई और अब चारों ओर अंधकार बहता है।

तुलसीदास की अनुपस्थिति में रत्नावली को मायके जाना पड़ा, क्योंकि रत्नावली के प्रति तुलसीदास का प्रेम साधारण नहीं था और वह उसमें बाधक बनता। रत्नावली को घर में न पाकर तुलसीदास को सारी बात समझ में आ गई और उनके भावुक मन को बहुत ठेस पहुँचती है। उनके लिए पत्नी से दूरी असह्य हो जाती है और वह लोक की मर्यादा और व्यावहारिक आचरण के ज्ञान को भुलाकर सीधे अपने ससुराल रत्नावली से मिलने चल पड़ते हैं। पति का यूँ अचानक आना रत्नावली को अच्छा नहीं लगता, जो कि स्वाभाविक है। परिवार के सदस्यों की कानाफूसी और भाभी के तीखे व्यंग्य (रत्न को इन्होनें ही पहचाना है) ने आग में घी का काम किया। रत्नावली के मन में बहुत कुछ चल रहा होता है। उसके तीव्र मानसिक उद्वेलन और दुविधाग्रस्त मनःस्थिति का चित्रण निराला ने इन शब्दों में किया है-

'बोली मन में होकर अक्षम
रक्खो, मर्यादा पुरुषोत्तम
लाज का आज भूषण, अकलम नारी का;
खींचता छोर, यह कौन और,
पैठा उनमें जो अधम चोर!
खुलता, अब अंचल, नाथ, पौर साड़ी का।'

ऐसी विकट परिस्थिति में स्वयं को असमर्थ पाकर वह मन-ही-मन कृष्ण को पुकारती है, जिन्होनें भरी सभा में द्रौपदी के लाज की रक्षा की थी। नारी पर लगने वाले 'अकलम' को रोकने और लाज के भूषण को बचाने की क्षमता केवल 'मर्यादा पुरुषोत्तम' (जो आज तुलसीदास के आचरण में दिखाई नहीं पड़ रहा है।) के पास ही है। तुलसीदास को भोजन कराकर रत्नावली की भाभी उन्हें शयन के लिए कमरे की तरफ ले जाती हैं। शयन-कक्ष में आज तुलसीदास को रत्नावली का एक अलग ही रूप दिखाई पड़ता है- क्षोभ और आक्रोश से भरा हुआ –

'कवि रुचि में घिर छलकता रुचिर
जो, न था भाव वह छवि का स्थिर
बहती उल्टी ही आज रुधिर-धारा वह,
लख-लख प्रियतम-मुख पूर्ण इंदु
लहराया जो उर-मधुर सिंधु
विपरीत ज्वार, जल बिन्दु-बिन्दु द्वारा वह।'

तुलसी की कल्पना में रत्नावली का जो रूप हुआ करता था, आज वह वास्तव में था नहीं। तुलसीदास को आज उसकी आँखों में प्रेम का वह स्थिर भाव दिखा नहीं बल्कि – 'बहती उल्टी ही आज रुधिर-धारा वह।' तुलसीदास के यूँ अप्रत्याशित ससुराल पहुँचने पर अपने प्रति उनके प्रेम को असाधारण मानकर वह प्रसन्न तो हुई लेकिन भाभी के व्यंग्य ने उसकी धार विपरीत कर दी। प्रिय के मुखरूपी चंद्र को देखकर उसके हृदय में प्रेम का जो ज्वार उठा था, वह जल के बिन्दु-बिन्दु में बिखर गया।

तुलसीदास रत्नावली के इस नये रूप को देखते भर हैं, समझ नहीं पाते, उनके मन में अब भी रूप का आकर्षण बना हुआ है –

'उन्मुक्त-गुच्छ चक्रांक-पुच्छ,
लख नर्तित कवि-शिखि-मन समुच्च
वह जीवन की समझा न तुच्छ छलना वह।'

तुलसीदास का मन रूपी मयूर उस मेघमाला को देखकर अपना चक्रांकित पुच्छ खोले जोरों से नृत्य कर रहा था। वह यह न समझ पाया कि जो वह देख रहा है, वह सत्य नहीं बल्कि जीवन द्वारा किया जाने वाला छल है। यहाँ दो परस्पर विरोधी परिस्थितियों और भावों का चित्रण कर निराला ने यह प्रमाणित कर दिया कि –"उनका दृष्टिकोण एक दार्शनिक या उपदेशकवाला न था, जो मनुष्य के मन में प्रवेश कर उसकी स्थिति को समझने की कोशिश नहीं करता और सिर्फ उपदेश अथवा निर्देश दिया करता है। निराला कवि थे, वे रत्नावली और तुलसीदास दोनों के मन में प्रवेश कर दोनों की स्थिति को

समझते हुए, दोनों के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करते हुए, अपनी बात कहते हैं।"[13]

एक तरफ पत्नी-प्रेम के मोह-पाश में बंधा तुलसीदास का चंचल, परवश मन तो दूसरी तरफ उन्हें इस मोह-पाश से मुक्त करने को प्रतिबद्ध रत्नावली के विराट-दिव्य योगिनी रूप का यह चित्र देखें –

'बिखरी छूटीं शफरी अलकें,
निष्पात नयन-नीरज पलकें,
भावातुर पृथु उर की छलकें उपशमिता;
निःसंबल केवल ध्यान-मग्न
जागी योगिनी अरूप-लग्न
वह खड़ी शीर्ण प्रियभाव-भग्न निरुपमिता।'

रत्नावली के बिखरे हुए चंचल बाल खुल गए हैं, पलकों ने गिरना बंद कर दिया। भावातुर हृदय की धड़कने शांत हो गई। वह सत्य की साधना में लीन सिर्फ ध्यानास्थ है। उसने प्रिय के साकार भाव को समाप्त कर 'योगिनी' ('जागी योगिनी अरूप-लग्न') रूप धारण कर लिया है, जहाँ रूप पीछे छूट जाता है और अरूप से मन लग जाता है। उसके इस रूप की तुलना दूसरे किसी चीज से नहीं दी जा सकती। इसलिए कवि ने उसे 'निरुपमिता' कहा। निश्चित-रूप से स्त्री-जागरण का यह चित्र सम्पूर्ण आधुनिक काव्य में दुर्लभ है। यह एक सुखद विडम्बना है कि जिस पत्नी–प्रेम के मोह ने तुलसीदास को उनके कर्तव्य-पथ से विचलित कर दिया था, उसी पत्नी का तेजोदीप्त व्यक्तित्व उन्हें ऊर्ध्व दृष्टि प्रदान करता है। अपने विराट-दिव्य रूप में रत्नावली पति को प्रबोधित करती हुई कहती है-

'धिक! धाए तुम यों अनाहूत,
धो दिया श्रेष्ठ कुल-धर्म धूत
राम के नहीं, काम के सूत कहलाए
हो बिके जहाँ तुम बिना दाम,
वह नहीं और कुछ हाड़-चाम
कैसी शिक्षा, कैसे विराम पर आए ?'

यह 'अस्थि चर्ममय देह मम, तामें ऐसी प्रीति' का नया संस्करण है, कथा वही है। रत्नावली ने तुलसीदास से कहा कि तुम बिना आमंत्रण के दौड़े हुए ससुराल चले आए। ऐसे प्रेम (आसक्ति व मोह से ग्रसित) पर धिक्कार है। तुमने आपने आचरण से अपने श्रेष्ठ और पवित्र-कुल-धर्म को नष्ट कर दिया। कहाँ तुम्हें 'राम के रथ का सारथी' होना चाहिए था और तुम 'काम के रथ के सारथी' बन गए हो। रत्नावली के द्वारा कहे गए एक-एक शब्द बिजली की स्थिर चमक के समान थे- 'अपचल ध्वनि की चमकी चपला।' बिजली तो चमक-कर लुप्त हो जाती है, लेकिन रत्नावली का कथन 'बिजली की स्थिर कौंध' की तरह था। वह अबला इस समय एक साथ शक्ति, लक्ष्मी और सरस्वती का रूप प्रतीत होती है। रत्नावली के इस नये दिव्य-विराट रूप पर नन्दकिशोर नवल ने लिखा –"नारी का यह तेजस्वी मूर्ति रूप सम्पूर्ण छायावाद में कहीं नहीं मिलता। जैसे प्रेमचंद को स्वाधीन, स्वावलंबी और स्वाभिमानी नारियाँ पसंद थी, वैसे ही निराला को भी।'तुलसीदास' की रत्नावली के आगे 'तुमुल कोलाहल-कलह में हृदय की बात' वाली श्रद्धा की मूर्ति बहुत फीकी लगती है। मनु को नापसंद करते हुए भी वह उनके आगे हमेशा दब्बू बनी रही, जबकि रत्नावली तुलसीदास से पूरी बुद्धि और विवेक के साथ विस्मयजनक दृढ़ता और कठोरता से पेश आई। उसने जो कहा, वह अपनी सटीकता और बेधकता के कारण हिन्दी-क्षेत्र में प्रचलित हो चुका है ।"[14] यह पूरा प्रसंग कोरे देहवादियों पर तीखा व्यंग्य है। इस तरह की विराट कल्पना 'राम की शक्तिपूजा' में 'पर्वत में पार्वती की अवतारणा' द्वारा उद्‌भूत हुई है।

रत्नावली का यह कहना था कि तुलसीदास का वह संस्कार, जिसे थोड़े दिनों के लिए कामभाव ने आच्छादित कर लिया था, बहुत ही तीव्र शक्ति के साथ जग पड़ा। उसमें उनका काम-भाव शीघ्रता से नष्ट हो गया। अब उन्हें रत्नावली 'वामा' यानी मनोहारिणी स्त्री के रूप में नहीं, बल्कि अग्नि-प्रतिमा के रूप में दिखलाई पड़ी। अब उन्हें अपने चारों ओर ज्ञान का प्रकाश दिखलाई पड़ता है-

'देखा, शारदा नील-वसना
हैं सम्मुख स्वंय सृष्टि-रसना ,
फूटीतर अमृताक्षर-निर्झर ,
वह विश्व हंस है, चरण सुधर जिस पर श्री ।'

हमें यह ध्यान रखना होगा कि रत्नावली के प्रबोधन के केंद्र में केवल 'तुलसीदास' नहीं है बल्कि साहित्य और जीवन-संस्कृति की सम्पूर्ण परंपरा है। रामविलास जी के अनुसार- " रत्नावली में उनकी आसक्ति व्यक्तिगत कामुकता न होकर सामाजिक ह्रास का प्रतीक बन जाता है। रत्नावली के शब्दों में तुलसीदास को नहीं वरन साहित्य और संस्कृति की समस्त रीतिकालीन परंपरा को धिक्कारा गया है। उनके योगिनी रूप में मध्यकालीन नारी का नायिका-भेद वाला रूप जलकर भस्म हो गया।"[15] कामभाव के नष्ट होते ही तुलसीदास की दृष्टि 'सरस्वती' (दृष्टि से भारती से बंधकर, कवि उठता हुआ चला ऊपर') पर केन्द्रित हो गई, फिर तो उनका मन ऊपर उठने लगा, जैसे चित्रकूट में ऊपर उठा था। ऊपर केवल शून्य था। सारी द्वयता और बंधन मिट गए, शेष रह गया केवल आनंद –' आनंद रहा, मिट गये द्वंद , बंधन सब।' यह उनकी मुक्ति है- जैसे 'कामायनी' में मनु को नटराज के लोक में पहुँचकर मिलती है –'चेतनता एक विलसती, आनंद अखंड घना था'। जिस प्रकार कली में सौरभ स्थित होता है, उसी प्रकार ज्ञान उनके चित्त में स्थिर हो गया। जीवनबोध असीमता की लय को छूने लगा। तुलसीदास का यह जागरण सम्पूर्ण जगत को प्रभावित करने वाला है। जागरण के प्रभात का यह चित्र देखिए, जो कवि की मौलिक कल्पना से उद्‌भूत है- *'जागो जागो आया प्रभात,*
बीती वह, बीती अंध रात,
मुरता भर ज्योतिर्मय प्रपात पूर्वांचाल;
बांधों बांधों किसमें चेतन;
तेजस्वी, है तमजि जीवन ,
आती भारत की ज्योति धन महिमा बल।'

ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि भारत का सांस्कृतिक जागरण इन शब्दों में समाहित हो गया है। कवि कहता है कि जगो, काली रात बीती, अब सुबह हो गई। उदयाचल से ज्योति

का झरना झर रहा है। अंधकार पर विजयप्राप्त करने वाले, तुम तेजस्वी हो, इन चेतना की किरणों को समेट लो। भारत की महिमा और बल से युक्त ज्योति का अवतरण हो रहा है। तुलसीदास का यह जागरण उनके लिए हर्ष का विषय था, जो भारत में भारतीय संस्कृति पर इस्लामिक संस्कृति के प्रसार से दग्ध होकर निश्चल पड़े थे- *'सुना उर ऋषियों का ऊना*
सुनता स्वर, हो हर्षित, दूना,
आसूर भावों से जो भूना, था निश्चय।'

क्योंकि तुलसीदास की यह जागृत अवस्था उन्हें पुन: सांस्कृतिक-संघर्ष के लिए प्रेरित करती है और इस बार विजय सुनिश्चित है। जड़ और चेतन के संघर्ष में चेतन की विजय को कवि ने पूरे आत्मविश्वास से अंकित किया है-

'होगा फिर से दुर्धर्ष समर
जड़ से चेतन का निशिवासर,
भारती इधर, है उधर सकल
जड़ जीवन के संचित कौशल
जय इधर, ईश, हैं उधर सबल माया- कर।'

एक तरफ 'देश काल के शर से विंधा' चेतित कवि तुलसीदास और उनकी सहायक सरस्वती तथा दूसरी तरफ सम्पूर्ण भौतिक जीवन के कौशल यानी माया। ईश (हिन्दू-संस्कृति) और माया (मुस्लिम संस्कृति) की इस लड़ाई में विजय निश्चय ही परमात्मा की होनी है। यह विजय जातीय जीवन में आए विखराव को दूर कर उसे पूर्णता प्रदान करेगी और उसकी खोयी हुई पहचान वापस दिलाएगी। निराला ने तुलसीदास के माध्यम से 'कवि कर्म की चरम परिणति' को यहाँ प्रस्तुत किया है – *'हो रहे आज जो खिन्न खिन्न*
छुट-छुटकर दल से भिन्न-भिन्न
वह अकल–कला, गह सकल छिन्न,
जोड़ेगी, रविकर ज्यों बिन्दु-बिन्दु जीवन
संचित करता है वर्णन,
लहरा भव- पादप, भर्षण- मन भोड़ेगी।'

कवि कहता है कि – 'आज समाज में जो बिखराव आ गया है, तुलसीदास की पूर्णकला उस बिखराव को दूर करेगी, समाज के विभिन्न खंडों को जोड़कर उसे पूर्णता प्रदान करेगी। जैसे सूर्य की किरणें समुद्र से बूंद-बूंद जल संचित कर वर्षा कराती हैं, वैसे ही तुलसीदास की कला भव-पादप यानी समाज को हरा-भरा बना देगी। लोग अन्याय के प्रति सहिष्णु हो गए हैं, उधर से उनका मन फेरकर उनमें प्रतिरोध की क्षमता उत्पन्न करेगी'।

रत्नावली से धिक्कार के बाद तुलसीदास रत्नावली से अपने जीवन की अंतिम बात कहते हैं-

'जगमग जीवन का अंत्य भाष
जो दिया मुझे तुमने प्रकाश,
अब रहा नहीं लेशावकाश रहने का
मेरा उससे गृह के भीतर,
देखुंगा नहीं कभी फिरकर,
लेता मैं, जो वर जीवन-भर बहने का'।

अर्थात जो प्रकाश मैंने तुमसे पाया है, उसके बाद अब गृहस्थ-जीवन में टिके रहने का लेश-मात्र भी अवकाश नहीं। मैं अब घर छोड़ने और जीवन- पर्यंत सन्यासी की तरह भ्रमण करते हुए जीवन व्यतीत करने का व्रत लेता हूँ। अब मैं इस रास्ते कभी न लौटूँगा। यह कहकर वे दृढ़ संकल्प और स्थिर चित्त के साथ, कमरे से बाहर आ गए और पाया कि रत्नवाली में जिस सरस्वती की छवि को उन्होनें देखा था, वह सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त है। अंत में वे कहते हैं-

'चल मंद चरण आये बाहर,
उर में परिचित वह मूर्ति सुधर
जागी विश्वाश्रय महिमाधर, फिर देखा –
संकुचित, खोलती श्वेत पटल
बदली, कमला तिरती सुख-जलष
प्राची-दिगंत-उर में पुष्कल रवि-रेखा।'

भारतीय नभमण्डल में छाया सांस्कृतिक अंधकार नष्ट हुआ, अब पूर्व दिशा में भारतीय संस्कृति का अरुणोदय हो रहा है। 'कमला' विजय-श्री का संकेत है।

यह कविता भारतीय संस्कृति पर इस्लामिक संस्कृति के विजय के साथ शुरू होती है और इस्लामिक संस्कृति पर भारतीय संस्कृति की विजय और उसकी पुन:प्रतिष्ठा के साथ खत्म। इस कविता में निराला ने लोकजीवन में प्रचलित तुलसीदास के जीवन के विविध प्रसंगों को लेते हुए, अपनी विराट कल्पना और मौलिक प्रतिभा के बलबूते इस सांस्कृतिक विजय को भारतीय-जीवन के सत्य के रूप में देखने का प्रयास किया है। मध्यकाल में जिस कार्य को (जातीय जीवन को उदात्त सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों के द्वारा एक सूत्र में बांधने का सफल प्रयास) तुलसीदास ने अपनी रचना 'रामचरितमानस' के माध्यम से करने का प्रयास किया , वही प्रयास आधुनिक युग में निराला अपनी रचना 'तुलसीदास' के माध्यम से करते हैं। न केवल 'तुलसीदास' बल्कि उनकी कविता 'शिवाजी का पत्र' और 'राम की शक्तिपूजा' में भी इसी सांस्कृतिक क्षय की चिंता और उसके पुर्नउद्धार और प्रतिष्ठा का प्रयास दिखाई पड़ता है। इस संदर्भ में दूधनाथ सिंह का कहना है कि –" जिस सांस्कृतिक क्षय की चिंता निराला को 'शिवाजी के पत्र' में सालती है, वही 'सांस्कृतिक अंधकार' के रूप में 'तुलसीदास' में भी व्यक्त हुई है। 'शक्तिपूजा' में 'दुर्गम-पर्वत पर नैशांधकार' के रूप में वही चिंता (व्यक्तिगत कवि-जीवन से भी उसका घनिष्ट संबंध है) उतरती है। 'शिवाजी का पत्र' में जिसके घातक आक्रमण को निराला ने- 'मोगल-दल- विगलित-बल /हो रहे हैं राजपूत /बाबर के वंश की / देखो राज-लक्ष्मी / प्रखर से प्रखरतर दीखती' कहकर व्यक्त किया है, उसे ही 'तुलसीदास' कविता में – मोगल-दल-बल के जलद-यान / नीचे प्लावन की प्रलय-धार, ध्वनि हर-हर'। और 'शक्तिपूजा' में - 'राक्षस पदतल पृथ्वी टलमल' में भी आसुरी संस्कृति के प्रसार की झंकार है। शिवाजी संस्कृति के वैसे ही रक्षक-प्रतीत होते हैं, जैसे 'तुलसीदास' में 'तुलसी' और 'राम की शक्तिपूजा' में 'राम'। लेकिन इन तीनों चरित्रों के भीतर से निराला स्वयं अपने कवित्व और कवि-जीवन द्वारा संस्कृति की रक्षा का बीड़ा उठाते हुए लगते हैं। सांस्कृतिक अंधेरे के भीतर से जैसे शिवाजी 'प्राची के भाल पर स्वर्ण-सूर्योदय' देखने की परिकल्पना करते हैं, उसकी तरह 'तुलसीदास' में तुलसी 'प्राची दिगंत-उर में पुष्कल रवि-रेखा' देखते हैं और 'राम की शक्तिपूजा' में ' होगी जय, होगी, हे

पुरुषोत्तम नवीन' कहकर उसी सांस्कृतिक सूर्योदय की कल्पना करते हैं।"[16] निश्चित रूप से निराला के साहित्यिक मूल्यांकन में हम उनके इस सांस्कृतिक-विजन को देखना नहीं भूल सकते, जो उनकी रचनाओं में कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में विद्यमान है।

'तुलसीदास' कविता निराला के निर्माण-कौशल का उत्कृष्ट उदाहरण है। यह एक ऐसा काव्य-प्रयास है, जिसकी पुनरावृत्ति संभव नहीं। सौ बंद की इस लंबी प्रबंधात्मक कविता में 'स्थापत्य की पूर्णता' और 'सुगठित काव्य शिल्प' कवि-प्रतिभा के अतिरिक्त उसके अथक प्रयास (जैसे कोई मजदूर छह घंटे भट्टी के पास तपकर निकला हो) का परिणाम है। नवल जी के अनुसार – " निराला ऊटपटाँग लिखते हैं, उन्हें छंद शास्त्र का ज्ञान नहीं है, वह बंगला कविताओं से भाव उधार लेकर रचना करते हैं – यह प्रचार तो उनके कवि जीवन के आरंभ में ही शुरू हो गया था!"[17] इन सारे आरोपों का मुंहतोड़ जवाब देती है, उनकी यह रचना। लेकिन इसके बावजूद उनकी इस रचना को कभी 'अपेक्षाकृत अधिक पांडित्य और परिश्रम का परिणाम' मानकर तो कभी भाषा की क्लिष्टता, अर्थ की दुरूहता और इस्लाम का विरोध देखकर किनारे कर दिया जाता है। इसमें कोई दो राय नहीं की 'तुलसीदास' निराला की एक कठिन रचना है, जो अपने पाठकों से थोड़े-से अधिक परिश्रम और साहित्यिक रुचि के परिष्कार की मांग करती है। इस संदर्भ में डॉ. रामविलास शर्मा का कहना है कि – " निराला की कविता सहज सुबोध नहीं है। इसका कारण भाषा की क्लिष्टता नहीं है, भाव की गहराई, व्यंजना का बाँकपन, शब्दों की ध्वनि और छंद की लय का अनूठापन भी इसका कारण है। थोड़ा परिश्रम करने पर जैसे मिल्टन के उदात्त काव्य का रस मिलने पर उसके आगे अन्य कवियों की रचनाएँ फीकी लगती हैं, वैसे ही निराला-काव्य का एक बार रस मिलने पर दूसरे कवि कम अच्छे लगेंगे। काव्य की परख जितनी निखरेगी उतनी ही दिन-प्रतिदिन निराला का काव्य आपको अधिक रुचेगा और क्रमश: आपका जीवन-साथी बन जाएगा।"[18]

जहां तक इस कविता में इस्लाम के विरोध की बात है; तो हमें यह ध्यान रखना होगा कि कवि ने जिस मध्यकालीन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को इस कविता का कथानक बनाया है, वह तात्कालीन जीवन का सत्य है। हम जानबूझकर उस सत्य से मुँह नहीं मोड़ सकते। यह कौन नहीं जनता कि मुगल भारत में किस मानसिकता से आए थे। जाहिर सी बात है हाथों में फूलों की माला लिए शांति का संदेश देने तो नहीं आए थे, और न ही उत्कृष्ट कला-साहित्य और संस्कृति का पाठ पढ़ाने। उनका मुख्य उद्देश्य भारत-भूमि पर एकछत्र राज और अपनी सभ्यता और संस्कृति का प्रसार करना था। हिन्दू-मुस्लिम भाई-भाई, गंगा-जमुनी संस्कृति या पारस्परिक प्रेम व सौहाद्र बनाए रखना आज के भारतीय जीवन की परिपाटी है, तब की नहीं थी। तब वह हमारे लिए विदेशी आक्रांता ही थे। इसलिए निराला के दृष्टिकोण को हिंदुत्ववादी या सांप्रदायिक समझना बहुत बड़ी भूल होगी। बल्कि यह एक साहसिक कवि-कर्म है, जिसमें किसी भी प्रकार की लीपापोती करने या उस सत्य से बच निकलने की जरूरत नहीं है। इस संदर्भ में नन्द किशोर नवल ने बड़ी ही सार्थक टिप्पणी की है- " निराला का दृष्टिकोण न तो हिंदुत्ववादी है, न सांप्रदायिक, इसलिए उनके इस्लाम विरोध या वेदान्त-चर्चा से बचकर निकलने की आवश्यकता नहीं। अपने संप्रदायमुक्त दृष्टिकोण का परिचय उन्होनें 'महाराज शिवाजी का पत्र' नामक अपनी कविता में ही दे दिया था, जो कि मिर्जा जयसिंह के नाम लिखे गए शिवाजी के कथित छंदोबद्ध फारसी पत्र का हिन्दी रूपांतर है। मूलपत्र में शिवाजी कहते हैं – 'बड़ा खेद तो यह है कि मुसलमानों का खून पीने के अतिरिक्त किसी अन्य कार्य के निमित्त मेरी तलवार को मियान से निकलना पड़े।' इसमें निराला को तीव्र सांप्रदायिक घृणा की अभिव्यक्ति दिखलाई पड़ी, इसलिए अपने रूपांतर में उन्होनें इस अंश को छोड़ दिया और उसकी जगह अंग्रेजी-साम्राज्यवाद का विरोध कर कविता को एक सामयिक संदर्भ देने का प्रयास किया। उनका दृष्टिकोण वही है, जो वस्तुत: तुलसीदास का था, या फिर विवेकानंद का- मानववादी।"[19]

इस प्रकार निराला की यह रचना हमारे सम्मुख है, जिसमें कवि-कर्म की उदात्त रूप-रेखा को प्रस्तुत कर यह बताने का प्रयास किया गया है कि कोरे कला-वैभव और तुक-बंदी से ऊपर उठकर कवि को अपनी सर्जना में विश्व-जीवन की चेतना को मुखरित करना है।

संदर्भ:

1. शर्मा, रामविलास, (2016*), निराला की साहित्य-साधना, भाग दो,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ सं.-146, 166
2. चतुर्वेदी, पं. ज्वालाप्रसाद संपादक, *रामचरितमानस,* मानस पारायण प्रचार मण्डल, बंबई-4, पृष्ठ सं. -14
3. सिंह, दूधनाथ, (2004), *निराला:आत्महंता आस्था,* लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ सं. -124-25
4. नवल, नन्दकिशोर (संपा), (2014), *निराला रचनावली, भाग-एक,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ सं. -28
5. नवल, नन्दकिशोर, (1997), *निराला: कृति से साक्षात्कार,* सारांश प्रकाशन, पृष्ठ सं.-102
6. शर्मा, रामविलास, (2016), *निराला की साहित्य-साधना,* भाग दो, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ सं. -535
7. सिंह, दूधनाथ, (2004), *निराला: आत्महंता आस्था,* लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ सं. – 128
8. नवल, नन्दकिशोर, (1997), *निराला: कृति से साक्षात्कार,* सारांश प्रकाशन, पृष्ठ सं.- 109
9. शर्मा, रामविलास, (2018), *निराला,* राधाकृष्ण प्रकाशन, पृष्ठ सं.- 93
10. सिंह, दूधनाथ, (2004), *निराला:आत्महंता आस्था,* लोकभारती प्रकाशन, पृष्ठ सं. – 129
11. नवल, नन्दकिशोर, (1997), *निराला: कृति से साक्षात्कार,* सारांश प्रकाशन, पृष्ठ सं.-116
12. खरे, डॉ. रेखा, (2015), *निराला की कविताएं और काव्य भाषा,* लोकभारती प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ सं.-159
13. नवल, नन्दकिशोर, (1997), *निराला: कृति से साक्षात्कार,* सारांश प्रकाशन, संस्करण: 1997, पृष्ठ सं.-131
14. वही, पृष्ठ सं. -132
15. शर्मा, रामविलास, (2018), *निराला,* राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ सं. -93
16. सिंह, दूधनाथ, (2004), *निराला:आत्महंता आस्था,* लोकभरती प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ सं. -102-03
17. नवल, नन्दकिशोर, (2012), *निराला-काव्य की छवियाँ,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ सं. -11-12
18. शर्मा, रामविलास, (2018), *निराला,* राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ सं. -161-62
19. नवल, नन्दकिशोर, (1997), *निराला: कृति से साक्षात्कार,* सारांश प्रकाशन, पृष्ठ सं. -139-40

राष्ट्रीय एकता का सवाल और अब्दुल बिस्मिल्लाह का लेखन

डॉ. नुसरत ज़बीं सिद्दीकी
सहायक प्रोफेसर, मिर्जा गालिब कॉलेज
मगध विश्वविद्यालय, गया

शोध सारांश:
हिन्दुस्तानी सभ्यता- संस्कृति के निर्माण में अलग- अलग जातियों, नस्लों, विभिन्न धर्मों एवं सम्प्रदायों का योगदान रहा है। इसीलिए भारतीय समाज की एक धर्म एवं संस्कृति पर आधारित किसी भी वस्तु का तसव्वुर नहीं कर सकते। अब्दुल बिस्मिल्लाह के कथा- साहित्य के पात्र समाज को धर्म, जाति, सम्प्रदाय एवं भाषा के नाम पर बाँटने वालों से लगातार जूझते हैं। एक तरफ वे अपने धर्म एवं समाज की रूढ़ियों, अंधविश्वासों, जड़ परम्पराओं एवं अशिक्षा के खिलाफ आवाज़ बुलंद करते हैं, तो दूसरी तरफ साम्प्रदायिक ताकतों से भी दो- दो हाथ करते हुए दिखाई देते हैं। सामासिक संस्कृति को बल देने का काम हमेशा से साहित्य करता रहा है। सामासिक संस्कृति की प्रतिक्रिया में संकुचित एवं संकीर्ण विचारों की वह धारा बह निकली जिसे साम्प्रदायिकता कहा गया। साम्प्रदायिक विचारधारा का उदय आधुनिक भारत में हुआ। भारत के इतिहास में आधुनिक काल से पहले साम्प्रदायिक दंगों का इतिहास नहीं मिलता है। अंग्रेजी शासक से पहले विभाजनकारी मानसिकता और बिखराव समाज में दिखाई नहीं देता है। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ब्रिटिश इतिहासकारों द्वारा भारत के इतिहास की साम्प्रदायिक व्याख्या की परम्परा ने दोनों समुदायों के बीच दूरी पैदा की। साम्प्रदायिकता का उदय और विकास ब्रिटिश शासकों की फूट डालो और राज करो की नीति के तहत हुआ था। वे साम्प्रदायिक ताकतों को इसलिए भी बढ़ावा देते थे; क्योंकि ये ताकतें राष्ट्रवादी और सामंतवाद विरोधी ताकतों को कमज़ोर करने में मदद करती थी। अब्दुल बिस्मिल्लाह ने अपने कथा साहित्य में उन साझे मूल्यों को भी चित्रित किया है जो भारतीय संस्कृति की विशेष पहचान है। इनके कथा- साहित्य में चित्रित सामाजिक सांस्कृतिक एकता, धार्मिक सहिष्णुता के जरिए सामाजिक समरसता को मजबूती प्रदान की गई है। इनके कथा-साहित्य के चरित्र भारतीय संस्कृति की सामासिकता के पक्षधर के रूप में उभरते हैं, तथा साम्प्रदायिकता के खिलाफ लगातार जूझते हुए 'सेक्यूलिरिज्म' को एक नारे के तौर पर नहीं बल्कि जीवन जीने की शैली के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

बीज शब्द :
साझी विरासत, संकीर्णता, साम्प्रदायिकता, प्रेम, धर्मनिरपेक्ष, राष्ट्रीय प्रणाली, प्राचीन सभ्यताओं, सत्ता पक्ष, सामासिक संस्कृति, लोक जीवन, पहेलियों, मुकरियों, दोसुखनों, विचारधारा, विभाजनकारी मानसिकता, राष्ट्रवादी, सामंतवाद, धार्मिक सहिष्णुता, सामाजिक समरसता, धर्मान्तरण, अलगाववादी, अल्पसंख्यकवाद

अब्दुल बिस्मिल्लाह का सम्पूर्ण लेखन भारतीय सभ्यता- संस्कृति और उसकी साझी विरासत का प्रबल पक्षधर है। अब्दुल बिस्मिल्लाह अपने लेखन में हर तरह की संकीर्णता और साम्प्रदायिकता का विरोध करते हैं जोकि भारतीय समाज को धर्म, सम्प्रदाय, जाति एवं भाषा के आधार पर बाँटता है। संस्कृति का संबंध कभी भी किसी एक धर्म विशेष से नहीं होता, या यूँ कहे कि संस्कृति के प्रति शुद्धता का आग्रह एक मिथ्या धारणा है। संस्कृति को जो लोग एक धर्म विशेष से जोड़कर देखते हैं वास्तव में वे अपने राजनैतिक और आर्थिक हितों को पूरा करने के लिए समाज को बाँट रहे होते हैं। जब से धर्म सत्ता तक पहुँचने का माध्यम बन गया है, इस साझी संस्कृति को हाशिए पर धकेलने का प्रयास हो रहा है। ऐसी स्थिति में साहित्यकार की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है; क्योंकि इन ताकतों से लड़ने के लिए रचनाकार ही अपनी रचनाओं के माध्यम से समाज को वह ऊर्जा प्रदान करता है जिससे इन ताकतों को कमज़ोर किया जा सकता है। अब्दुल बिस्मिल्लाह का समग्र कथा साहित्य साम्प्रदायिक शक्तियों के विरुद्ध भारतीय जनसामान्य की मिली- जुली संस्कृति को इस तरह उजागर करती है कि उससे इन ताकतों को कमजोर करने का वैचारिक हथियार प्राप्त होता है। अब्दुल बिस्मिल्लाह संस्कृति से धर्म को दूर रखना चाहते हैं; क्योंकि उनका मानना है कि धर्म और जाति से राष्ट्र बहुत बड़ा होता है। हिन्दुस्तानी सभ्यता- संस्कृति के निर्माण में अलग- अलग जातियों, नस्लों, विभिन्न धर्मों एवं सम्प्रदायों का योगदान रहा है। इसीलिए भारतीय समाज की एक धर्म एवं संस्कृति पर आधारित किसी भी वस्तु का तसव्वुर नहीं कर सकते।

अब्दुल बिस्मिल्लाह के कथा- साहित्य के पात्र समाज को धर्म, जाति, सम्प्रदाय एवं भाषा के नाम पर बाँटने वालों से लगातार जूझते हैं। एक तरफ वे अपने धर्म एवं समाज की रूढ़ियों, अंधविश्वासों, जड़ परम्पराओं एवं अशिक्षा के खिलाफ आवाज़ बुलंद करते हैं, तो दूसरी तरफ साम्प्रदायिक ताकतों से भी दो- दो हाथ करते हुए दिखाई देते हैं। जमील, इकबाल, अली, पडरौना महाविद्यालय के प्रधानाचार्य बाबू साहब आदि चरित्र समाज में व्याप्त विसंगतियों और साम्प्रदायिकता के विरुद्ध संघर्ष करते हुए एक स्वस्थ समाज का निर्माण करना चाहते है जिसका आधार मानवीय प्रेम हो।

प्रेमचंद ने भी संस्कृति के सवाल पर उसे किसी धर्म विशेष से जोड़कर देखने का विरोध किया है। धर्म के रास्ते सत्ता तक पहुँचनेवालों की इस चालाकी को प्रेमचंद समझ रहे थे, इसलिए वह भारतीय जनता को आगाह करते हैं कि संस्कृति को सम्प्रदाय से जोड़कर न देखें। संस्कृति का संबंध कभी भी किसी एक धर्म या सम्प्रदाय से नहीं होता है, बल्कि संस्कृति अपने स्वभाव एवं परम्परा से ही धर्मनिरपेक्ष होती है। "संस्कृति राष्ट्रीय वस्तु है, धार्मिक नहीं है। और नई परिस्थितियाँ अंतराष्ट्रीय जाति विभाग का ही विकास कर रही हैं। पूर्वकाल में भी भिन्न-भिन्न संस्कृतियों का एक दूसरे पर असर पड़ता था, लेकिन राष्ट्रीय प्रणाली ही प्रधान रहती थी। भारत, ईरान, चीन आदि प्राचीन देशों में ऐसा ही हुआ है।"[1]

तमाम प्राचीन सभ्यताओं वाले देशों में जैसा कि प्रेमचंद कहते हैं कि अलग- अलग संस्कृतियों के वजूद में रहने से राष्ट्रीय प्रणाली का महत्त्व कम नहीं होता है, बल्कि वह हमेशा महत्त्वपूर्ण रही है। भारत भी एक ऐसा देश है जिसमें अलग- अलग संस्कृतियों का वजूद शताब्दियों से रहा है। इतिहास गवाह है कि हमेशा से इन संस्कृतियों के वजूद, इनके मिले- जुले स्वरूप को नुकसान पहुँचाने की साजिश सत्ता पक्ष या फिर सत्ता तक पहुँचने के अभिलाषी लोगों ने किया है। अब्दुल बिस्मिल्लाह अपने कथा- साहित्य में समाज और राजनीति के इस यथार्थ को बड़ी बेबाकी से प्रस्तुत करते हैं। सामासिक संस्कृति को बल देने का काम हमेशा से साहित्य करता रहा है। अमीर खुसरो ने भारत में रहकर संस्कृत भाषा का ज्ञान प्राप्त किया, अरबी- फारसी में वे परांगत थे, उन्होंने इन भाषाओँ के साथ भारत के लोक जीवन को जोड़ने की परम्परा में अपनी पहेलियों, मुकरियों और दोसुखनों में जिस भाषा का प्रयोग किया है, उससे हमें खड़ी बोली हिन्दी के प्रारम्भिक रूप का दर्शन होता है, जोकि संस्कृति की सामासिकता एवं संस्कारों के मिले-जुले स्वरूप का मजबूत साक्ष्य है। केवल अमीर खुसरों ही नहीं बल्कि भक्तिकाल के कबीर, जायसी, रसखान जैसे कवि इस सामासिक संस्कृति के प्रबल पक्षधर रहे हैं। इनके काव्य में मानव समानता की संस्कृति का बुलंद स्वर सुनाई देता है।

सामासिक संस्कृति की प्रतिक्रिया में संकुचित एवं संकीर्ण विचारों की वह धारा बह निकली जिसे साम्प्रदायिकता कहा गया। साम्प्रदायिक विचारधारा का उदय आधुनिक भारत में हुआ। अत: यह भी कहा जा सकता है कि भारत में साम्प्रदायिकता ब्रिटिश- शासन की उपज है। "अंग्रेज शासकों ने अपने आपको हिन्दू और मुसलमानों के मध्य खड़ा कर ऐसे साम्प्रदायिक त्रिभुज की रचना का निश्चय किया जिसके आधार बिन्दु वे स्वयं रहे।"[2] भारत के इतिहास में आधुनिक काल से पहले साम्प्रदायिक दंगों का इतिहास नहीं मिलता है। अंग्रेजी शासक से पहले विभाजनकारी मानसिकता और बिखराव समाज में दिखाई नहीं देता है। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ब्रिटिश इतिहासकारों द्वारा भारत के इतिहास की साम्प्रदायिक व्याख्या की परम्परा ने दोनों समुदायों के बीच दूरी पैदा की। हिन्दू पुनरुत्थानवादी भावना के तहत धार्मिक संकीर्णता, संस्कृति के प्रति शुद्धता का आग्रह, मुसलमानों को विदेशी जाति एवं नस्ल का घोषित करना, सम्पूर्ण मध्यकाल के योगदान को नकारते हुए उसे अंधकार युग की संज्ञा देना, उर्दू को मुसलमानों की भाषा कहना एवं मंदिर- मस्जिद के विवादास्पद मुद्दों को बढ़ावा देना आदि ने भी साम्प्रदायिकता को विकसित किया। दूसरी तरफ सन् 1906 ई. में मुस्लिम लीग का जन्म, सन् 1909 ई. में मार्ले मिन्टो सुधारों के तहत साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति ने भी भारत को विभाजन की त्रासदी की ओर ले गया और आखिर में सन् 1940 ई. में जिन्ना ने 'द्विराष्ट्र सिद्धांत' दिया जिसके परिणामस्वरूप साम्प्रदायिकता का चरम बिंदु भारत विभाजन के रूप में सामने आया। "दोनों साम्प्रदायिकताएँ एक ही सिक्के के दो पहलू थे। साम्प्रदायिकता का उदय और विकास ब्रिटिश शासकों की फूट डालो और राज करो की नीति के तहत हुआ था। वे साम्प्रदायिक ताकतों को इसलिए भी बढ़ावा देते थे; क्योंकि ये ताकतें राष्ट्रवादी और सामंतवाद विरोधी ताकतों को कमज़ोर करने में मदद करती थी। हिन्दू और मुस्लिम साम्प्रदायिक दोनों एक- दूसरे की नकल थे और 1936 के बाद तो दोनों ने ही उस द्वि-राष्ट्र सिद्धांत का प्रतिपालन और प्रचार किया जिसकी वजह से आख़िरकार भारत का विभाजन हुआ।[3]

अब्दुल बिस्मिल्लाह ने अपने कथा साहित्य में मुस्लिम समाज के बाहरी एवं आंतरिक दोनों स्तर पर चल रहे संघर्ष को चित्रित किया है। एक तरफ यह समाज मुख्यधारा से जुड़ना चाहता है, अपने को उतना ही भारतीय साबित करना चाहता है जितना की इस देश का हिन्दू है। दूसरी तरफ इस समाज का एक तबका अशिक्षा, अंधविश्वास, रूढ़ियों, जड़ मान्यताओं से जकड़ा हुआ है। साथ ही साथ रचनाकार ने उन साझे मूल्यों को भी चित्रित किया है जो भारतीय संस्कृति की विशेष पहचान है। इनके कथा- साहित्य में चित्रित सामाजिक सांस्कृतिक एकता, धार्मिक सहिष्णुता के जरिए सामाजिक समरसता को मजबूती प्रदान की गई है। इनके कथा-साहित्य के चरित्र भारतीय संस्कृति की सामासिकता के पक्षधर के रूप में उभरते हैं, तथा साम्प्रदायिकता के खिलाफ लगातार जूझते हुए 'सेक्यूलिरिज्म' को एक नारे के तौर पर नहीं बल्कि जीवन जीने की शैली के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

भारत के गाँवों में सदियों से फल-फूल रही साझी संस्कृति का बड़ा ही सजीव चित्रण अब्दुल बिस्मिल्लाह के उपन्यास 'मुखड़ा क्या देखें' में हुआ है। उपन्यास का मुख्य

चरित्र अली चूड़िहार है। अली के पूर्वज तथाकथित निम्न जाति के हिन्दू थे। आत्म-सम्मान एवं सामाजिक बराबरी हासिल करने के ख्वाहिश के तहत ही उसके पूर्वज धर्मान्तरण कर मुसलमान बने, लेकिन उनके संस्कार, रीति-रिवाज एवं तौर- तरीके सभी कुछ भारतीय संस्कृति का ही हिस्सा है। अत: अली हर दृष्टि से भारतीय समाज एवं संस्कृति का अभिन्न हिस्सा है, लेकिन हिंदू समाज या यूं कहें कि गाँव के कुलीन व स्वर्ण समाज अली को सहज रूप से इस देश का नागरिक मानने से इंकार करता है। विभाजन के बाद भारत में ही रह गए मुसलमानों को बहुसंख्यक समुदाय संदेह की दृष्टि से देख रहा था। मुसलमानों को रामवृक्ष पांडे की सहज बुद्धि हिन्दुओं के बराबर का नागरिक मानने से इंकार कर रही थी। रामवृक्ष पांडे मुसलमानों को शक की दृष्टि से देखते हैं, उन्हें लगता है कि उनकी मुस्लिम प्रजा कहीं उनसे विरोध ना कर दें, "इस शुभ अवसर पर हलवाई आया, कोंहार आया, चमार और पासी आए, सिपाही नाऊ भी आया; मगर अली चूड़िहार क्यों नहीं आया? जरुर उस मुसल्ले का दिमाग खराब हो गया है। अब बन न गया पाकिस्तान, हिन्दुस्तान में जगह न मिली तो पाकिस्तान चले जाएँगे वरना एक प्रजा की यह मजाल, कि गाँव के प्रतिष्ठित ब्राह्मण की कन्या का शुभ विवाह हो और वह अनुपस्थित रहे। वाह रे गाँधी बाबा, खूब आज़ादी दिलाई है तुमने।"[4] रामवृक्ष पांडे की इस मानसिकता के खिलाफ अली मजबूती के साथ खड़ा है। भारतीय समाज एवं संस्कृति के वास्तविक स्वरूप को अली अपने धर्म व कर्म दोनों से ही स्थापित करता है। रामवृक्ष पांडे से मार खाकर इस अपमान को न सह पाने के कारण अली अपना वतन छोड़कर मध्यप्रदेश चला जाता है, लेकिन कुछ वर्षों के बाद अली को अपनी गलती का अहसास होता है और वह अपनी जमीन पर लौट आता है। सृष्टि नारायण पांडे जब अली को परेशान करता है तब अली पूरी मजबूती से ऐलान कर देता है कि यह गाँव और धरती उतनी ही उसकी है जितनी की किसी और की, "मगर ई सुन लिजिए महाराज, कि आप लोगन को चाहे हमारी जरूरत हो अऊर चाहे न हो, मुलाँ हम्में जरूरत है। आप लोगन को नहीं, ई गाँव की। ई धरती की। ई देस की। हम गलती पर ये महाराज कि आपके पिताजी की मार खाके भाग गए थे। मुलाँ अब हम कहीं नहीं जाएँगे। ई धरती में हमारी नार गड़ी है। ई धरती हमारी है। ई गाँव हमारा है। जहाँ हमारी नार गड़ी है, हुँवई लहास भी गड़ेगी।"[5] अब्दुल बिस्मिल्लाह के कथा-साहित्य के बहुत से पात्र पूरी मजबूती से साम्प्रदायिकता के खिलाफ खड़े दिखाई देते हैं। अब्दुल बिस्मिल्लाह स्पष्ट कर देते हैं कि हमेशा समाज का एक तबका इस धार्मिक संकीर्णता के बरअक्स मानवीय प्रेम को बेहतर साबित करता रहा है।

इसी प्रकार 'आधा गाँव' उपन्यास में राही स्पष्ट कर देते हैं कि गंगौली के मुसलमान ना तो पाकिस्तान बनने के पक्ष में थे और ना ही पाकिस्तान जाने के, उनकी दुनिया तो गंगौली ही थी। फुन्नन मियां, मिगदाद, हकीम साहब, अब्बू मियां, तन्नू, कम्मों आदि चरित्र पूरे उपन्यास में पाकिस्तान के घोर विरोधी के रूप में उभरते हैं। पूरे उपन्यास में फुन्नन मियाँ एक सशक्त पात्र के रूप में आते हैं जिनकी आत्मा गंगौली में बसती है। फुन्नन मियाँ मुस्लिम लीगियों के पाकिस्तान बनाने के तर्क को एक झटके में ख़ारिज कर देते हैं, "कहीं इस्लाम है कि हुककूमते बन जैयहे! ऐ भाई, बाप दादा की कबुर हियाँ है, चौक इमाम बाड़ा हियां है, खेती-बाड़ी हियां है । हम कीनों बुरबक हैं कि तोरे पाकिस्तान जिंदाबाद में फंस जाए।"[6] तन्नू भी पाकिस्तान बनने के प्रश्न पर गुस्से में कहता है कि, "खौफ की बुनियाद पर बनने वाली कोई चीज मुबारक नहीं हो सकती। पाकिस्तान बन जाने के बाद भी गंगौली यहीं हिंदुस्तान में रहेगा।"[7]

बदीउज्जाम ने भी 'छाको की वापसी' में भारतीय मुसलमानों के निम्नवर्गीय समाज पर पाकिस्तान का सवाल और उसके बनने के बाद जो त्रास स्थिति उत्पन्न होती है, उसे चित्रित किया है। पाकिस्तान के सवाल पर उसके समर्थन एवं विरोध में दी जाने वाली दलीलों को उपन्यासकार ने हबीब भाई और गाँधी भाई के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। इन दलीलों एवं बहसों के जरिए उपन्यासकार ने विभाजन से पहले भारतीय समाज जिन दो विरोधी धड़ों में बंट गया था उसे स्पष्ट कर देता है। गाँधी भाई राष्ट्रवादी है और भारतीय मुसलमानों को भारतीय समाज का अभिन्न अंग मानते हैं, जबकि हबीब भाई जिन्ना के 'दो राष्ट्रों का सिद्धांत' का समर्थन करते हैं। गाँधी भाई हबीब भाई को समझाते हुए कहते हैं कि, "मियां भेड़ चाल चलने की कोशिश न करो। खुदा ने अक्ल और आँखें दी हैं। खुद सच्चाई तक पहुँचने की कोशिश करो नारों में कुछ नहीं रखा है । पाकिस्तान का ख्याल बहुत बड़ा फरेब है।"[8] हबीब भाई जब पूर्वी पाकिस्तान पहुँचते हैं तो उन्हें इस बात का अहसास होता है कि पाकिस्तान मुसलमानों के लिए फरेब के अलावा कुछ नहीं है, बंगाली मुसलमानों की बदसलूकी की वजह से उनका मोहभंग होता है। उपन्यासकार स्पष्ट करता है कि पाकिस्तान मुस्लिम अभिजात्य वर्ग ने अपने हितों को सुरक्षित रखने के लिए बनाया था, जहाँ पूरी कोशिश की गयी कि तथाकथित निम्नवर्गीय मुसलमान वहाँ न जा पाये। बदीउज्जाम इस तथ्य को एक बार फिर साबित करते हैं कि धर्म के आधार पर संस्कृति को विभाजित नहीं किया जा सकता। "यह एक बहुत तकलीफ़देह हकीकत है लेकिन है हकीकत की बिहारी मुसलमानों की बंगाली मुसलमानों के साथ गुजर नहीं हो सकती। बड़ा ही जानलेवा एहसास है यह कि हम जिन आदर्शों को सीने से लगाए हुए ये और जिनसे हमारे दिल और रूह को ताज़गी और सुकून मिलता था उन्होंने अचानक ही जहरीले साँपों की तरह हमें डसना शुरू कर दिया है। मैं सच कहता हूँ कि बिहार के हिन्दू इन बंगाली मुसलमानों से यकीनन बेहतर थे।"[9] 'काला जल' उपन्यास में शानी भी मोहसिन और बब्बन के द्वारा पाकिस्तान का सवाल सीमित दायरे में उठते हैं। शानी भी इस सच से रु-ब-रु कराते हैं कि भद्रवर्गीय मुसलमानों ने अपने वर्गीय हितों को साधने के लिए आम मुसलमानों का इस्तेमाल किया और यही सुविधा सम्पन्न वर्ग पाकिस्तान भी गया। मोहसिन के पाकिस्तान जाने की बात पर बब्बन उससे इस ज्वलंत प्रश्न को पूछता है कि, "पाकिस्तान पहुँचने के बाद भी

अगर तुम्हें लगा कि ठगे गए तो फिर कहाँ जाओगे-अरब या ईरान ?"[10] प्रो. इम्तियाज अहमद लिखते है कि, "सर्वविदित है कि देश का बँटवारा भारतीय मुसलमानों के लिए एक सदमें की तरह था। एक ओर बँटवारे ने उन्हें दो देशों में विभाजित कर दिया जबकि लगातार उनकी मान्यता यह थी कि वे एक कौम हैं। दूसरी ओर यद्यपि बँटवारे के निर्णय को आज़ादी संबंधी बातचीत में शामिल सभी पक्षों ने स्वीकार किया था, तथापि सिर्फ मुसलमानों को ही बँटवारे की जिम्मेदारी का भार उठाना पड़ा, जिसके कारण वे शक और नफरत का निशाना बनें।"[11] प्रो. इम्तियाज अहमद ने आज़ादी के बाद उभरी उस स्थिति को व्यक्त किया है, जिसने मुसलमानों को शक और नफरत का शिकार बनाया क्योंकि समस्त मुसलमानों को भारत के बँटवारे का जिम्मेदार माना जाने लगा।

अब्दुल बिस्मिल्लाह के उपन्यास 'अपवित्र आख्यान' का जमील इसी शक एवं नफरत का शिकार बनता है, साथ ही वह उस राजनीति से बचकर अपने लिए किसी 'कमफर्ट जोन' की तलाश नहीं करता, बल्कि शक और नफरत की राजनीति से जूझते हुए सामासिकता की धारा को मजबूत करना चाहता है। इस प्रक्रिया में उसे बहुसंख्यक राजनीति की संकीर्णता से जहाँ एक ओर हाशिए पर धकेलने का प्रयास होता है, वहीं दूसरी ओर अलगाववादी राजनीति उसे अपने आप में विलीन कर लेना चाहती है। जमील इन दोनों समाज को बाँटने वाली धाराओं से अलग हट के अपने वजूद को बनाए रखता है। अभय कुमर दुबे जमील के इस संघर्ष के संबंध में कहते हैं कि, "अल्पसंख्यकवाद और बहुसंख्यकवाद के रास्ते उसके और उसके समुदाय के लिए माकूल साबित नहीं होने वाले। इसलिए, भारतीय आधुनिकता की इन बेरहम हकीकतों से कतरा कर वह गंगा- जमुनी संस्कृति के ममता भरे दामन में सिर छिपा लेना चाहता है। मुश्किल यह है कि शहर में, जो आधुनिकता का थिएटर है, यह सांस्कृतिक साझेदारी उपलब्ध नहीं है। शहर सदियों पुरानी इस सामासिक निर्मिति से पल्ला छुड़ा कर अलग- अलग अस्मिताओं में रम चुका है।"[12] इसीलिए जमील का संघर्ष ज्यादा पेचीदा हो जाता है; क्योंकि उसे एक साथ कई मोर्चों पर लड़ना है। जमील अपनी शख्सियत को किसी मजहब या समुदाय की चौहद्दी के दायरे में नहीं रखना चाहता, बल्कि वह आज़ाद हिन्दुस्तान का आज़ाद बाशिन्दा बनना चाहता है, जिसके लिए रामचरितमानस और कुरान शरीफ दोनों ही महान रचनाएँ है। जो अपने को वेदों, उपनिषदों का उतना ही सहज उत्तराधिकारी मानता है जितना की कोई हिन्दू।

हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष मुख्यत: शहरों में केन्द्रित रहा है; क्योंकि राजनीति का केंद्र मुख्य रूप से शहर ही हुआ करते हैं। गाँव और कस्बे यदि राजनीति से प्रभावित भी हुए तो वहाँ सदियों से मिल-जुल कर रहने वाले हिन्दू- मुसलमानों ने अपनी साझी संस्कृति के विरासत को धर्म द्वारा संचालित राजनीति के तहत उसमें कड़वाहट को आने नहीं दिया है। 'दंगाई' कहानी का बसंतू शहर की सम्प्रदायिक सोच से ग्रसित होकर गाँव आता है और उसे गाँवों में फैलाना चाहता है, लेकिन गाँव में दोनों समुदाय एक- दूसरे के साथ मिल-जुल कर रह रहे थे। रामलीला के दौरान बशीर अहमद की आवाज़ माइक में गूंजती है जिसे सुनकर बसंतू विचलित हो जाता है। "भाइयों, हमारे गाँव के प्रधान श्री दयाशंकर पाण्डे ने हनुमान के पार्ट पर खुश होकर दो रुपया दिया है और हनुमान के पार्ट पर ही मौलवी जमालुद्दीन साहब ने एक रुपया इनाम दिया है। हमारी रामलीला कमेटी उन्हें तहेदिल से धन्यवाद देती है। बोलो भगवान श्री रामचंद्र की जय बोलो श्री लखनलाल की जय! सीता मैया की जय! पवन सुत हनुमान की जय।"[13] बसंतू समझ नहीं पाता कि आखिर इस गाँव में वह कैसे साम्प्रदायिकता के विष को घोले।

'आधा फूल: आधा शव' कहानी में कब्रिस्तान की जमीन को लेकर जो विवाद उठ खड़ा होता है। उसके निवारण के लिए, इस विवाद के शांतिपूर्ण हल के लिए जिस पंचायत का गठन किया जाता है, उसके सदस्य के तौर पर हिन्दू व मुसलमान दोनों सम्प्रदायों के तरफ से पडरौना महाविद्याल के प्रधानाचार्य बाबू साहब का नाम आता है। बाबू साहब का नाम आना यह साबित करता है कि दोनों समुदायों का विश्वास बाबू साहब में है। वह जो कुछ भी फैसला करेंगे वह निष्पक्ष एवं न्यायसंगत होगा। इस कहानी के माध्यम से अब्दुल बिस्मिल्लाह यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि सामासिकता की रक्षा का दायित्व अब समाज के बुद्धिजीवी तबके के हाथ में है। "बाबू साहब की आँखों से टपाटप आँसू बहने लगे। यह समूचा हिंदुस्तान पडरौना और बनारस की तरह का ही एक शहर है। शायद! और 'यह शहर आधा फूल में है, आधा शव में, आधा जल में है, आधा मन्त्र में।"[14]

अब्दुल बिस्मिल्लाह के कथा विवेचना के केंद्र में सामासिक संस्कृति को बचाए रखने का संघर्ष ही नहीं है, बल्कि कथाकार की दृष्टि समाज में संस्कार रूप में व्याप्त उन बिंदुओं पर भी है जहाँ सामासिकता स्पष्ट रूप से अपने पूरे सौन्दर्य एवं संस्कार बोध के साथ उपस्थित है। सामासिकता के लिए जमील, इक़बाल, अली चूड़िहार, बाबू साहब इत्यादि पात्रों का संघर्ष निराशा भाव का बोध नहीं कराता, बल्कि यह पात्र उन शक्तियों का पूरे हौंसले के साथ मुकाबला करते हुए दिखते हैं जोकि सामासिकता को नुकसान पहुँचाने के फिराक में हैं। सामासिक संस्कृति के तत्व भारतीय सामाजिक व्यवस्था में इस प्रकार से घुले-मिले हैं कि इनको किसी भी शुद्धतावादी आग्रह के तहत अलगा कर के नहीं देखा जा सकता। इसी सामासिकता के तहत रामलीला के लिए धनुष का निर्माण मुस्लिम सिपाही नाऊ का परिवार करता है। जिसके लिए कोई मेहनताना नहीं लेता है; क्योंकि उसके लिए यह धर्म का काम है, और "धरम के काम में पइसा लेना सत्तर गुनाह के बरोबर है।"[15] इसी भावना के तहत जब जब्बार मौलवी की मृत्यु होती है तब रामलीला का हारमोनियम बंद हो जाता है। धन की देवी लक्ष्मी को खुश करने के लिए रनिया दीवाली की रात में अपने चूड़ियों वाली भौकी के पास दिया जलाती है और लक्ष्मी के खुश होने की प्रार्थना करती है, "लच्छ्मी खुश तो जहान खुश। इतना तो करना ही होगा। फिर जमजुतिया का मेला भी तो है। लच्छ्मी खुश रहेंगी तो मेला ठीक-ठाक हो जाएगा।"[16] 'अपवित्र आख्यान' में भी राबिया देवी

दीवाली की रात चूल्हे और दरवाजे पर दीया जलाती है तो जमील मुस्कुरा देता है। सिपाही नाऊ, रनिया, राबिया देवी इनके लिए मजहब कट्टरता नहीं है, वह हिन्दू व मुसलमान जैसे कटघरों में बंटा हुआ नहीं है। इसलिए अब्दुल बिस्मिल्लाह के यह पात्र उस साझी संस्कृति के विरासत को सम्भाले हुए हैं, जो आधुनिकता की चमक में और अलग- अलग अस्मिताओं के संघर्ष में लुप्त हो रही है। आचार्य नरेंद्र देव के अनुसार- "पंडितों की पाठशाला और विद्वानों की गोष्ठी में तथा तीर्थों में यह उदार भाव नहीं मिलेगा। यदि उसे देखना है तो अनपढ़ ग्रामीणों के खेतों और चौपालों में देखिए।"[17]

विभिन्न धर्मों, जातियों, समुदायों एवं सामाजिक हैसियत में फर्क के बावजूद ग्रामीण जीवन का साझापन एक-दूसरे के रिश्ते को इस कदर जोड़े रखता है कि सभी एक-दूसरे के दुख से दुखी और एक- दूसरे के सुख से प्रसन्न होते है। 'अपवित्र आख्यान' में जमील का ससुराल ऐसा ही गाँव है, जहाँ हमारी साझी संस्कृति की निर्मल धारा बह रही है। राबिया पूरे गाँव की बिटिया है, सबकी जीजी है, मोहन उसका भैया है और मोहन के दादा उसके भी बाबा है। यहाँ धर्म मानवीय प्रेम में कहीं भी बाधक नहीं बनता। यही वह साझी विरासत है जिसके तहत श्यामू भैया का तिलक- बरच्छा राबिया जीजी के बिना अधूरा है। जहाँ मजहब दिलों के बीच दूरी नहीं पैदा करता, बल्कि सह-अस्तित्व की भावना पैदा करता है, जहाँ दोनों समुदाय के लोग एक दूसरे के बिना अधूरे है। "कउन राबिया? ननकऊ केर बिटिया? तोर छोटकी दीदी ?" बाबा के चेहरे पर बाल सुलभ मुस्कान बिखरी।

"हाँ बाबा।"

"मोर बिट्टो कहाँ है ?" बाबा तड़पे।

तब सिर पर आँचल ठीक करती हुई, आगे बढ़कर, रनिया ने बाबा के पाँव छू लिए। बाबा ने अंदाज से रनिया के सिर पर अपना हाथ रख दिया। "जुग-जुग जिया बिटिया। दूधो नहाव, पूतो फलो।" तभी लड़कियों का एक झुंड भीतर से बाहर आया और एक शोर उठा, "श्यामू भैया, दीदी, जीजा जी, कहाँ हैं आप लोग? आप लोगन की वजह से सब नेगचार रुका पड़ा है। रनिया तो अपने श्यामू भैया और बुलाने आई लड़कियों के साथ भीतर चली गई, मगर जमील पास खड़े कटहल के पेड़ के पास जाकर उसके तने से लिपट गया और फूट- फूटकर रोने लगा।"[18] जमील इसलिए रोता है; क्योंकि यह सामासिकता समाज के हाशिए पर धकेली जा रही है। आधुनिक समाज जिसमें साम्प्रदायिक ताकतों एवं विभिन्न अस्मिताओं के सवाल की होड़ में यह मिली-जुली संस्कृति अपनी पहचान खो रही है। अभय कुमार दूबे लिखते हैं कि, "जमील इसलिए रो रहा है कि शहर में अब ये सम्भावनाएँ नहीं रही, क्योंकि ग्रामों में जिस संस्कृति के अवशेष जिन्दा है उसका अभिजन तो वह हिंदू-मुस्लिम भद्र वर्ग या जिसकी संरचना सोलहवीं सदी के उदार मुगल शासन से लेकर अवध के शिया नवाबों की हुकूमत के बीच धीरे-धीरे परवान चढ़ी थी। यह अभिजन अब खत्म हो चुका है। हिन्दुओं और मुसलमानों के अलग-अलग अभिजन बन चुके हैं।"[19]

निष्कर्ष :

अंततः कह सकते हैं कि अब्दुल बिस्मिल्लाह के कथा-साहित्य के चरित्र सच्चे अर्थों में सामासिकता को परिभाषित करते हैं। एक ऐसा आदर्श समाज निर्मित करते हैं जिसमें हिंदू-मुसलमान दोनों परस्पर एक दूसरे पर निर्भर है और एक दूसरे के बगैर अधूरे भी। अनेक भिन्नताओं, कड़वाहटों के बावजूद इन उपन्यासों के पात्र एक दूसरे के काम आते हैं, संकट के दौरान मदद करते हैं, और जरूरत पड़ने पर जान देने को भी तैयार रहते हैं। ये पात्र साझी परम्परा एवं संस्कृति की विरासत की नींव मजबूत करते हुए एक धर्मनिरपेक्ष व लोकतांत्रिक राष्ट्र को रचते हैं।

संदर्भ :

1. सिंह, प्रो. कुंवरपाल, (2006), *राही और उनका रचना संसार,* शिल्पायन, दिल्ली, पृष्ठ संख्या -8
2. दीक्षित, प्रभा, (1980), *साम्प्रदायिकता का ऐतिहासिक संदर्भ,* मैकमिलन प्रकाशन, पृष्ठ संख्या -52
3. चंद्रा, विपिन, (2006), *साम्प्रदायिकता: एक परिचय,* दिल्ली इतिहासकार ग्रुप की तरफ से द्वितीय संस्करण , पृष्ठ संख्या -79
4. बिस्मिल्लाह, अब्दुल, (1996), *मुखड़ा क्या देखें,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या-27
5. वही, पृष्ठ संख्या-221
6. रजा, राही मासूम, (1985), *आधा गाँव,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला पेपर बैक, पृष्ठ संख्या-79
7. वही, पृष्ठ संख्या-256
8. बदीउज्ज़मा, (1985), *छाको की वापसी,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली पहला पेपर बैक, पृष्ठ संख्या-79
9. वही , पृष्ठ संख्या-155
10. शानी, (1991), *काला जल,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, चौथा पेपर बैक, पृष्ठ संख्या-311
11. सं. राजकिशोर, (2004), *भारतीय मुसलमान: मिथक और यथार्थ,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या-34
12. दुबे, अभय कुमार, (2008), *हंस,* राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या-74
13. बिस्मिल्लाह, अब्दुल, (2001), *रैनबसेरा,* राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ संख्या-52-53
14. बिस्मिल्लाह, अब्दुल, (2017), *अतिथि देवो भव,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या-117
15. बिस्मिल्लाह, अब्दुल, (1996), *मुखड़ा क्या देखें,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या-168
16. वही, पृष्ठ संख्य- 113
17. वर्मा, केशव चंद, *भारतीय की पहचान,* लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या-26
18. बिस्मिल्लाह, अब्दुल, (2008), *अपवित्र आख्यान,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या-154
19. हंस, अगस्त 2008, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या-79